श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

श्री राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका

१

"आहोरी" टीका लेखक

ज्योतिषाचार्य मालवरत्न

मुनिराज श्री जयप्रभ विजयजी 'श्रमण'

सम्पादक :- पं. रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

व्याकरण • काव्य • न्याय • साहित्यतीर्थ

ॐ ह्रीं

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन पुष्प-१

...श्री आचाराङ्ग सूत्रम्...

श्री शीलाङ्काचार्य विरचित वृत्ति की

श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका

भाग-१

हिन्दी टीका लेखक

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति जैनाचार्य

श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

के शिष्यरत्न

ज्योतिषाचार्य, मालवरत्न

शासनदीपक, ज्योतिषसम्राट शिरोमणी

मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी महाराज "श्रमण"

: सम्पादक :

पण्डितवर्य श्री रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

व्याकरण, काव्य, न्याय, साहित्य तीर्थ

अहमदाबाद.

आगम

श्री आचाराङ्गसूत्र
राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका

-: हिन्दी टीका लेखक :-

ज्योतिषाचार्य मालवरत्न
मुनिराजश्री जयप्रभ विजयजी "श्रमण"

-: सम्पादक :-

पण्डितवर्य श्री रमेशचन्द्र एल. हरिया

-: सहयोगी सम्पादक :-

मालवकेशरी
मुनिराजश्री हितेशचन्द्रविजयजी "श्रेयस"
मुनिराजश्री दिव्यचन्द्रविजयजी "सुमन"

-: प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान :-

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(१) श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा
देरासर सेरी, पो. आहोर, जि. जालोर (राज.)

(२) राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय
पो.ओ. मोहनखेडा तीर्थ पेढी
वाया राजगढ, जि. धार, (मध्यप्रदेश)

(3) पं. रमेशचंद्र एल. हरिया
3/११, वीतराग सोसायटी,
पी. टी. कोलेज रोड, पालडी,
अमदावाद-3८०००७

-: मुद्रक :-
दीप ओफसेट
पाटण (उ.गु.)
फोन : ०२७६६ - २४७६६

मूल्य : १२५ मात्र...

-: कम्प्युटर :-
मून कम्प्युटर
पाटण (उ.गु.)
फोन : ०९८२५२ ५८३४२

श्री गोडी पार्श्वनाथ भगवान

"आहोर" बावन जिनालय मन्दिरजी के मूलनायकजी

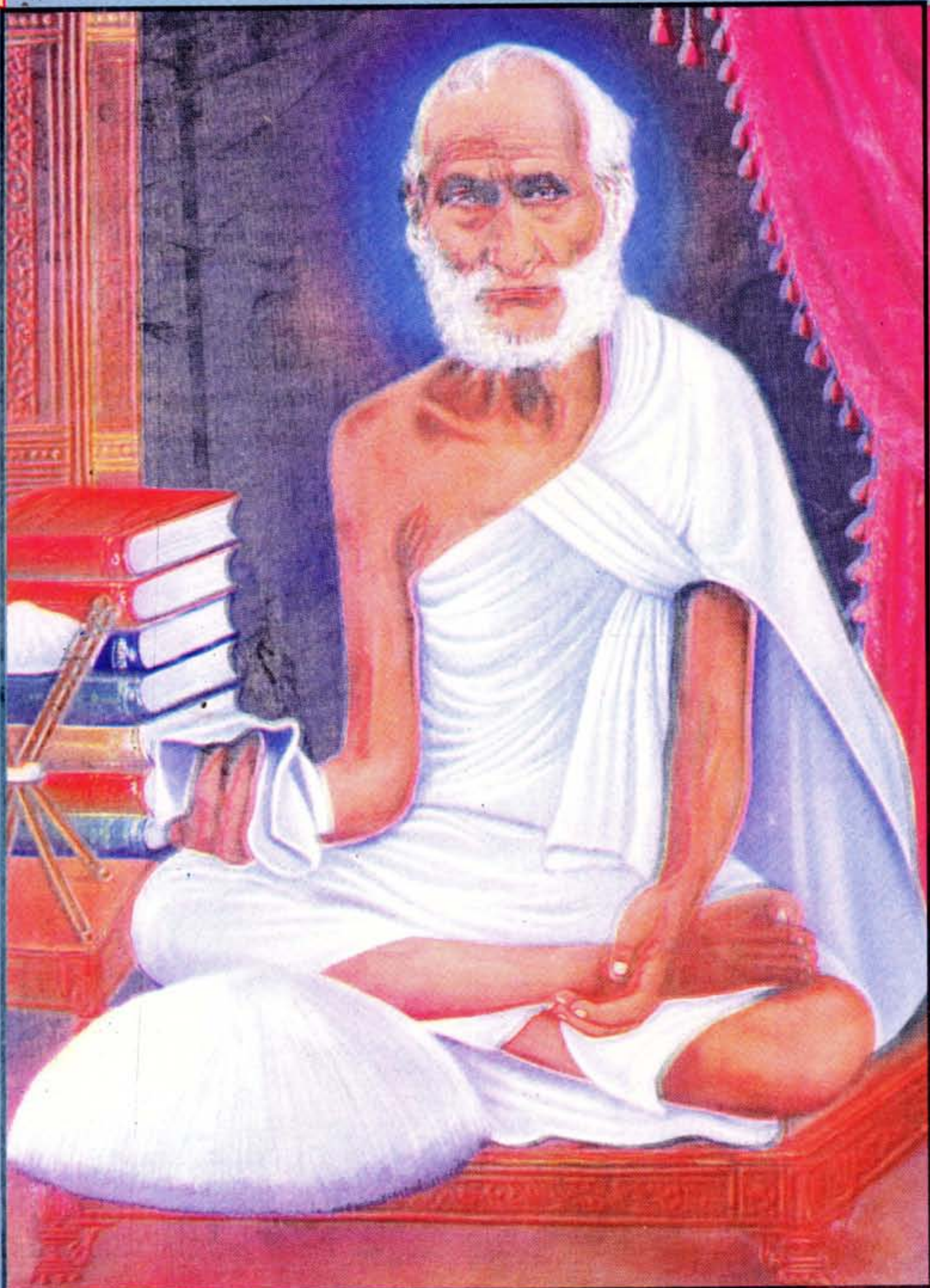

विश्वपूज्य प्रभु
श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

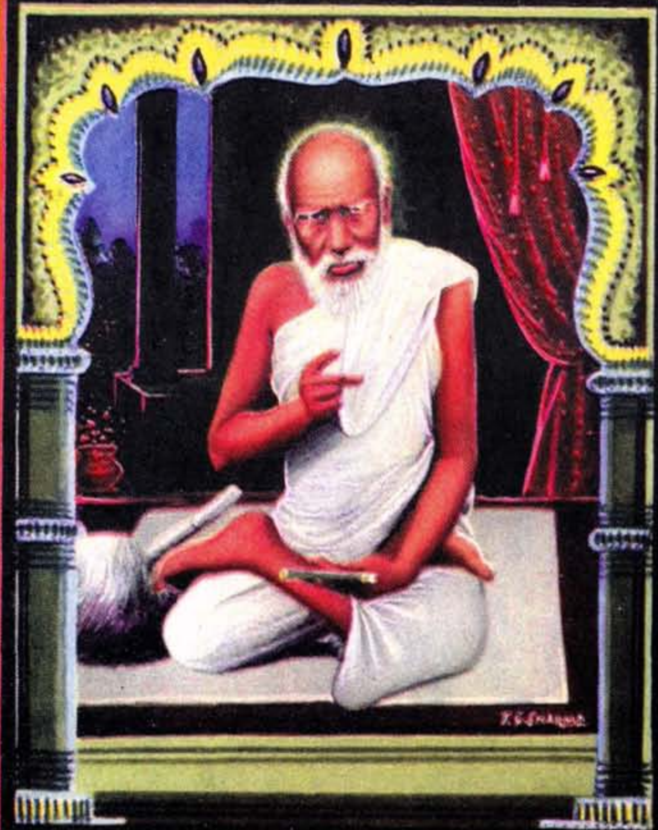

श्रीमद् विजय धनचन्द्र सूरीश्वरजी

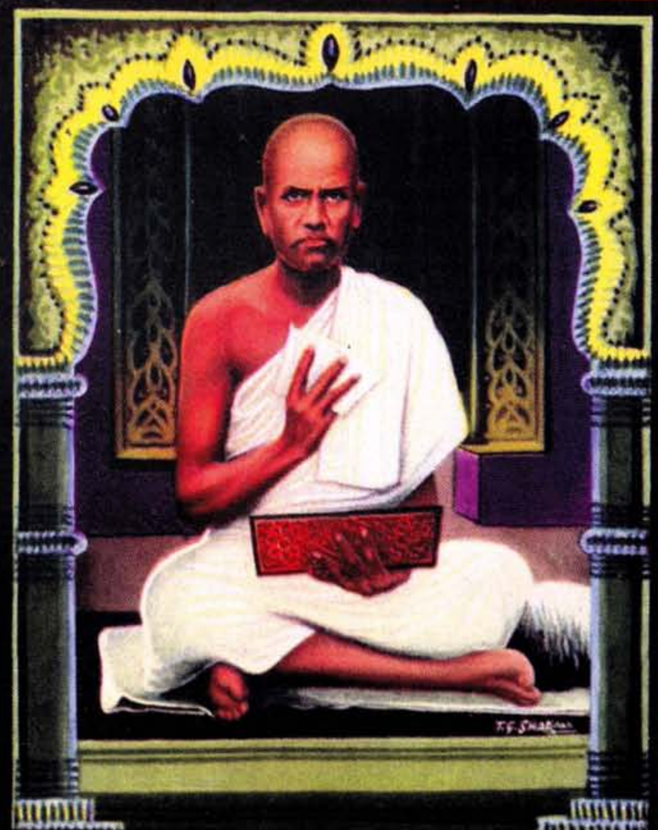

श्रीमद् भूपेन्द्र सूरीश्वरजी

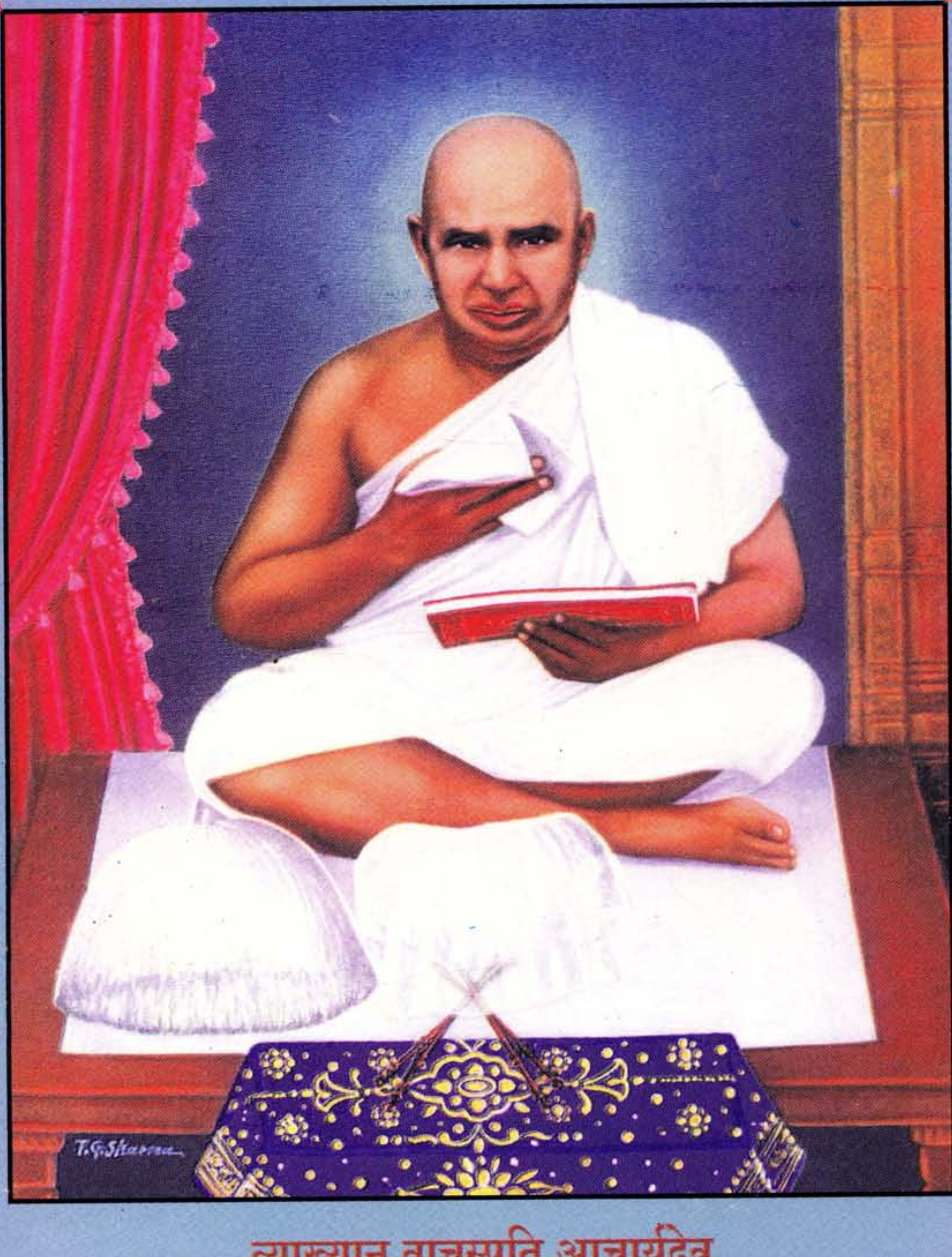

व्याख्यान वाचस्पति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

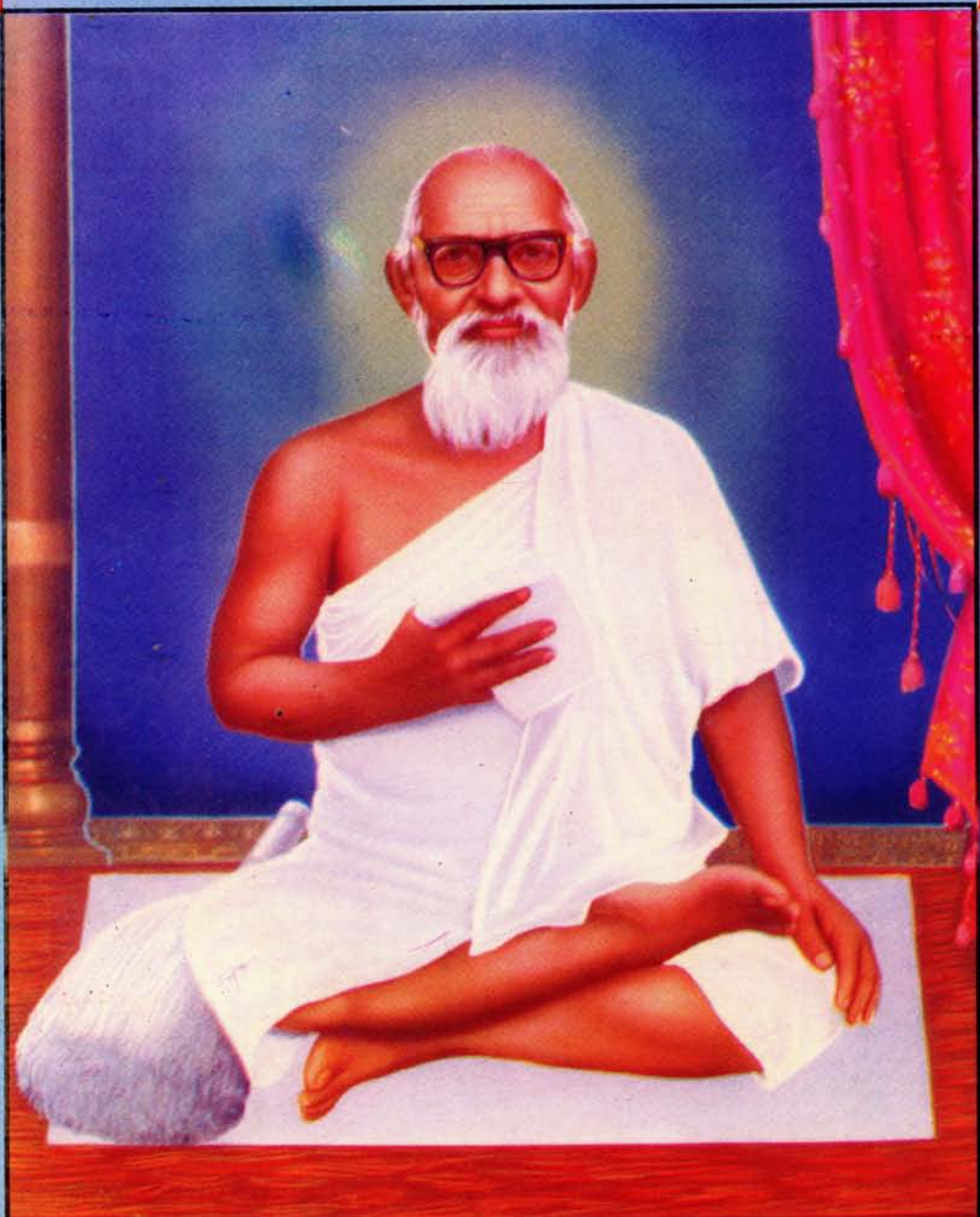

श्रीमद् विजय यतीन्द्र सूरीश्वर पट्ट प्रभावक कविरत्न
श्रीमद् विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

परम पूज्य शासन प्रभावक कविरत्न जैनाचार्य
श्री श्री श्री १००८ श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के पट्ट प्रभावक

परम पूज्य राष्ट्र सन्त शिरोमणि गच्छाधिपति

श्रीमद् विजय हेमेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

श्री जिन वाणी आगम हिन्दी टीका प्रकाशन में

सर्वोच्च द्रव्य सहयोगी

महानुभावो की स्वर्णिम नामावली

-: महास्तम्भ :-

१ ठाकुर श्री महिपालसिंहजी पृथ्वीसिंहजी चौपावत

ह : श्रीमती प्रफूलाकुंवर धर्मपत्नी पृथ्वीसिंहजी, आहोर

सरपंच महोदया ग्राम पंचायत, आहोर

२ स्व. श्रीमती ओटीबाई फूलचन्दजी हणवन्त गौत्रीय, आहोर

ह : सुपुत्री प्यारीबाई लालचन्दजी वागरेचा, आहोर

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

श्री जिन वाणी आगम हिन्दी टीका प्रकाशन में

श्रेष्ठ सहयोगी द्रव्य से बननेवाले

महानुभावो की स्वर्णिम नामावली

: स्तम्भ :

१ मुथा अमीचन्दजी की स्मृति में पुखराज जावन्तराज भंवरलाल किरणराज नेनचन्द फूटरमल रमेशकुमार गौतमचन्द बाबुलाल जयन्तीलाल कैलाशकुमार महावीर चन्द्र बेटा पोता जुहारमल भूराजी वागरेचा परिवार, आहोर...

२ मुथा भीमराजजी बाबुलाल प्रकाशचन्द्र महेन्द्रकुमार राजेशकुमार अंकीतकुमार आशान्तकुमार बेटा पोता केसरीमेलजी वागरेचा, ह: श्रीमती पानीबाई वागरेचा, आहोर...

3 स्व. श्रीमति भागवतीबाई की स्मृति में शाह पारसमल भंवरलाल जयन्तीलाल विनोदकुमार राजेन्द्रकुमार उत्तमकुमार प्रवीणकुमार महावीरकुमार बेटा पोता रिखवचन्दजी नथमलजी, आहोर...

४ श्रीमति सुमटीबाई धर्मपत्नी घेबरचन्दजी बाफना पुत्र विमलकुमार कीर्तिकुमार रोहितकुमार बेटा पोता मुथा घेबरचन्दजी जेठमलजी, आहोर...

५ बाफना मुथा रमेशकुमार दीपककुमार हरेशकुमार अमनकुमार कृषांगकुमार बेटा पोता सुमेरमलजी सुखराजजी, हः श्रीमती भागवन्ती बाई, आहोर...

६ बाफना मुथा हस्तिमल मदनराज रमेशकुमार राजेन्द्रकुमार जितेन्द्रकुमार भरतकुमार अभिषेककुमार ऋषभकुमार सुशीलकुमार बेटा पोता भबुतमल कुसलराजजी, हः श्रीमती मोहनबाई, आहोर...

७ बाफना मुथा जयन्तीलाल गौतमकुमार हरिशकुमार राजेन्द्रकुमार आकाशकुमार अक्षयकुमार अमरकुमार जींकिकुमार बेटा पोता पुखराजजी वनराजजी, श्रीमती फेन्सी बाई स्मृति में, आहोर...

८ शाह रिखबचन्दजी ताराचन्दजी वाणिगोता, श्रीमती शान्तिदेवी वाणीगोता, आहोर...

९ बाफना मुथा डा. चम्पालाल मदनलाल संजयकुमार आनन्दकुमार सुशीलकुमार विजयकुमार विशालकुमार गौतमकुमार बेटा पोता मिश्रीमलजी सूरजमलजी, हः श्रीमती लीलादेवी शान्तिदेवी, आहोर...

१० फोलामुथा हिराचन्द नथमल प्रकाशचन्द नरेशकुमार बेटा पोता भगवानजी गुलाबचन्दजी, हः मोहनीदेवी, आहोर...

११ वजावत स्व. मुकनचन्दजी एवं घेबरचन्दजी के स्मृति में पारसमल कामराज रमेशकुमार अशोककुमार मनोजकुमार राजेन्द्रकुमार रविकुमार विजयकुमार धर्णेन्द्रकुमार यतीन्द्रकुमार, हः श्रीमती गटुबाई वजावत, आहोर...

१२ कटारिया संघवी जयन्तीलाल किशोरकुमार प्रवीणकुमार बेटा पोता भगवानजी थानमलजी, हः मोहनीबाई, आहोर...

१३ नागोरी मूलचन्दजी की स्मृति में शान्तिलाल बाबुलाल मोहनलाल अशोककुमार संजयकुमार विजयकुमार अजयकुमार मितेशकुमार मनीशकुमार जयकुमार कीर्तिकुमार अंकितकुमार अक्षयकुमार बेटा पोता सुमेरमलजी चुनिलालजी, हः हंजाबाई, आहोर...

१४ नागोरी भेरुलाल मयंककुमार भुवनकुमार बेटा पोता भंवरलालजी मिश्रीलालजी, हः पानीबाई, आहोर...

१५ दांतेवाडीया मुथा कानराज सूरजमल जयन्तीलाल भंवरलाल शान्तिलाल नेमिचन्द नरपतराज विनोदकुमार विक्रमकुमार मनोजकुमार चेतनकुमार सन्दीपकुमार

श्रीपालकुमार भावेशकुमार निलेशकुमार जवेरचन्द विरलकुमार विजयकुमार राजेन्द्रकुमार बेटा पोता तेजराजजी हिराचन्दजी, हः श्रीमती बदामीबाई, आहोर...

१६ मातुश्री बदामबाई की स्मृति में पुत्र नेणावत भवरलाल कीर्तिकुमार किशोरकुमार विनोदकुमार बेटा पोता प्रतापचन्दजी गुलाबचन्दजी, आहोर...

१७ कंकु चोपडा मुन्निलाल चम्पालाल जुगराज बाबुलाल त्रीकमचन्द जयन्तीलाल कान्तिलाल अमृतकुमार विनोदकुमार महेन्द्रकुमार नेमिचन्द रमणकुमार अशोककुमार फूटरमल बेटा पोता पुखराजजी केसरीमलजी चौपडा, आहोर...

१८ शाह शान्तिलाल मांगीलाल अशोककुमार ललितकुमार राजेन्द्रकुमार दिनेशकुमार विक्रमकुमार निखिलकुमार अंकितकुमार राहूलकुमार आशीषकुमार अक्षयकुमार यक्षकुमार आयुषकुमार बेटा पोता लक्ष्मणराजजी श्रीश्रीमाल विजयगोता, आहोर...

१९ स्व. नेणमलजी की स्मृति में सुमेरमल शेषमल रमेशकुमार किशोरकुमार मनीशकुमार संजयकुमार राजकुमार अमनकुमार बेटा पोता फूलचन्दजी कपुरचन्दजी नेणावत पोरवाल, हः सोहनीबाई, आहोर...

२० कोठारी वस्तिमलजी की स्मृति में गुलाबचन्द शान्तिलाल अशोककुमार रमेशकुमार ,महावीरकुमार विनोदकुमार राजेन्द्रकुमार बेटा पोता छगनराजजी हः मोहनीदेवी, आहोर...

२१ वागरेचा कुन्दनमल सुरेशकुमार जगदीशकुमार बेटा पोता मिश्रीमलजी जुहारमलजी, हः फेन्सीदेवी वागरेचा, आहोर...

२२ शाह भेरुलाल नरपतराज राकेशकुमार मनीशकुमार जीतेन्द्रकुमार सुमयकुमार बेटा पोता फतेहचन्दजी छोगाजी श्रीश्रीमाल, हः हिराबाई, आहोर...

२३ मातुश्री जडावीबाई के विविध तपाराधना के उपलक्षमें उद्यापन की स्मृति में पुत्र डा. रणजीतमल कान्तिलाल, किरणराज अशोककुमार किशोरकुमार महावीरकुमार बेटा पोता छगनराजजी नगराजजी वजावत, आहोर...

२४ शाह निहालचन्द शीवलाल घेवरचन्द झुमरलाल मोतीचन्द बेटा पोता छगनराजजी ताराचन्दजी छाजेड परिवार, आहोर...

२५ स्व. गौतमचन्द वागरेचा की स्मृति में पिता पुखराज मातुश्री शान्तिदेवी, बहिन शोभा, सुमित्रा, पत्नि त्रिशला, सुपुत्र श्रेन्की, सुमित, पुत्री स्वेता, बडेभ्राता फुटरमलजी भाभी वसन्तीदेवी, भतिज मनीष, मितेष भतिजी रंजना, प्रियंका, लघुभ्राता महावीरचन्द धर्मपत्नी विद्यादेवी, पुत्र राहुल, पुत्री रिंजल, आहोर...

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

श्री जिन वाणी आगम हिन्दी टीका प्रकाशन में

प्रशंसनीय द्रव्य सहयोगी बनने वाले

महानुभावो की स्वर्णिम नामावली

: संरक्षक महोदय :

१ श्री त्रिस्तुतिक ज्ञान खाते से ह : महिला मण्डल, आहोर...

२ स्व. भबुतमलजी जावन्तराजजी की धर्मपत्नी जड़ावीबाई व पुत्र पौत्र सुमेरमल महेन्द्रकुमार जितेन्द्रकुमार सम्यककुमार एवं अशोककुमार जीतपाल, रौनककुमार पुत्र पौत्र हिराचन्दजी पोरवाल, आहोर...

3 मातुश्री श्रीमती धापुबाई की स्मृति में, शाह कुशलराज सन्दीपकुमार शीवलाल बेटा पोता मियाचन्दजी कातरगोता, आहोर...

४ वजावत फतेचंद, रूपराज भंवरलाल विमलचंद शान्तिलाल कान्तिलाल जयंतिलाल कमलचंद्र कीर्तिकुमार, आहोर. गुरु द्रव्यसे

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

श्री जिन वाणी आगम हिन्दी टीका प्रकाशन में

अनुमोदनीय सुकृत द्रव्य के सहयोगी

महानुभावो की स्वर्णिम नामावली

-: सुकृत सहयोगी :-

१ नागोरी प्रभुलाल भरतकुमार नरेशकुमार सुभाषकुमार बेटा पोता जेठमलजी, आहोर...

२ मूथा शेषमल अशोककुमार कुषलराज राठोर बेटा पोता मगनाजी, आहोर...

3 शाह पारसमल विनोदकुमार कमलेशकुमार भरतकुमार वाणिगोता बेटा पोता अचलराजजी, आहोर...

४ मुथा पारसमल सरदारमल रमणलाल बेटा पोता मुथा चन्दनमलजी वनराजजी, आहोर...

५ श्रीमति गुलाबीदेवी धर्मपत्नी शाह चम्पालालजी वाणिगोता, आहोर...

६ स्व. रेखा बहिन सांकलचन्दजी ढड्ढा, आहोर...

: महास्तम्भ :

श्री ठाकुर पृथ्वीसिंहजी नरपतसिंहजी चौपावत
आहोर (राजस्थान)
जन्म : ई.सं. १९४९ स्वर्गवास : ई.सं. ५-५-१९८१

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

आपके पूवर्ज श्री यशवन्तसिंहजी हुए जिन्होने सं. १९२३ वैशाख सुदि ५ के रोज परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ कल्प भट्टारक श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी का श्रीपूज्य पदवीका महोत्सव करके छडी चामर भेट कर आहोर ठिकाने से श्रीपूज्यपद का महत्त्व दिया, जिन्हो के आत्मज श्री लालसिंहजी हुए इनके आत्मज श्री भवानीसिंहजी हुए जिनके शासनकाल में वि. सं. १९५५ फागण वद ५ गुरुवार को राजस्थान में सर्व प्रथम भव्य अंजनशलाका महोत्सव के आयोजक बाफना गोत्रीय जसरुपजी जितमलजी मुथा की और से ९५१ जिनबिंबोकी अंजनशलाका हुई, एवं श्री गोडी पार्श्वनाथ के परिसरमें बावन (५२) जिनालय में जिनबिंबो की प्रतिष्ठा सानंद संपन्न हुई, आपके सुपुत्र श्री ठाकुर रावतसिंहजी हुए, जिन्होने परम पूज्य व्याख्यान आगमज्ञाता आचार्यदेव श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. को सं. १९९५ वैशाख सुदि १० को आचार्यपद प्रदान किया गया उस मे सभी प्रकार से पूर्ण सहयोग श्री संघ आहोर को दिया । इन्हो के पुत्र श्री नरपतसिंहजी व श्री मानसिंहजी हुवे श्री नरपतसिंहजी के दत्तकपुत्र श्री पृथ्वीसिंहजी हुवे जिन का अल्प आयु में स्वर्गवास हो गया, इनके सुपुत्र श्री महिपालसिंहजी एवं श्री मानसिंहजी ने परम पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय हेमेन्द्रसूरीश्वरजी म. के सं. २०४० माघ सु. ९ को आचार्यपद प्रदान महोत्सव में आपके पूर्वजों के अनुरूप सम्पूर्ण सहयोग श्रीसंघ को दिया, श्रीपृथ्वीसिंहजी की धर्मपत्नी श्री प्रफुल्लकुंवरजी साहिब जो वर्तमान में आहोरनगर में ग्राम पंचायत की "सरपंच" है । जिन्होको धर्म तत्त्व जानने की बहुत ही जिज्ञासा रहती है । आपके पुत्र श्री महिपालसिंहजी दीर्घ आयु होकर समाज व नगर की सेवा करते हुवे आत्मोन्नति कर यशस्वी बने यही मंगल कामना ।

प्रस्तुति
शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा
श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
आहोर (राजस्थान)

महास्तम्भ

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन (राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ सौधर्म
बृहत्तपागच्छ नायक अभिधान राजेन्द्रकोष
लेखक भट्टारक प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी
महाराज की परमोपासिका

श्रीमती ओटीबाई फुलचंदजी
आहोर

आप आहोर: राज. निवासी श्री फुलचन्दजी की धर्मपत्नी है । आपके ऊपर वैधव्य योग आने पर आपने धर्माराधना में अधिक समय व द्रव्य खर्च करने में बिताया, आपने अपने गुरुणीजी श्री मानश्रीजी की शिष्या सरल स्वभावी त्यागी तपस्वी श्री हेतश्रीजी महाराज व परम विदुषी गुरुणीजी प्रवर्तिनीजी श्री मुक्तिश्रीजी आदि की प्रेरणा से संघ यात्राएं एवं धर्माराधना में समय - समय पर लक्ष्मी का सद्उपयोग करती रहती है । आपने अपने पति के नाम से श्री फुलचन्द्र मेमोरियल ट्रस्ट बनाकर आहोर में एक विशाल भूखण्ड पर श्री विद्या विहार के नाम से श्री (सहस्रफणा) पार्श्वनाथ भगवान का भव्य जिन मन्दिर एवं जैनाचार्य सौधर्मबृहत्तपागच्छ नायक कलिकाल सर्वज्ञ अभिधान राजेन्द्र कोष के लेखक स्वर्णगिरि, कोरटा, तालनपुर, तीर्थोद्धारक एवं श्री मोहनखेडातीर्थ संस्थापक भट्टारक प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की मूर्ति विराजित की । अपने धर्माराधना की प्रेरणा दात्री गुरुणीजी श्री हेतश्रीजी महाराज की दर्शनीय मूर्ति विराजित की ।

आहोर से जेसलमेर संघ बसो द्वारा यात्रा करवाई, आहोर से स्वर्णगिरि संघ निकालकर स्वर्णगिरि तीर्थ : (जालोर) : पर परम पूज्य आगम ज्ञाता प्रसिद्ध वक्ता मुनिराज श्री देवेन्द्रविजयजी महाराज से संघ माला विधि सह धारण की । समय - समय पर संघ भक्ति करने का भी लाभ लिया । श्री मोहनखेडा तीर्थाधिराज का द्वितीय जिर्णोद्धार परम पूज्य शासन प्रभावक कविरत्न श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरिश्वरजी महाराजने सं० २०३५ माघ सुदि १३ को भव्य प्रतिष्ठोत्सव किया था । उस समय श्रीसंघ की स्वामिभक्ति रूप नौकारसी की थी एवं सं० २०५० में परम पूज्य राष्ट्र संत - शिरोमणिगच्छाधिपतिश्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के समाधि मन्दिर व २५० जिनेन्द्र भगवान की प्राण प्रतिष्ठोत्सव पर संघ भक्ति में नौकारसी का लाभ लिया । तपस्या विशस्थानक तप की ओलीजी की आराधना श्री सिद्धितप, वर्षितप, श्रेणितप, वर्द्धमानतप की ओली, अट्ठाई, विविध तपस्या करके इनके उद्यापन भी करवाये ।

यात्राएं - श्री सम्मैतशिखरजी, पालीतणा, गिरनार, आबू, जिरावला पार्श्वनाथ, शंखेश्वर पार्श्वनाथ, नागेश्वर, नाकोडा लक्ष्मणी तालनपुर माण्डवगढ, मोहनखेडा, गोड़वाड़ पंचतीर्थी, करेड़ा पार्श्वनाथ, केसरियाजी आदि तीर्थो की तीर्थयात्रा कर कर्म निर्जरा की । इस प्रकार अनेक धर्मकार्यो में अपनी लक्ष्मी का सद्उपयोग किया । मुहूर्तराज ज्योतिष की पुस्तक के द्वितीय संस्करण में अपनी लक्ष्मी का दानकर पुण्योपार्जन किया । आपकी धर्म पुत्री अ. सौ. प्यारीबाई भी उन्हीं के मार्ग पर चलकर तपस्या एवं दान वृत्ति अच्छी तरह से करती रहती है ।

मुथा शान्तिलालजी वक्तावरमलजी

आहोर (राजस्थान)

: जन्म :

सं. १९९० कार्तिक वदि ८ दिनांक १२-१०-१९३३

: फर्म :

सेठ शान्तिलाल एण्ड कम्पनी

तनकू (आन्ध्र प्रदेश)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

मुथा जसरुपजी जितमलजी के वंशज ऐसे आप अपने जीवन में ज्ञानभक्ति साधर्मिक भक्ति एवं मुनि मण्डल व साध्वी मण्डल के सभी प्रकार की सेवा भक्ति में अग्रगण्य रहते हुए लाभ प्राप्त करते रहते है श्री मोहनखेडा तीर्थ जिर्णोद्धार की संपूर्ण देखरेख करते हुए जिन मन्दिर के खात मुहूर्त का लाभ प्राप्त किया एवं जालोर जिल्ला जैन संमेलन १९५६ में हुआ था उसमें व कलिकुंड तीर्थ से छरिपालक संघ में एवं परमपूज्य आचार्य श्रीमद् विजय हेमेन्द्रसूरीश्वरजी म. के आचार्यपद प्रदान महोत्सव में आदि उपरोक्त सभी समारोह में एवं नवकारशी करने का लाभ लेकर भक्ति का परिचय दिया ।

गुरुदेव आपश्रीको दीर्घ आयु प्रदान करे व आप इसी प्रकार चतुर्विध संघ की सेवा भक्ति करते यशस्वी जीवन जिए यही मंगल कामना ।

बारह व्रतधारी तपस्वी रत्ना

श्रीमती सुखीबाई शान्तिलाल मुथा
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

आपने अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य देव गुरु धर्मकी उपासना आराधना अर्चना का रखते हुवे जीवन को व्रत- नियम में रखने के निर्णय से बारह व्रत धारण करके उत्कष्ट तपस्या में लगाने के उद्देश्य से १२ वर्षीतप, मासक्षमण, श्रेणीतप, सिद्धि तप तीनो उपधान महातप, ५०० आयम्बिल, अट्ठाई, अट्ठम, छट्ठ उपवास आदि विविध तपो से आत्म भाव निर्मल करती हुई जीवन चर्या धर्माराधना मे ही व्यतीत करना लक्ष रहा है आपके तीनो पुत्र महावीर, धरणेन्द्र व यतीन्द्र पुत्री अ. सौ. विद्यादेवी व पुत्र वधुए मधुबाला, मैना,सुशीला, एवं पौत्र श्रेयांस, अजित, श्रेणिक, पक्षाल, अनंत, एवं पौत्री हेमलता, हीना, अनीला, प्रीती धर्मराधना मे सहभागी बनि रहती है ।

आपका जीवन दीर्घजीवी होकर देव गुरु की सेवा भक्ति सह तपस्या निर्विघ्नता से होती रहे यही शुभाकांक्षा ।

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्य सहयोगी

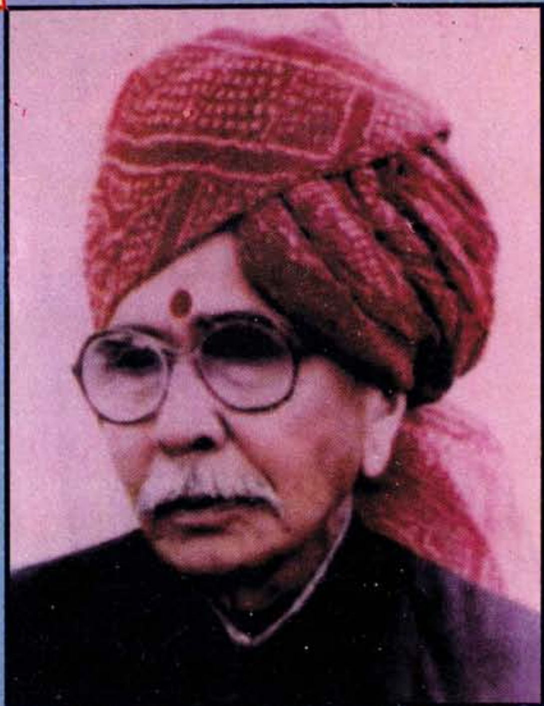

बाफना श्री घेवरचन्दजी जेठमलजी
आहोर (राजस्थान)
जन्म : वि.सं. १९७४ स्वर्गवास : वि.सं. २०४९
फर्म : सेठ घेवरचन्द ज्वेलर्स (आन्ध्र)

मरुधर के आहोर नगर मे परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ कल्प अभिधान राजेन्द्र कोष के निर्माता भट्टारक आचार्यदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शुभ करकमलो से सम्वत् १९५५ फागण वदि ५ गुरुवार को ९५१ जिन बिम्बो पर अपना नाम देनेवाले बाफना गौत्रीय मूथा श्री जसरुपजी जीतमलजी के वंशज एवं श्री मोहनखेडा तीर्थ ट्रस्ट के इ.सन् १९७५ से १९९१ तक उपाध्यक्ष पद पर रहे श्री घेवरचन्द्रजी की स्मृति में ह : श्रीमती सुमटीबाई... आपके द्वारा आहोर गुरु मन्दिर के आगे सभा मण्डप बनवाया व श्री मोहनखेडा तीर्थ में श्री यतीन्द्र क्रिया उपाश्रय के आगे मुख्य आर्च पर नाम दिया, जीर्णोद्धार में तन मन धन से पूर्ण सहयोग दिया । आपके पुत्र विमलकुमार, पौत्र कीर्तिकुमार, रोहितकुमार बाफना मूथा है...

स्वर्गस्थ

मुथा पुखराजजी वनराजजी बाफना

आहोर (राजस्थान)

जन्म वि.सं. १९८६ — स्व. वि.सं. २०४२

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्य सहयोगी

मरुधर नगर आहोर में परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ कल्प अभिधान राजेन्द्र कोष के निर्माता भट्टारक आचार्यदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शुभ करकमलो से संवत् १९५५ फागण वदि ५ गुरुवार को ९५१ जिन बिम्बोकी भव्यतम अंजन शलाका महोत्सव हुआ उस मे ९५१ जिन बिम्बो पर नाम देने का लाभ लेनेवाले मुथा बाफना गौत्रीय जसरुपजी जीतमलजी के वंशज स्व. मातुश्री फेन्सीबाई की स्मृति में. पुत्र पौत्र जयन्तिलाल, गौतमकुमार, हरिशकुमार, राजेन्द्रकुमार, आकाशकुमार, अक्षयकुमार, अमनकुमार, जींकीकुमार...

फर्म : पद्मावती ट्रेडर्स, बेंगलोर (कर्णाटक)

मुथा तेजराजजी हिराचन्दजी दांतेवाडीया

आहोर

फर्म : शाह हिराचन्द पृथ्वीराजजी

मु. बल्लारी (कर्णाटक)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्य सहयोगी

स्वर्गीय मुथा तेजराजजी हिराचन्दजी दांतेवाडीया की धर्मपत्नी बदामीबाई, पुत्र पौत्र प्रपौत्र कानराज, सूरजमल, जयन्तीलाल, भंवरलाल, शान्तिलाल, नेमिचन्द, नरपतराज, विनोदकुमार, विक्रमकुमार, मनोजकुमार, नीलेशकुमार, जवेरकुमार, विरलकुमार, विजयकुमार, राजेन्द्रकुमार, कुशलकुमार, चेतनकुमार, संदीपकुमार, श्रीपालकुमार, भावेशकुमार...

वि. सं. २०५९ वै. सु. ३ को आपकी पौत्री कविताकुमारी के दीक्षा महोत्सव एवं आपकी धर्मपत्नी के २१ छोड का उजमणा निमित्त भव्य अट्ठाइ महोत्सव कीया गया...

कविताकुमारी दीक्षा अंगीकार कर के साध्वी श्रीमुक्तिरत्नाश्रीजी नाम घोषित कीया गया...

शाह रिखवचंदजी ताराचंदजी वाणीगोता
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्य सहयोगी

शाह रिखवचंदजी ताराचंदजी वाणीगोता की धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई वाणीगोता, आहोर

समय समय पर सुकृत कार्यो में अपनी लक्ष्मीका उपयोग करते रहते हैं, आहोर नगर में स्थित श्री गौडीपार्श्वनाथ बावन जिनालय का शताब्दी महोत्सव खुब ही उत्साह, उमंग, उल्लास से विविध कार्यक्रमो सह मनाया गया, जिस में चढावा लेकर भव्यतम कल्याणमन्दिर महापूजन पढाया गया था...

॥ श्री ॐ ॥ शुभम् ॥

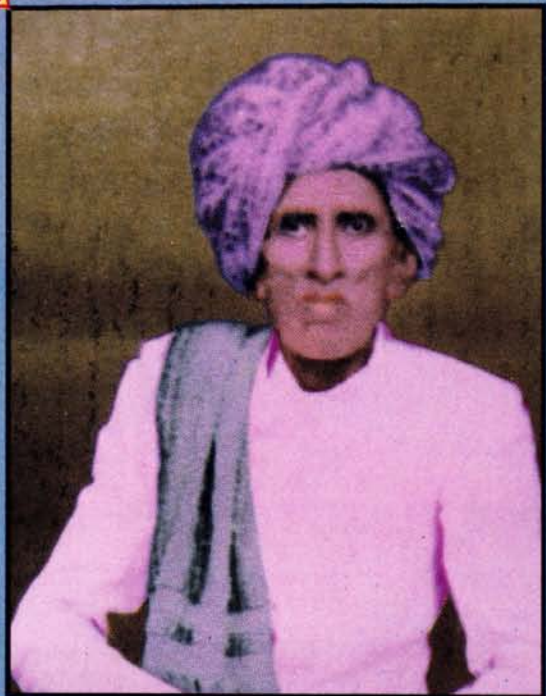

मुथा जुहारमलजी भुराजी वागरेचा
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्य सहयोगी

भाइ अमीचंदजी की पुण्य स्मृति में पुत्र पौत्र पुखराज, जावन्तराज, भंवरलाल, किरणराज, नेणमल, फुट्टरमल, रमेशकुमार, गौतमकुमार, बाबुलाल, जयन्तीलाल, कैलाशकुमार, महावीरकुमार...

अपनी और से आहोर में प्राचीन जिन मन्दिर श्री शान्तिनाथजी के मन्दिर पर कायमी ध्वजा चढाई जाती है...

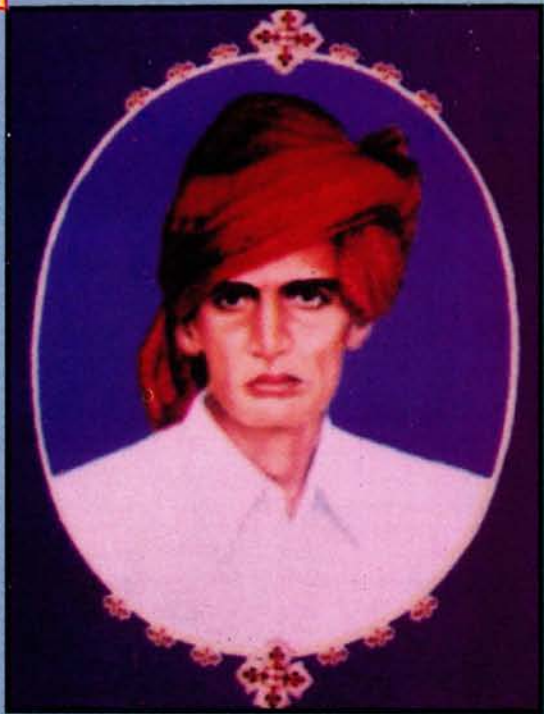

श्री छगनराजजी नगराजजी वजावत
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्य सहयोगी

श्री छगनराजजी नगराजजी वजावतकी स्मृति में... धर्मपत्नी श्रीमती जडावीबाई छगनराजजी वजावत, सुपुत्र डॉ. रणजीतमल, कान्तिलाल, किरणकुमार, अशोककुमार, किशोरकुमार, महावीरकुमार...

श्री सिद्धाचल पालीतणा मे १५० यात्रीयों को नवाणु यात्रा करवाने का लाभ लिया, श्री मोहनखेडा तीर्थकि मुख्य मंदिर का शिलान्यास भी करवाने का लाभ लिया, आहोर में आचार्य श्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी म. आचार्यपद प्रदान समारोह व तनकु में प्रतिष्ठा महोत्सव व समारोह में एवं पेदमीरम् तीर्थ में विशाल गुरु मंदिर के प्रतिष्ठा महोत्सव में फलेचुनडी बडी नवकारशी का लाभ लेकर स्वामि भक्ति का परिचय दिया...

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम आचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत द्रव्य सहयोगी

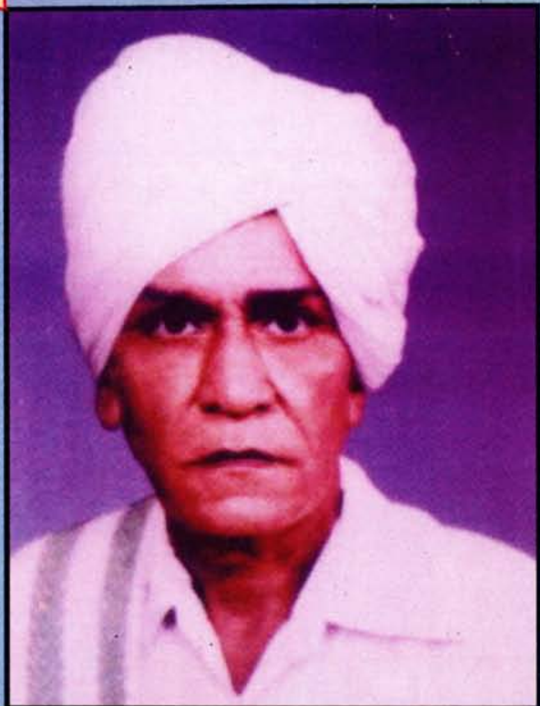

स्व. शाह फुलचंदजी कपुरचन्दजी
नेणावत आहोर

स्व. फुलचन्दजी कपुरचन्दजी नेणावत धर्मपत्नी श्रीमती सोनीबाई पुत्र पौत्र सुमेरमल, शेषमल, रमेशकुमार, किशोरकुमार, मनीषकुमार, संजयकुमार, राजकुमार, अमनकुमार, आहोर

फर्म :- सुमेरमल एन्ड सन्स
नेल्लूर (आन्ध्रप्रदेश)

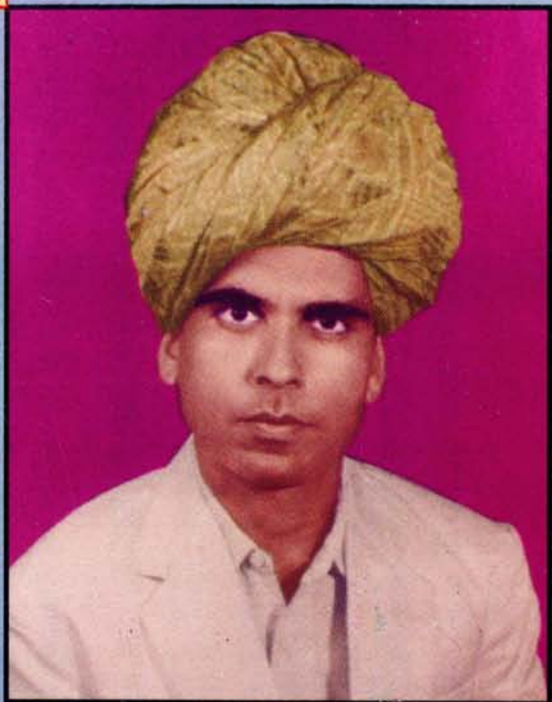

स्व. नागोरी सुमेरमलजी चुन्निलालजी

जन्म १६-२-१९३३ | स्वर्गवास २५-९-१९७४

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रंथम आगम आंचाराङ्ग के प्रथम भाग के
सुकृत के द्रव्यके सहयोगी

स्व. नागोरी सुमेरमलजी धर्मपत्नी श्रीमती हंजाबाई पुत्र शान्तिलाल, बाबुलाल, मोहनलाल, अशोककुमार, संजयकुमार, विजयकुमार, अजयकुमार, मितेशकुमार, मनीषकुमार, जयकुमार, कीर्तिकुमार, अंकितकुमार, अक्षयकुमार, स्व. पुत्र खुबचन्दजी स्मृतिमें...

आपकी ओर से नगर के प्राचीन मन्दिर की प्रति ष्ठा में मूलनायक श्री शान्तिनाथ भगवान की मूर्ति विराजमान कि गई ।

'આચારાંગ' વિશે અભિનવ પ્રકાશન

ડા. રમણલાલ ચી. શાહ

પરમ પૂજ્ય જ્યોતિષાચાર્ય શ્રી જયપ્રભવિજયજી 'શ્રમણ' મહારાજ સાહેબે શ્રી આચારાંગ સૂત્ર ઉપર શ્રી શીલાકાંચાર્યે સંસ્કૃત ભાષામાં ૧૨૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ રચેલી વૃત્તિનો હિન્દી ભાષામાં અનુવાદ કરીને પ્રકાશિત કર્યા છે. તેને આવકારતાં હું અત્યંત આનંદ અનુભવું છું. મહારાજશ્રીએ પોતાના દાદાગુરુ, અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષના નિર્માતા, પ્રકાંડ પંડિત, સમર્થ ક્રિયોદ્ધારક શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્ર સૂરીશ્વરજીનું નામ આ હિન્દી ટીકા સાથે જોડીને એને 'રાજેન્દ્ર સુબોધની આહોરી હિન્દી ટીકા' એવું નામ આપ્યું છે તે પોતાના દાદાગુરુ પ્રત્યેના એમના ભક્તિભાવનું દ્યોતક છે. આ રીતે આપણને હિન્દી ભાષામાં 'આચારાંગ સૂત્ર' વિશે એક અભિનવ પ્રકાશન પ્રાપ્ત થાય છે. આચારાંગ સૂત્ર વિશે હિન્દી ભાષામાં અનુવાદ અને વિવેચનરૂપે કેટલુંક સાહિત્ય થયેલું છે. પરંતુ શ્રી શીલાકાંચાર્યની ટીકાનો હિન્દીમાં અનુવાદ આ પહેલી વાર પ્રકાશિત થાય છે. એથી આ વિષયના રસિક જિજ્ઞાસુઓને, વિદ્વાનોને તથા આત્માર્થી જીવોને સવિશેષ લાભ થશે. શ્રુતસેવાનું આ એક અનોખું કાર્ય છે.

'આચારાંગ સૂત્ર' વિશે સંસ્કૃત, પ્રાકૃત, ગુજરાતી, હિન્દી, ઇંગ્લિશ, જર્મન વગેરે ઘણી ભાષાઓમાં ઘણું સાહિત્ય પ્રકાશિત થયેલું છે પ્રાચીન કાળમાં 'આચારાંગ સૂત્ર' વિશે તથા અન્ય આગમો વિશે નિર્યુક્તિ ચૂર્ણિ, ભાષ્ય, ટીકા-વૃત્તિ ઇત્યાદિ પ્રકારનું ઘણું સાહિત્ય રચાયેલું છે અને તે પ્રકાશિત થયેલું છે. એમાં શ્રી ભદ્રબાહુસ્વામીએ રચેલી આચારાંગ નિર્યુક્તિ પ્રથમ સ્થાન પામે છે. પ્રાકૃત ભાષામાં પદ્યમાં લખાયેલી આ સઘન કૃતિ ઉપરથી સંસ્કૃત કે પ્રાકૃતમાં સવિસ્તાર કૃતિઓની રચના અર્થપ્રકાશ માટે થયેલી છે. આચારાંગ ઉપર નિર્યુક્તિ પછી સમર્થ કૃતિ તે શ્રી શીલાકાંચાર્યકૃત ટીકા છે.

શ્રી શીલાકાંચાર્ય વિક્રમના દસમા સૈકામાં થઇ ગયેલા એક મહાન આચાર્ય છે. એમના જીવન વિશે બહુ વિગત નથી સાંપડતી, પરંતુ એમ મનાય છે કે ગુજરાતમાં થઇ ગયેલા મહાન રાજા વનરાજ ચાવડાના ગુરુ જે શ્રી શીલગુણસૂરિ હતા તે જ આ શ્રી શીલાકાંચાર્ય અથવા શ્રી શીલાચાર્ય. એ કાળે શ્રી શીલાંકાચાર્ય ગુજરાતમાં વિહરતા હતા અને પાટણ પાસે ગાંભૂ (ગંભૂતા) નગરમાં રહીને એમણે આચારાંગ સૂત્રની આ ટીકા લખી હતી એવો નિર્દેશ આ ટીકાની એક તાડપત્રીય પ્રતિ ખંભાતના ભંડારમાં છે એમાં થયેલો છે.

'શીલાચાર્યેન કૃતા ગંભૂતાયાં સ્થિતેન ટીકૈષા।'

શ્રી શીલાંકાચાર્યનું બીજું નામ 'તત્ત્વાદિત્ય' હતું એવો ઉલ્લેખ પણ મળે છે. તેઓ નિવૃત્તિ ગચ્છના શ્રી માનદેવસૂરિના શિષ્ય હતા. શ્રી શીલાંકાચાર્યે પ્રાકૃતમાં લખેલી 'ચઉપણ્ણ

महापुरिसचरियं' अेक महान कृति छे. अेनी रचना दश हजार श्लोक प्रमाणनी छे. अेमां चोपन महापुरुषोनां शलाका पुरुषोनां चरित्र आपवामां आव्यां छे. आ ग्रंथ प्रकाशित थयेलो छे अेनो गुजराती अनुवाद पण प्रकाशित थयेलो छे. कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्ये 'त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित्र' नामना महान ग्रंथनी संस्कृत भाषामां जे रचना करी छे अेमां अेमणे श्री शीलांकाचार्यना आ प्राकृत ग्रंथनो आधार लीधो छे.

श्री शीलांकाचार्ये आचारांग सूत्रनी टीका वि. स. ९३३ (शक संवत ७९९) मां लखी हती. आ टीका लखवानुं अेक प्रयोजन ते श्री भद्रबाहुस्वामीनी 'आचारांग निर्युक्ति' पछी आर्य गंधहस्तिअे आचारांग उपर जे टीका लखी हती ते बहु गहन हती. माटे सरळ भाषामां अर्थनी विशदता साथे अेमणे आ विस्तृत टीकानी रचना करी हती. आ वातनो पोते ज पोतानी टीकामां उल्लेख नीचे प्रमाणे कर्यो छे :

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गंधहस्तिकृतम् ।
तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥

आर्य गंधहस्ति ते ज श्री सिद्धसेन दिवाकर अेम पण मनाय छे. आर्य गंधहस्तिअे आचारांग सूत्र पर लखेलुं विवरण अत्यंत गहन, विद्वद्भोग्य होवुं जोइअे. अे क्यांय मळतुं नथी अेनो अर्थ अे थयो के अे लुप्त थइ गयेलुं होवुं जोइअे. अेटले श्री शीलांकाचार्ये समजाय अेवुं (सुखबोधार्थ) विवरण लख्युं छे. आ टीकाना अभ्यासीओ कहे छे के श्री शीलांकाचार्यनी 'आचारांग सूत्र' नी टीका वांचतां बहु प्रसन्नता अनुभवाय छे. अने अर्थबोध त्वरित थाय छे. श्री शीलांकाचार्ये पोताना श्लोकमां आर्य गंधहस्तिनी टीकाना फक्त 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययननो उल्लेख कर्यो छे. अेटले कदाच अेवुं पण बन्युं होय के श्री शीलांकाचार्यना समय सुधीमां आर्य गंधहस्तिअे रचेलां बीजा अध्ययनोनुं विवरण छिन्न भिन्न थइ गयुं होय. अे काळे श्रुतपरंपरा चालती हती परंतु त्यार पछीना काळमां कठिन ग्रंथ याद राखनारा ओछा ने ओछा थता गया हशे.

अेक मत अेवो छे के श्री शीलांकाचार्ये अगियारे अंग उपर टीका लखी हती, परंतु अेमांथी मात्र 'आचारांग सूत्र' अने 'सूत्र कृतांग सूत्र' उपरनी टीका ज उपलब्ध छे. बाकीनी टीकाओ उपलब्ध छे अे पण हजारो श्लोक प्रमाण छे आटली मोटी रचना करवानी होय त्यारे आचार्य महाराजने संदर्भो, लेखन वगेरेनी दृष्टिअे बीजानी सहाय लेवी पडे. श्री शीलांकाचार्ये अे माटे श्री वाहरि गणिनी सहाय लीधी हती अेवो पोते ज 'सूत्र कृतांग' नी टीकामां उल्लेख कर्यो छे आ वाहरि गणि ते अेमना ज कोइ समर्थ शिष्य हशे अेम अनुमान थाय छे.

श्री शीलांकाचार्यनी आ टीका अेक हजार वर्षथी सचवाइ रही छे अने 'आचारांग सूत्र' ना अध्ययनमां, अेनी वाचनामां सतत अेनो उपयोग थतो रह्यो छे. अे ज अेनी मूल्यवत्ता दर्शावि

છે. આ ટીકાથી પ્રભાવિત થઇને શ્રી જિનદત્તસૂરિએ 'ગણધર સાર્દ્ધશતક' માં શ્રી શીલાંકાચાર્ય વિશે લખ્યું છે કે-

आयारवियारण वयण चंदिया दलिय सयल संतावो।
सीलंको हरिणंकुव्व सोहइ कुमुयं वियासंतो॥

અર્થાત્ આચાર (આચારાંગ સૂત્ર) ની વિચારણા માટે વચન ચંદ્રિકા વડે જેમણે સકલ સંતાપ દલિત કર્યા છે દૂર કર્યા છે એવા શ્રી શીલાંકાચાર્ય હરિણાંક (ચંદ્ર) ની જેમ કુમુદને વિકસાવે છે.

આપણા શ્રુતસાહિત્યમાં 'આચારાંગ સૂત્ર' નું સ્થાન અનોખું છે. આપણાં પિસ્તાલિસ આગમોમાં અગિયાર અંગો મુખ્ય છે. બાકીનાં આગમોને અંગબાહ્ય તરીકે ઓળખવામાં આવે છે. ગણધરોએ રચેલી દ્વાદશાંગીમાંથી હાલ અગિયાર અંગ ઉપલબ્ધ છે અને તેમાં પણ કેટલોક ભાગ છિન્ન ભિન્ન થયેલો છે. અગિયારે અંગમાં 'આચારાંગ સૂત્ર' મુખ્ય છે. એમાં આચારધર્મનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે અને અચારધર્મ એ સાધુજીવનનો પ્રાણ છે.

આપણા જૈન શાસનમાં શ્રુતજ્ઞાનની પરંપરા અદ્‌ભુત અને સાનંદાશ્ચય ઉપજાવે એવી છે. આપણને શ્રુતસાહિત્યનો જે ખજાનો મળ્યો છે તે ભગવાન શ્રી મહાવીર સ્વામીના નિર્વાણ પછી હજારેક વર્ષ સુધી તો કંઠસ્થ સ્વરૂપમાં-ગુરુ શિષ્યને કંઠસ્થ કરાવે એ રીતે સચવાયેલો છે. વળી દરેક તીર્થંકર ભગવાન દેશના અર્થથી આપે અને એમના ગણધરો એને સૂત્રમાં ગૂંથી લે એવી પરંપરા છે. આવશ્યક નિયુક્તિમાં શ્રી ભદ્રબાહુ સ્વામીએ કહ્યું છે કે-

अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥

તીર્થંકર ભગવાન શાસન પ્રવર્તાવે એ કાળ વિવિધ પ્રકારની એટલી બધી લબ્ધિ-સિદ્ધિઓથી સભર હોય છે કે- ભગવાન સમવસરણમાં ગણધરોને ત્રિપદી- ઉપન્નેઇ વા વિગમેઇ વા ધુવેઇ વા- આપે અને ગણધરો મુહૂર્તમાત્રમાં દ્વાદશાંગીની રચના કરે છે. 'શ્રી ગૌતમસ્વામી અષ્ટક' માં કહ્યું છે કે-

श्री - वर्धमानात् त्रिपदीमवाप्य मुहूर्तमात्रेण कृतानि येन।
अंगानि पूर्वाणि चतुर्दशापि स गौतमो यच्छतु वांछितं मे॥

અર્થાત્ 'શ્રી વર્ધમાન સ્વામી પાસેથી ત્રિપદી મેળવીને મુહૂર્તમાત્રમાં જેમણે દ્વાદશાંગીની અને ચૌદ પૂર્વની રચના કરી છે એવા શ્રી ગૌતમસ્વામી મારાં વાંછિત આપો.'

આ દ્વાદશાંથગીમાં-બાર અંગમાં મુખ્ય તે આચારાંગ છે. ભૂતકાળમાં અનંત તીર્થંકરો થઇ ગયા અને ભવિષ્યમાં અનંત તીર્થંકરો થશે. ભૂતકાળમાં સર્વ તીર્થંકરોએ પ્રથમ આચારનો ઉપદેશ

આપ્યો છે, વર્તમાન કાળમાં મહાવિદેહ ક્ષેત્રમાં વિહરમાન સર્વ તીર્થંકરો આચારનો જ સર્વ પ્રથમ ઉપદેશ આપે છે અને ભવિષ્યના સર્વ તીર્થંકરો એ પ્રમાણે જ ઉપદેશ આપશે. મોક્ષમાર્ગમાં આચારનું કેટલું બધું મહત્ત્વ છે તે એ દર્શાવે છે. જૈન દર્શન પ્રમાણે અધ્યાત્મમાર્ગમાં દર્શન મોહનીય કર્મના ક્ષય પછી જ્યાં સુધી ચારિત્ર મોહનીય કર્મનો સંપૂર્ણ ક્ષય થાય નહિ ત્યાં સુધી કેવળજ્ઞાન અને મોક્ષપ્રાપ્તિ થાય નહિ. માટે જ આચારની મહત્તા છે.

બાર અંગોમાં આચારાંગનું સ્થાન પહેલું છે. તીર્થંકર પરમાત્મા સર્વ પ્રથમ આચારાંગની પ્રરૂપણા કરે છે અને ત્યાર પછી બાકીનાં અંગોની પ્રરૂપણા કરે છે. શ્રી ભદ્રબાહુસ્વામીએ 'આચારાંગ નિર્યુક્તિ' માં લખ્યું છે કે-

सव्वेसिमायारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए॥

વળી 'આચારાંગ' ને બધાં અંગોના સાર તરીકે ગણવામાં આવ્યું છે શ્રી ભદ્રબાહુસ્વામીએ કહ્યું છે : अंगाणं किं सारो ? आयारो। (બધાં અંગોનો સાર શું ? આચારાંગ) તેઓએ વળી કહ્યું છે કે આચારાંગમાં મોક્ષના હેતુનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે એ પ્રવચનનો સાર છે. આચારાંગનું જ્ઞાન મેળવ્યા પછી જ સાચો શ્રમણધર્મ સમજાય છે. ગણિ થનારે પ્રથમ આચારધર થવું જોઇએ.

आयारम्मि अहीए णाओ होई समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं॥

એટલે જ પ્રાચીન કાળથી એવી પરંપરા ચાલી આવી છે કે ગુરુભગવંત પોતાના શિષ્યોને પ્રથમ આચારાંગ સૂત્રનું અધ્યયન કરાવ્યા પછી જ બીજા અંગોનું અધ્યયન કરાવે. પ્રાચીન કાળમાં તો એવો નિયમ હતો કે નવદીક્ષિત સાધુ જ્યાં સધી આચારાંગના પ્રથમ અધ્યયન 'શસ્ત્ર પરિજ્ઞા' નો અભ્યાસ પૂરો ન કરે ત્યાં સુધી એને વડી દીક્ષા આપવામાં આવતી નહિ અને ત્યાં સુધી એ ગોચરી વહોરવા જઇ શકે નહિ.

અઢાર હજાર પદ પ્રમાણ 'આચારાંગ સૂત્ર' માં બે શ્રુતસ્કંધ છે. એમાં પહેલામાં નવ અધ્યયન છે અને બીજામાં સોળ અધ્યયન છે. આ રીતે એમાં કુલ પચીસ અધ્યયન છે. એમાંથી પ્રથમ શ્રુતસ્કંધનું 'મહાપરિજ્ઞા' નામનું સાતમું અધ્યન વિલપ્ત થઇ ગયું છે. આ અધ્યયન માટે એવી જનશ્રુતિ છે કે એમાં વિશિષ્ટ પ્રકારના ચમત્કારિક મંત્રો, વિદ્યાઓ ઇત્યાદિ આપવામાં આવ્યા હતા. પરંતુ કાળ બદલાતાં એનો દુરુપયોગ થવાનો સંભવ હોવાથી આચાર્યોએ એનું અધ્યયન કરાવવાનું બંધ કરી દીધુ અને એમ કરતાં એ અધ્યયન લુપ્ત થઇ ગયું. છેલ્લા દસ પૂર્વધર શ્રી વજ્રસ્વામીએ આ 'મહાપરિજ્ઞા' અધ્યયનમાંથી આકાશગામિની વિદ્યા પ્રાપ્ત કરી હતી એવો ઉલ્લેખ શાસ્ત્રગ્રંથોમાં થયેલો છે.

आचारांग सूत्र नी भावणा (भावना) अने विमुत्ती (विमुक्ति) नामनी छेल्ली बे चूलिकाओ विशे आचारांगनी चूर्णिमां अेवी सरस वात आवे छे के श्री स्थूलिभद्रनां बहेन यक्षा साध्वी महाविदेह क्षेत्रमां गयां हतां अने त्यां श्री सीमंधर स्वामीनां दर्शन कर्यां हतां. ते समये श्री सीमंधर स्वामीअे अेमने भावणा अने विमुत्ती नामनां बे अध्ययन आप्यां हतां. जे संघे आचारांग सूत्रमां अंते चूलिका तरीके स्थापित कर्या हता. (श्री हेमचंद्राचार्यना त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्रना परिशिष्ट पर्व प्रमाणे श्री सीमंधर स्वामीअे यक्षा साध्वीने चार अध्ययन आप्यां हतां, जेमांथी संघे बे 'आचारांग' मां अने बे 'दशवैकालिक'मां चूलिका तरीके स्थापित कर्या हतां.)

'आचारांग सूत्र' मां अढी हजार वर्ष प्राचीन अेवी भगवान महावीर स्वामीनी वाणी यथास्वरुपे सचवाइ रही छे 'आचारांग सूत्र' ना आरंभमां ज गणधर श्री सुधर्मस्वामी श्री जंबूस्वामीने कहे छे : सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं- (हे आयुष्यमान ! में सांभळ्युं छे ते भगवान वर्धमान स्वामीअे आ प्रमाणे कह्युं छे) आथी ज 'आचारांग सूत्र' नी अधिकृत वाचनानुं संपादन करनार प.पू. श्री जंबूविजयजी महाराजे अे ग्रंथनी प्रस्तावनामां कह्युं छे, 'आचारांग सूत्र मां अतिसंक्षिप्त छतां अत्यंत वेधक अनेकानेक सुवाक्यो अनेक स्थळे पथरायेलां छे. गंभीर रीते तेनुं मनन करवामां आवे तो अनादिकालीन अज्ञान अने मोहने क्षणवारमां हचमचावी मूके अेवी तेनामां अत्यंत तेजोमय दिव्य शक्ति भरेली छे. आचारांग सूत्रनुं अध्ययन करती वखते प्रभु महावीर परमात्मानी अतिशयोथी भरेली पांत्रीस गुण युक्त दिव्य, गंभीर वाणी जाणे साक्षात् सांभळतां होइअे तेवो अपूर्व आनंदानुभव थाय छे.'

अेटले ज आवा दिव्य ग्रंथ उपर श्री शीलांकाचार्ये संस्कृतमां लखेली टीकानो हिन्दीमां अनुवाद प्रकाशित थाय छे अेथी आनंदोल्लास अनुभवाय छे. आ ग्रंथमां मूळ सूत्र, संस्कृत छाया शब्दार्थ, सूत्रार्थ, टीका-अनुवाद अने सूत्रसार अे क्रममां लेखन थयुं छे. लेखन व्यवस्थित अने पद्धतिसर थयुं छे. सूत्रसारमां ते ते विषयनी सविगत अधिकृत छणावट करवामां आवी छे प.पू. श्रीजयप्रभविजयजीअे जे परिश्रम उठाव्यो छे ते अनुमोदनीय छे. अेमां अेमनी शास्त्रप्रीतिना अने शास्त्रभक्तिनां सुपेरे दर्शन थाय छे. अेमणे पोताना दादागुरु श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजीनी अने पोताना गुरुवर्य श्री यतीन्द्र सूरीश्वरजीनी ज्ञानोपासनानी परंपराने साचवी छे अे नोंधपात्र छे.

प.पू. श्री जयप्रभविजयजी महाराज साथेनो मारो परिचय केटलाक वर्ष पहेलां पालीताणामां ज्यारे जैन साहित्य समारोह योजायो हतो त्यारथी छे. आ समारोह वस्तुतः अेमनी प्रेरणाथी ज गोठवायो हतो. अे वखते अेमनी ज्ञानोपासनानी, साहित्यप्रीतिनी प्रतीति थइ हती. ज्योतिष अंगेनो अेमनो 'मुहूर्तराज' नामनो ग्रंथ सुप्रसिद्ध छे. अेमणे 'श्री यतीन्द्रसूरि दीक्षाशताब्दी ग्रंथ' नुं संपादन कर्युं छे. हवे अेमना हाथे श्री शीलांकाचार्यनी आचारांगवृत्तिनो हिन्दी अनुवाद थयो छे अने ते प्रकाशित थाय छे अे अत्यंत आनंदनो अवसर छे. आ ग्रंथ अनेकने आगमोना अभ्यासमां सहायभूत थशे. ज्ञानोपासनाना क्षेत्रे आ अेक मोटुं योगदान गणाशे.

પૂજ્ય મહારાજશ્રીનો આ ગ્રંથ તૈયાર કરવામાં પંડિત શ્રી રમેશભાઇ હરિયાનો સારો સહયોગ સાંપડ્યો છે. એ બદલ તેઓ પણ ધન્યવાદને પાત્ર છે.

પ.પૂ. શ્રી જયપ્રભવિજયજી મહારાજે આ ગ્રંથના લેખન-પ્રકાશન દ્વારા શ્રુતોપાસનાનું જે અનુમોદનીય કાર્ય કર્યું છે તે અનેકના આત્મકલ્યાણનું નિમિત્ત બની રહો એવી શુભકામના.

આ આમુખ લખવામાં મારા અધિકાર કરતા પૂજ્ય મહારાજશ્રીનો મારા પ્રત્યેનો સદ્‌ભાવ જ વિશેષ રહ્યો છે.

જિનાજ્ઞા વિરુદ્ધ કંઇ પણ લખાયું હોય તો મિચ્છામિ દુક્કડં !

: નિવેદક :
ડા. રમણલાલ ચી. શાહ
મુંબઇ.

卐 卐 卐

प्रासंगिकम्

पं. श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद लेखनकला के शिल्पी है **अभिधान राजेन्द्र कोश** महाग्रंथ के निर्माता भट्टारक परम पूज्य आचार्य देव **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यानवाचस्पति पू. आ. देव **श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा.** के शिष्यरत्न आगममर्मज्ञ मालवरत्न ज्योतिषाचार्य **श्रीमद् जयप्रभविजयजी म. सा. "श्रमण"**।

इस महान ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है वयः संयमस्थविर श्री सौभाग्यविजयजी म. सा. प्रवचनकार श्री हितेशचंद्र विजयजी म. सा. श्री दिव्यचंद्र विजयजी म. सा. तथा प्रवर्तिनी पू. गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म. सा. पू.साध्वीजी जयंतश्रीजी म. पू. साध्वीश्री संघवणश्रीजी म. पू. साध्वीश्री मणिप्रभाश्रीजी म. पू. साध्वीश्री तत्त्वलोचनाश्रीजी म. तथा हमारे बेन मा'राज साध्वीश्री सूर्योदयाश्रीजी म. सा. के शिष्या पू. साध्वीश्री रत्नज्योतिश्रीजी म. श्री मोक्षज्योतिश्रीजी म. श्री अक्षयज्योतिश्री म. श्री धर्मज्योतिश्रीजी म. आदि...

इस ग्रंथ में (१) अर्ध मागधी-प्राकृत भाषामें मूलसूत्र... (२) मूलसूत्र की संस्कृत छाया... (३) मूलसूत्र के शब्दार्थ... (४) मूलसूत्र के भावार्थ... (५) श्री शीलांकाचार्यजीकी टीका का भावानुवाद... तथा (६) सूत्रसार का संकलन कीया गया है...

इस ग्रंथ के प्रत्येक पेइज के उपर की और १-१-१-१ ऐसा जो क्रमांक लिखा गया है, उसका तात्पर्य - १ याने प्रथम श्रुतस्कंध...

१ याने प्रथम अध्ययन...

१ याने प्रथम उद्देशक...

१ याने पहला सूत्र...

इस ग्रंथ के भावानुवाद के लिये मुख्य आधार ग्रंथ मुनिराज श्री दीपरत्नसागरजी म. सा. के द्वारा प्रकाशित सटीक ४५ आगम ग्रंथ का प्रथम भाग श्री आचारांग सूत्र... सटीक... इस प्रकाशनमें दीये गये सूत्र क्रमांक १ से ५५२ पर्यंत संपूर्ण... यह हि क्रमांक इस प्रस्तुत प्रकाशन में लिये गये है... अतः प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययनके द्वितीय उद्देशक आदिके सूत्र क्रमांक में हमने उद्देशकके सूत्र क्रमांक के साथ साथ सलंग सूत्र क्रमांक भी दीये है... जैसे कि- जहां १-१-२-३ (१६) लिखा गया है

वहां प्रथम का १ अंक प्रथम श्रुतस्कंधका सूचक है...

द्वितीय स्थानमें १ अंक प्रथम अध्ययन का सूचक है...

तृतीय स्थानमें २ अंक द्वितीय उद्देशकका सूचक है, एवं
चतुर्थ स्थानमें 3 अंक द्वितीय उद्देशक के तृतीय सूत्र का सूचक है...,
तथा (१६) अंक सूत्र का सलंग क्रमांक है...

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में सात उद्देशक है... सातवे उद्देशक का अंतिम सूत्र क्रमांक ६२ है... किंतु सातवे उद्देशकमें वह सातवां सूत्र है अतः हमने १-१-७-७ (६२) लिखा है...

प्रत्येक पेइज के उपर लिखे गये १-१-२-3 (१६) इत्यादि क्रमांक को देखने से यह पता चलेगा कि- यह टीकानुवाद या सूत्रसार कौन से श्रुतस्कंध के कौन से अध्ययन के किस उद्देशक का कौन से सूत्र का प्रस्तुत है...

इस आहोरी हिंदी टीका ग्रंथ का सही सही उपयोग इस प्रकार देखा गया है, कि- जो साधु या साध्वीजी म. सटीक आचारांग ग्रंथ पढना चाहतें हैं... और उन्हें अध्ययन में कठीनाइयां आती है इस परिस्थिति में यह अनुवाद ग्रंथ उन्हें उपयुक्त सहायक बनेगा ऐसा हमारा मानना है... अतः हमारा नम्र निवेदन है कि- आप इस ग्रंथ का सहयोग लेकर सटीक आचारांग ग्रंथ का हि अध्ययन करें...

गणधर विरचित मूलसूत्र में एवं शीलांकाचार्य विरचित संस्कृत टीका में जो भाव-रहस्य है वह भावरहस्य अनुवाद में कहां ? जैसे कि- गोरस दुध में जो रस है वह छास में कहां ? तो भी असक्त मनुष्य को मंद पाचन शक्ति की परिस्थिति में दूध की जगह छास हि उपकारक होती है क्योंकि- दोनों गोरस तो है हि... ठीक इसी प्रकार मंद मेधावाले मुमुक्षु साधु-साध्वीजीओं को यह भावानुवाद-ग्रंथ अवश्य उपकारक होगा हि...

गणधर विरचित श्री आचारांग सूत्र का अध्ययन आत्म विशुद्धि के लिये हि होना चाहिये... आत्म प्रदेशों में क्षीरनीरवत् मीले हुए कर्मदल का पृथक्करण करके आत्म प्रदेशों को सुविशुद्ध करना, यह हि इस महान् ग्रंथ के अध्ययन का सारभूत रहस्य है, अतः इस महान् ग्रंथ के प्रत्येक पद-पदार्थ को आत्मसात् करना अनिवार्य है... कथाग्रंथ की तरह एक साथ पांच दश पेइज पढने के बजाय प्रत्येक पेइज के प्रत्येक पेराग्राफ (फकरे) को चबाते चबाते चर्वण पद्धति से पढना चाहिये... अर्थात् चिन्तन-मनन अनुप्रेक्षा के द्वारा आत्मप्रदेशों से संबंध बनाना चाहिये...

आत्म प्रदेशों में निहित ज्ञानादि गुण-धन का भंडार अखुट अनंत अमेय एवं अविनाशी है... कि- जो गुणधन कभी भी क्षीण नहि होता... और न कोइ चोर लुंट शकता... और न कभी शोक-संताप का हेतु बनता, किंतु सदैव सर्वथा आत्महितकर हि होता है... अतः ज्ञान-धन हि आत्मा का सच्चा धन-ऐश्वर्य है...

श्री आचारांग सूत्र के अध्ययन से उपलब्ध हुआ पंचाचार स्वरूप गुण-धन निश्चित हि प्रज्वलित दीपक की तरह अनेक बुझे हुए दीपकों को प्रज्वलित करता है... अर्थात् अनेक भव्य जीवों में पंचाचार-गुण-धन के प्रदान के द्वारा अनंतानंत जीवों को अव्याबाध अविचल आत्मिक सुख का हेतु बनता है...

इस ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन में अतीव सावधानी रखी गइ है, तो भी जहां कहिं अपूर्णता प्रतीत हो वहां क्षमाशील सज्जन साधु-संत परिपूर्णता करे यह हि हमारी नम्र प्रार्थना है.. क्योंकि- सज्जन लोग सदा गुणग्राही होतें है एवं शुभ पुरुषार्थ के प्रशंसक होते हैं...

इस ग्रंथ के प्रथम भाग की प्रस्तावना डा. रमणभाइ सी. शाह के द्वारा उपलब्ध हुइ है, कि- जो बहोत हि श्रम से ग्रंथ के सार स्वरूप प्रस्तावना लीखी गइ है... प्रस्तावना ग्रंथ में प्रवेश करने का द्वार है, अतः कोइ भी ग्रंथ का अध्ययन प्रारंभ करने के पूर्व प्रस्तावना पढी जाती है...

इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य उत्तर गुजरात के पाटण नगरमें दीप ओफसेट के मालिक परीख हितेशभाइ ने पूर्ण सावधानी से कीया है... एवं कम्प्युंटर लिपि कला मून कम्प्युटर के मालिक मनोजभाइ ठक्कर ने बहोत हि परिश्रम के साथ प्रस्तुत की है... अतः हम उन दोनों महानुभावों के श्रम को नहि भूल पाएंगे...

इस ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन कार्य में पाटण खेतरवसी श्री भुवनचंद्रसूरि ज्ञानमंदिर के व्यवस्थापक ट्रस्टी श्री विनोदभाइ झवेरी एवं पं. श्री रमणीकभाइ ने उपयुक्त पुस्तक प्रत इत्यादि सहर्ष प्रदान कर अपूर्व सहयोग दीया है...

इस महान् ग्रंथ के संपादन कार्य में अनेक सज्जनों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनमें से भी प्रेस मेटर एवं प्रुफ संशोधनादि कार्यों में विदुषी साधनादेवी आर. हरिया तथा चि. पुत्र निमेष, ऋषभ एवं अभयम् का सहयोग सराहनीय है...

अंत मे श्री श्रमण संघ से करबद्ध नम्र निवेदन है कि- इस महान ग्रंथरत्न का आत्म विशुद्धि के लिये उपयोग करें एवं संपूर्ण विश्व के सकल जीव पंचाचार की सुवास को प्राप्त करें ऐसा मंगलमय आशीर्वाद देने की कृपा करें...

-: निवेदक :-

लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया...

संस्कृत-प्राकृत व्याकरण काव्य न्याय साहित्य तीर्थ.

३/११, वीतराग सोसायटी, पी. टी. कोलेज रोड,

पालडी, अमदावाद-३८०००७

फोन : (०७९) ६६२०८३८

अपनी और से...

ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. ''श्रमण''

आगमो के प्राण तीर्थंकर है। ओर शब्दों में वर्णन कर्ता गणधर भगवान होते है। श्रमण भगवान महावीर ने देशना में जो कुछ उद्घोषित किया उसे गणधर भगवन्तोंने स्मरण रखा। गणधर भगवन्तों से श्रवण कर के स्थविर भगवन्त उसकी रचना करते है।

गणधर कृत आगम **अंग प्रविष्ट** एवं स्थविर कृत आगम **अनंग प्रविष्ट** अर्थात् अंग बाह्य... भगवान के मुख्य शिष्य गणधर भगवान होते है एवं चतुर्दश पूर्वी या दश पूर्वधर स्थविर होते है। किन्तु गणधर कृत भाषित और स्थविर घोषित आगमों का आधार तो तीर्थंकर परमात्मा ही है।

आगमों की वाचना पांच बार हुई है।

प्रथम वाचना :

श्रमण भगवान महावीर स्वामीजी के १६० वर्ष पश्चात हुई।

द्वितीय वाचना :

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के ३०० वर्ष बाद उड़ीसा प्रान्तः याने अंगदेश में तत्कालीन देश के कुमारी पर्वत पर सम्राट खरवेल के समय हुई।

तृतीय वाचना :

श्री वीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईशा की तीसरी शताब्दी में मथुरा में हुई। इसका नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने किया।

चतुर्थ वाचना :

तृतीय वाचना के समकालिन है।

पंचम वाचना :

श्री वीर निर्वाण के ९८० वर्ष बाद याने आचार्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आचार्य नागार्जुन की वाचना के १५० वर्ष बाद में देवर्धिगणि क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में पुनः वाचना हुई।

इस प्रकार आगम शास्त्र का अध्ययन करने पर पांच बार आगम वाचनाओं का आधार

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्र कोष के सम्पादक

आगम भास्कर पिताम्बर विजेता

श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य रत्न

ज्योतिषाचार्य शासन दीपक

पूज्य श्रीजयप्रभविजयजी "श्रमण" महाराज

जन्म
वि.सं. १९९३
पोष वदि १०
स्थल - जावरा

ज्योतिषाचार्य
पद प्रदान
वाराणसी में
काशी पण्डित
सभा द्वारा
दि. ५-११-८९
को
मानद् उपाधी
से
विभूषित किये
वि.सं. २०४६
कार्तिक सुदी ५

दीक्षा
वि.सं. २०१०
माघ सुदी ४
स्थल -
सिथाणा

शासन दीपक
पद प्रदान
मनावर
श्री संघ द्वारा
कार्तिक सुदि ११
दि. २४-११-९३

मालवरत्न
पद प्रदान
श्री संघ
जावरा द्वारा
दि. १८-२-००

विनय शील स्वाध्याय सुधाकरः प्रति भारत सद्धर्म धुरिण ।
जप तप संयम व्रत परिपालक गुरु चरणाश्रित सेवा लीन ॥
धर्म प्रचारक "श्रमण" सुधारक सुविचारक सुहृदय गुणवान ।
जयतु जयतु विजय श्री भूषित जयप्रभविजय महामतिमान् ॥

मिलता है।

४५ आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

आगम

अंग		**उपांग**	
१-	आचार	१-	औपपातिक
२-	सूत्रकृत	२-	राज प्रशनीय
३-	स्थान	३-	जीवाभिगम
४-	समवाय	४-	प्रज्ञापना
५-	भगवती	५-	सूर्य प्रज्ञप्ति
६-	ज्ञात धर्म कथा	६-	चंद्र प्रज्ञप्ति
७-	उपासक दशा	७-	जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति
८-	अन्तकृत दशा	८-	कल्पिका
९-	अनुत्तरोपपातिक दशा	९-	कल्पावतंसिका
१०-	प्रश्न व्याकरण	१०-	पुष्पिका
११-	विपाक	११-	पुष्प चुलिका
१२-	दृष्टिवाद : विलुप्त :	१२-	वृष्णि दशा

मूल		**छेद**	
१-	दशवैकालिक	१-	निशिथ
२-	उत्तराध्ययन	२-	महानिशिथ
३-	आवश्यक	३-	बृहत्कल्प
४-	पिण्ड निर्युक्ति अथवा ओघ नियुक्ति	४-	व्यवहार
		५-	दशा श्रुत स्कंध
		६-	पंच कल्प

प्रकीर्णक

१-	चतुःशरण	६-	चन्द्र वैध्य
२-	आतुर प्रत्याख्यान	७-	देवेन्द्र स्तव

३-	भक्त परिज्ञा	८-	गणि विद्या
४-	संस्तारक	९-	महा प्रत्याख्यान
५-	तन्दुल वैचारिक	१०-	वीर स्तव

चूलिका

१-	नन्दीसूत्र	२-	अनुयोगद्वार सूत्र

इस प्रकार जावरा में भगवती सूत्र का स्वाध्याय करते हुए मन में विचार आया कि:- क्यों न इनका : ऐसे ज्ञान गर्भित सूत्रों का : राष्ट्र भाषा हिन्दी में अनुवाद किया जावे।

विचारों को पूर्ण साकार रूप देने के पूर्व गंभीर चिन्तन किया। क्योंकि- आगमों का अध्ययन सुलभ नहीं है। और योग क्रिया पूर्व वाचने का अधिकार भी नहीं है। किन्तु चिन्तन इस निर्णय पर रहा है कि-

अभी तपागच्छीय मुनिराज द्वारा गुजराती में ४५ आगम निकाले गये है। स्थानक वासी के ३२ आगम हिन्दी अंग्रेजी और सचित्र छप गये है तैरापंथी समाज के भी ३२ आगम हिन्दी में छप गये है और अंग्रेजी में छप जाने से पाश्चात्य विद्वान भी उदाहरण दे रहे है तो क्यों न हिन्दी में भी अनुवाद हो ? कुछ आगम के ज्ञाता आचार्य वर्यो से विचार किया, विचारों का सार यही रहा कि- विवादित गुढ़ रहस्य ग्रन्थ को छूकर अन्य उपयोगी ग्रन्थों का ही विचार करें।

विचार भावना को कार्य रूप में परिणित करने के विचार से मुंबई पंडितवर्य श्री रमेशभाइ से संपर्क किया, पंडितजी मेरे विचारों की अनुमोदना करते हुए सभी प्रकार से पूर्ण सहयोग देने का विश्वास दिलाया एवं संपादन कार्य करने की स्वीकृति प्रदान की।

आगम की द्वादशांगी के प्रथम अंगसूत्र आचारांग सूत्र है एतदर्थ सर्व प्रथम आचारांग सूत्र की श्री शीलांकाचार्य विरचित वृत्ति का कार्य प्रारंभ किया जावे।

इस आचारांग सूत्र का सर्व प्रथम महत्त्व यह है कि-दशवैकालिकसूत्र की रचना होने के पूर्वकाल में नवदीक्षित साधु एवं साध्वीजी म. को आचारांग सूत्र का यह प्रथम अध्ययन, सूत्र-अर्थ एवं तदुभय (आचरणा) से देकर हि उपस्थापना याने बडी दीक्षा दी जाती थी... किंतु श्री शय्यंभवसूरिजी ने मनक मुनी का अल्पायु जानकर, अल्पकाल में आत्महित कैसे हो ? इस प्रश्न की विचारणा में दशवैकालिक सूत्रकी संकलना की अर्थात् रचना की, तब से नवदीक्षित मुनि एवं साध्वीजी म. को दशवै. सूत्र के चार अध्ययन सूत्र-अर्थ एवं तदुभय से देने के बाद बडी दीक्षा होती है...

लेखन कार्य श्रम पूर्ण होने पर प्रकाशन कार्य भी कम श्रम पूर्ण नहीं है। इसके लिये

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति
आचार्यदेव श्री मद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज
शिष्य रत्न

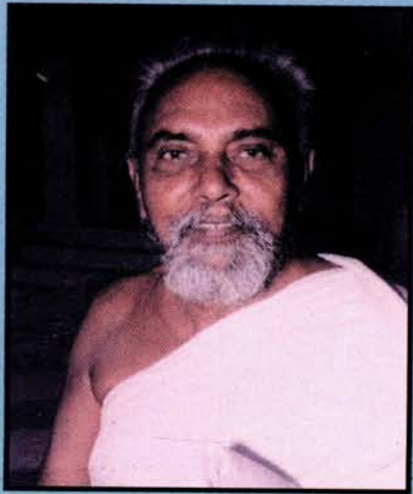

संयमवयस्थिविर
मुनिराजश्री सौभाग्यविजयजी महाराज

ज्योतिषाचार्य मालव रत्न
मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी श्रमण
के

शिष्य रत्न
मालव केशरी
मुनिश्री हितेशचन्द्रविजयजी ''श्रेयस''

ज्योतिषाचार्य मालव रत्न
मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी श्रमण
के

शिष्य रत्न
मुनिश्री दिव्यचन्द्रविजयजी ''सुमन''

श्री सौधर्म बृहत्तपा गच्छीय श्रमणी मण्डल

सर्व प्रथम गुणानुरागि श्रुतोपासक श्रेष्ठिवर्य श्री शांतिलालजी मुथाजी कि- भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति के मंत्री है। उन्हों से पत्राचार प्रारंभ हुआ पत्राचारों से विचार उद्भव हुए कि हिन्दी टीका में आहोर का नाम जुड जावे तो यह प्रकाशन कार्य सुलभ हो जावे। अतः श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन और राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका नामकरण किया गया। आचारांग सूत्र तीन भाग में प्रकाशित हो रहा है। तीनों भागों का प्रकाशन व्यय आहोर के निवासी गुरू भक्त श्री शांतिलालजी मुथा के प्रयत्न से आहोर निवासी श्रुतोपासक श्रेष्ठीवर्य गुरू भक्त वहन कर रहे है। अतः आहोर के श्रुत दाता गुरुभक्त साधुवाद के पात्र है। भविष्य में इसी प्रकार ज्ञानोपासना के कार्य में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करके श्रुत भक्ति का परिचय देते रहे यही मंगल कामना।

बंबई निवासी डा. रमणभाई सी. शाह ने अपना अमूल्य समय निकालकर प्रस्तावना लिख भेजने का कष्ट सहकर श्रुत आराधना का लाभ लिया, एतदर्थ धन्यवाद एवं आशा करते है कि- भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग कर हमारी ज्ञान उपासना में अभिवृद्धि करते रहेंगे। यही मंगल कामना।

शिष्यद्वय मुनि श्री हितेशचन्द्रविजय एवं मुनि श्री दिव्यचन्द्रविजयजी ने भी श्रुत भक्ति का सहयोग पूर्ण परिचय दिया यह श्रुत भक्ति शिष्यद्वय के जीवन में सदा बनी रहे यही आर्शीवाद सह शुभकामना।

सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय वयोवृद्ध शुद्ध साध्वाचार पालक गच्छ शिरोमणी शासन दीपिका प्रवर्तिनी मुक्तिश्रीजी की समय - समय पर श्रुतोपासना की प्रेरणा मिलती रहती है एवं प्रत्येक गच्छीय उन्नति के कार्यों में पूर्ण सहयोग रहता है यह मेरे लिये गौरव पूर्ण बात है इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर के श्रुतोपासना की भावना बनी रहती है एवं भविष्य में भी मेरे श्रेष्ठकार्यो में इनकी प्रेरणा प्राप्त होती रहे इसी विश्वास के साथ।

अंत में संपादन कार्य करते हुए पंडितवर्य श्री रमेशभाइ एल. हरिया ने प्रेस मेटर व प्रुफ संशोधन में शुद्धाशुद्धि देखने में पूर्णतः श्रम किया है एवं पाटण निवासी 'दीप' आफसेट के मालिक श्री हितेशभाई, व मुन कम्प्युटर के स्वामी श्री मनोजभाई का श्रम भी नहीं भुलाया जा सकता है।

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन स्वरूप इस ग्रंथ-प्रकाशन में प्रत्यक्ष परोक्ष सहयोग कर्ता सभी धन्यवाद के पात्र है।

श्रीमोहनखेडातीर्थ
वि.सं. २०५८
माघ शुक्ल ४ शनिवार
दीक्षा के ४१ वें वर्ष प्रवेश स्मृति

ज्योतिषाचार्य
मुनिजयप्रभविजय 'श्रमण'

सम्पादनवेलायाम्...

पं. श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

अयि हंहो ! शृण्वन्तु तत्रभवन्तः प्रेक्षावन्तः भोः भोः सज्जनाः ! अनादिनिधनस्थितिकेऽस्मिन् संसारसागरे नैके असुमन्तः प्राणिनः स्वस्वकृतकर्म-परवशीभूय निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वन्तः सन्ति।

सदैव सर्वेषां जीवानां एकैव आकाङ्क्षा अस्ति यत् दुःखानां परिहारेण सर्वथा सुखीभवामः, किन्तु तेषां जीवानां यादृशी आकाङ्क्षा अस्ति, तदनुरूपः पुरुषार्थस्तु नास्ति...

यतः साध्यानुरूपं हि साधनं साध्यसिद्धिं प्रति समर्थीभवति। जीवानां साध्यं अस्ति निराबाधं अक्षयं अनन्तं आत्मसुखम्, किन्तु तैः साधनं तदनुरूपं न स्वीकृतम्...

निराबाधसुखस्य साधनं अस्ति सम्यक्चारित्रम्... तत् च सर्वसावद्यनिवृत्तिस्वरूपम् सावद्यं नाम पापाचरणम्... पापाचरणं नाम जगज्जन्तूनां त्रिविध- त्रिविधपीडोद्भावनम्... अतः पापाचरणस्य परिहारः हि निराबाधसुखस्य असाधारणं साधनं अस्ति इति अवगन्तव्यम्।

परहितकरणेनैव स्वहितं स्यात्, नाऽन्यथा। परपीडा-विधानेन तु आत्मपीडैव सम्भवेत् इति वार्त्ता निश्चितं विज्ञेया।

यः कोऽपि परेभ्यः यत् यत् कामयते, तत् तत् परेभ्यः प्रथमं दातव्यं भवति... यथा आम्रबीजवपनेन एव आम्रफलं लभ्यते, नाऽन्यथा इति तु जानीते आबालगोपालः।

वर्त्तमानसमये ये ये जीवाः दुःखिनः सन्ति, तैः पूर्वस्मिन् काले परेभ्यः दुःखं दत्तं स्यात्, अन्यथा ते कदापि दुःखिनः न स्युः इति मन्ये। ये केऽपि प्रेक्षावन्तः चेद् गम्भीरीभूय चिन्तयेयुः तदा जगज्जीवानां दुःखनिदानं सम्यग् जानीयुः।

यद्यपि कोऽपि जीवः कस्मैचिदपि दुःखं दातुं नेच्छति, तथापि मिथ्यामोहान्धचित्तत्वेन कर्मपरवशजीवः तथा तथा प्रवृत्तिं करोति यथा नैके जीवाः कष्टं प्राप्नुवन्ति, इति एवं प्रकारेण अविरतः जीवः परैः सह वैरानुबन्धभावं वर्धयति। फलतः सः जीवः अपारसंसारसागरे पुनः पुनः निमज्जनोमज्जनं कुर्वन् वर्त्तते, इतीयं वार्त्ता मिथ्या न, किन्तु सत्या एव। यदि केषाञ्चित् चेतसि अत्र सन्देहः स्यात् तर्हि पृच्छन्तु प्रेक्षावद्भ्यः सज्जनेभ्यः, श्रूयतां च तैः दत्तं सम्यग्-उत्तरम्।

केवलज्ञानालोके विश्वविश्वं करामलकवद् जानन्ते जिनेश्वराः। चातुर्गतिकजीवानां

भवभ्रमणकारणं सनिदानं ज्ञातमस्ति परोपकारिभिः तै।

तैः दृष्टं यत् विषयकषायाभिभूताः हि बद्धकर्माणः चातुर्गतिकाः जीवाः कर्मविपाकानुसारेणैव भवभ्रमणं कुर्वन्ति । यथा कण्डरीकादयः सागरश्रेष्ठ्यादयश्च विषयकषायानुभावतः भवे भ्रान्ताः भ्रमन्ति भ्रमिष्यन्ति च।

तथा च ये गजसुकुमालादयः पुण्डरीकादयश्च लघुकर्माणः जीवाः विषयकषायेभ्यः विरम्य आत्मगुणाभिमुखाः सञ्जाताः, सावद्यारम्भ-समारम्भतश्च विरताः सन्ति, ते निराबाधं आत्मसुखं सम्प्राप्ताः सन्ति, प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति च नाऽत्र सन्देहः ।

अतः एव अतीतकालीनाः वर्त्तमानकालीनाः अनागतकालीनाश्च विश्वविश्वोपकारिणः विगत राग-द्वेषमोहाः (जितेन्द्रियाः पञ्चाचारमयाः पञ्चसमितिभिः समिताः त्रिगुप्तिभिः गुप्ताः विनष्टक्लेषाः केवलिनः) सर्वज्ञाः जिनेश्वराः देवविरचित-समवरणे द्वादशविधपर्षदि एवं भाषितवन्तः भाषन्ते भाषिष्यन्ते च, यत्, विश्वविश्वेऽस्मिन् संसारे ये केऽपि जीवाः सन्ति, ते कैश्चिदपि मुमुक्षुभिः न हन्तव्याः न पीडनीयाः न परितापनीयाः न उपद्रवितव्याः इति. एतद्-भावप्रकाशकं सूत्रं सूत्राङ्क-१३९ सकलद्वादशाङ्ग्याः सारभूतेऽस्मिन् प्रथमे आचाराङ्गाभिधे ग्रन्थे प्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थाध्ययने गणधरैः उल्लिखितं अस्ति...

चतुर्दशपूर्वगर्भितेयं द्वादशाङ्गी अर्थतः उपदिष्टाऽस्ति जिनेश्वरैः, सूत्रतश्च ग्रथिताऽस्ति गणधरैः। सर्वेऽपि जिनेश्वराः क्षायिकभावात्मक-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयाः सन्ति, गणधराश्च निर्मल क्षायोपशमिकभावात्मकसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्पन्नाः सन्ति। तेषां समेषां दृष्टिः लक्ष्यबिन्दुः वा एकस्मिन्नेव शुद्धात्मनि अस्ति... आत्मविशुद्ध्यर्थमेव तेषां समेषां सर्वथा पुरुषार्थः अस्ति, आत्मना मनसा वचसा वपुषा वा ते सर्वेऽपि तथाविधं उद्यमं स्वयं कुर्वन्ति, अन्यैः कारयन्ति तथा च तथाविधं उद्यमं कुर्वाणान् अन्यान् प्रशंसन्ते च, यथा आत्मविशुद्धिः भवेत्।

विश्वविश्वेऽस्मिन् ये केऽपि जन्तवः सन्ति, ते सर्वेऽपि जीवात्मानः असङ्ख्य-प्रदेशिनः सन्ति तथा चाऽत्र प्रतिप्रदेशे अनन्तज्ञानादिगुणाः आगन्तुकाः न, किन्तु सहजाः एव... सर्वेऽपि जीवाः अक्षयाः अजराः अमराः निराबाधसुखमयाश्च सन्ति, किन्तु चातुर्गतिकेऽस्मिन् संसारे ये केऽपि जीवाः परिभ्रम्यमाणाः दृश्यन्ते, नैकविधसातासातादिजन्यसुखदुःखाभिततमाश्च दरीदृश्यन्ते तत्र एकमेव कारणमस्ति पापाचरणम्...

मिथ्यात्वादिबन्धहेतुभिः सेविताष्टादशपापस्थानकाः समेऽपि संसारिणः जीवाः यद्यपि जन्म नेच्छन्ति तथाऽपि बद्धाष्टविधकर्मविपाकोदयेन जायन्ते, पीडां नेच्छन्ति तथाऽपि पीडां प्राप्नुवन्ति, वार्द्धक्यं नेच्छन्ति तथाऽपि वृद्धभावमनुभवन्ति... मरणं नेच्छन्ति तथाऽपि म्रियन्ते च।

अतः एव परमकरुणालवः जगज्जन्तुजननीकल्पाः जिनेश्वराः परमवात्सल्यभावेन सकलजीवेभ्यः निराबाधसुखानुभवं प्रदातुं पञ्चाचारमयः मोक्षमार्गः प्रदर्शितः अस्ति... गणधरैश्च

अयं पञ्चाचारः आचाराङ्गाभिधे आगमग्रन्थे उल्लिखितः अस्ति.

१. कालादिभेदभिन्नाष्टविधज्ञानाचार :

२. निःशङ्कादिभेदभिन्नाष्टविधदर्शनाचारः

३. ईर्यासमित्यादिभेदभिन्नाष्टविधचारित्राचारः

४. अनशनादिभेदभिन्नद्वादशविधतपआचारः

५. यथाविधित्रियोगपराक्रमभेदभिन्नवीर्याचारः

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपो-वीर्याचारात्मकः अयं पञ्चाचारः सर्वेषां जीवानां आत्मविशुद्ध्यर्थं असाधारणं साधनं अस्ति... यतः तदेव साधनं साधनं स्यात्, यत् साध्यं अवश्यमेव साधयति... अद्य-पर्यन्तं ये केऽपि जीवाः मोक्षं प्राप्ताः सन्ति ते सर्वेऽपि पञ्चाचारेणैव, नाऽन्यथा... यैः यैः पञ्चाचारः आराधितः ते सर्वेऽपि मोक्षगतिं प्राप्ताः सन्ति, तथा यैः जीवैः अयं पञ्चाचारः, न आदृतः आदृतो वा न आराधितः ते सर्वे जीवाः अद्याऽपि चातुर्गतिकेऽस्मिन् संसारे परिभ्रमन्ति...

यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यम् इति अन्वयः।

यत्र यत्र साधनाभावः तत्र तत्र साध्याभावः इति व्यतिरेकः।

अर्थात् यत्र यत्र पञ्चाचारः तत्र तत्र मोक्षः। इति अन्वयः

तथा यत्र यत्र पञ्चाचाराभावः तत्र तत्र मोक्षाभावः। इति व्यतिरेकः

अतः एव सज्जनशिरोमणिभिः सुधर्मस्वाम्यादि-सूरिपुरन्दरैः पुनः पुनः निवेद्यते, यत् - हे भव्याः ! सावधानीभूय सेव्यतामयं पञ्चाचारः, अनुभूयतां च निराबाधात्मसुखम्।

आचाराङ्गाभिधमिदं आगमशास्त्रं गणधरैः अर्धमागधीप्राकृतभाषायां निबद्धमस्ति... चतुर्दशपूर्वधरश्रीभद्रबाहुस्वामिभिः प्राकृतभाषायां निर्युक्तिः निबद्धा अस्ति... तथा वृत्तिकारश्रीमत् शीलाङ्काचार्यैः संस्कृतभाषायां वृत्ति-व्याख्या विहिता अस्ति... किन्तु वर्त्तमानकालीनमन्दमतिमुमुक्षुभिः इदं आचाराङ्गसूत्रम् इयं नियुक्तिः वृत्ति-व्याख्या च दुरधिगम्या, अतः एतादृशी परिस्थितिः सञ्जाताः यत् प्रभूततराः साधवः साध्व्यश्च विहितयोगविधयः अपि, आचाराङ्गसूत्रार्थस्य जिज्ञासवः अपि न श्रवणं लभन्ते, न च पठितुं शक्नुवन्ति, ततः यत् किमपि पठनं श्रवणं च कुर्वन्तः सन्तः दुर्लभं नरजन्मक्षणं मुधा गमयन्ति,

अतः एवम्भूतानां मन्दमतीनां मुमुक्षूणां हितकाम्यया इयं राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका-व्याख्या विहिता, अभिधान-राजेन्द्र-कोशकार-श्रीमद्-विजय राजेन्द्रसूरीश्वराणामन्तेवासी शिष्यरत्न व्याख्यानवाचस्पति विद्वद्वरेण्य श्रीमद् यतीन्द्रसूरीश्वराणां विनेय शिष्यरत्नज्योतिषाचार्य-**श्रीमद् जयप्रभविजयैः** गुरुबन्धुश्री सौभाग्यविजयादीनां सत्प्रेरणया तथा च विनेय शिष्यरत्न हितेशचन्द्रविजयदिव्यचन्द्रविजयादीनां नम्रनिवेदनेन...

ग्रन्थसम्पादनकर्म तु प्रचुरश्रमसाध्यं अस्ति, अतः आचाराङ्गाभिधस्याऽस्थ ग्रन्थस्य सम्पादनकर्मणि मालवकेशरी व्याख्यानकार मुनिपुंगव श्री हितेशचन्द्रविजयजित् ''श्रेयस'' तथा मुनिराज श्री दिव्यचन्द्रविजयजित् ''सुमन'' इति एभिः मुनिवर्यैः आत्मीयभावेन प्रचुरमात्रायां सहयोगः प्रदत्त अस्ति अतः तेषां श्रुतज्ञानभक्तिः अनुमोदनीया अस्ति...

राजेन्द्र सुबोधनी ''आहोरी'' हिन्दी टीकाऽन्वितस्य अस्य आचाराङ्गग्रन्थस्य प्रभूततराणि पत्राणि सञ्जातानि अतः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य प्रथमाध्ययनस्य यानि पत्राणि सन्ति तेषां सङ्ग्रहः प्रथम-भागेऽस्मिन् पुस्तके कृतः, अस्ति...

प्रथम-श्रुतस्कन्धस्य शेषाणि अध्ययनानि द्वितीयभागे लप्स्यन्ते तथा च द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मकः तृतीयभागः भविष्यति... एवं सम्पूर्णः ग्रन्थः अस्माभिः पुस्तकत्रितये निबद्धोऽस्ति।

ग्रन्थमुद्रणविधौ तु अणहिलपुर-पाटण-नगरस्थ **दीप ओफ्सेट** स्वामी श्री हितेशभाइ परीख एवं **मून कम्प्युटर** स्वामी श्री मनोजभाइ ठक्कर इत्यादि सज्जनानां सहयोगः अविस्मरणीयः भवेत्।

ग्रन्थसम्पादनकर्मणि प्रेसमेटर एवं प्रुफ आदि संशोधनकर्मणि विदुषी साधनादेवी, निमेष-ऋषभ-अभयम् इत्यादि सर्वेषां असाधारणसहयोगः प्रशंसनीयः अस्ति। अन्येऽपि ये केऽपि सज्जनाः अस्मिन् ग्रन्थसम्पादनकर्मणि उपकृतवन्तः तेषां समेषां सहकारं कृतज्ञभावेन स्मरामि इति...

-: निवेदयति :-

लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया...

संस्कृत-प्राकृत व्याकरण काव्य न्याय साहित्य तीर्थ.

-: अध्यापक :-

श्री भुवनचंद्रसूरीश्वरजी जैन तत्त्वज्ञान पाठशाला,

खेतरवसी, पाटण : ३८४२६५ (उत्तर गुजरात)

वीर नि. २५२८ वि.सं. २०५८ चैत्र शुक्ल पूर्णिमा....

दिनांक - २७-०४-२००२, शनिवार.

ॐ ह्रीं

प्रवर्त्तिनी गुरूणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म.सा.

के कर-कमल में

सटीक आचारांगसूत्र के

भावानुवाद स्वरूप

आहोरी हिंदी टीका ग्रंथ

का

...सादर समर्पण...

: निवेदक :
सौधर्म बृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक
जैन संघ...
आहोर... (राज.)

सौधर्म बृहत्तपा गच्छीय शुद्ध साध्वाचार पालक
गच्छ शिरोमणि शासन दीपिका सरल मना

-: प्रवर्तिनी :-

गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी महाराज

अनुक्रमणिका

सूत्र क्रमांक	पत्रांक
प्रथम अध्ययन प्रारंभ (शस्त्रपरिज्ञा)	१
प्रथम उद्देशक प्रारंभ (जीव)	२७
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - १ - १ - (१)	२७
१ - १ - १ - २ - (२)	४१
१ - १ - १ - ३ - (३)	६४
१ - १ - १ - ४ - (४)	७६
१ - १ - १ - ५ - (५)	८८
१ - १ - १ - ६ - (६)	९५
१ - १ - १ - ७ - (७)	१०१
१ - १ - १ - ८ - (८)	१०४
१ - १ - १ - ९ - (९)	१०६
१ - १ - १ - १० - (१०)	११२
१ - १ - १ - ११ - (११)	११५
१ - १ - १ - १२ - (१२)	११८
१ - १ - १ - १३ - (१३)	११९
द्वितीय उद्देशक प्रारंभ (पृथ्वीकाय)	१२३
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - २ - १ - (१४)	१३५
१ - १ - २ - २ - (१५)	१४०
१ - १ - २ - ३ - (१६)	१४५
१ - १ - २ - ४ - (१७)	१४७
१ - १ - २ - ५ - (१८)	१५५
तृतीय उद्देशक प्रारंभ (अपकाय)	१५९
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - ३ - १ - (१९)	१६४
१ - १ - ३ - २ - (२०)	१६७
१ - १ - ३ - ३ - (२१)	१७१
१ - १ - ३ - ४ - (२२)	१७२
१ - १ - ३ - ५ - (२३)	१७४
१ - १ - ३ - ६ - (२४)	१७८
१ - १ - ३ - ७ - (२५)	१८१
१ - १ - ३ - ८ - (२६)	१८४
१ - १ - ३ - ९ - (२७)	१८६
१ - १ - ३ - १० - (२८)	१८९
१ - १ - ३ - ११ - (२९)	१९१
१ - १ - ३ - १२ - (३०)	१९२
१ - १ - ३ - १३ - (३१)	१९५

चतुर्थ उद्देशक प्रारभ (तेऊकाय)	१९८
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - ४ - १ - (३२)	२०२
१ - १ - ४ - २ - (३३)	२०५
१ - १ - ४ - ३ - (३४)	२१०
१ - १ - ४ - ४ - (३५)	२१३
१ - १ - ४ - ५ - (३६)	२१४
१ - १ - ४ - ६ - (३७)	२१६
१ - १ - ४ - ७ - (३८)	२१९
१ - १ - ४ - ८ - (३९)	२२१
पंचम उद्देशक प्रारंभ (वनस्पतिकाय)	२२४
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - ५ - १ - (४०)	२३४
१ - १ - ५ - २ - (४१)	२३८
१ - १ - ५ - ३ - (४२)	२४३
१ - १ - ५ - ४ - (४३)	२४५
१ - १ - ५ - ५ - (४४)	२४६
१ - १ - ५ - ६ - (४५)	२४७
१ - १ - ५ - ७ - (४६)	२४९
१ - १ - ५ - ८ - (४७)	२५१
१ - १ - ५ - ९ - (४८)	२५७
षष्ठ उद्देशक प्रारंभ (त्रसकाय)	२६०
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - ६ - १ - (४९)	२६८
१ - १ - ६ - २ - (५०)	२७२
१ - १ - ६ - ३ - (५१)	२७४.
१ - १ - ६ - ४ - (५२)	२७७
१ - १ - ६ - ५ - (५३)	२७९
१ - १ - ६ - ६ - (५४)	२८१
१ - १ - ६ - ७ - (५५)	२८५
सप्तम उद्देशक प्रारंभ (वाऊकाय)	२८८
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र-सूत्रांक	
१ - १ - ७ - १ - (५६)	२९०
१ - १ - ७ - २ - (५७)	२९२
१ - १ - ७ - ३ - (५८)	२९६
१ - १ - ७ - ४ - (५९)	२९८
१ - १ - ७ - ५ - (६०)	३०१
१ - १ - ७ - ६ - (६१)	३०३
१ - १ - ७ - ७ - (६२)	३०५
प्रशस्ति	३१२
प्रथमाध्ययन-निर्युक्ति	३१५-३३०

प्रथम श्रुतस्कंध - प्रथम अध्ययन

अ-कारादि - अनुक्रमणिका

अनुक्रम	सूत्र	सूत्रांक	पत्रांक
१	अकरिस्सं चऽहं -	६	९५
२	अट्टे लोए परिजुण्णे -	१४	१३५
३	अदुवा अदिण्णादाणं -	२७	१८६
४	अपरिण्णायकम्मा -	८	१०४
५	अत्थि मे आया उववाइए -	३	६४
६	अणेगरूवाओ जोणीओ -	९	१०६
७	आयंकदंसी -	५७	२९२
८	इमस्स चेव जीवियस्स -	११	११४
९	इहं च खलु भो ! -	२५	१८१
१०	इह संतिगया -	५८	२९६
११	उड्ढं अहं तिरियं -	४२	२४३
१२	इत्थं पि जाणे -	६१	३०३
१३	एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स -	१८	१५५
१४	एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स -	३१	१९५
१५	एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स -	३९	२२१
१६	एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स -	४८	२५७
१७	एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स -	५५	२८५
१८	एत्थ वि तेसिं -	३०	१९२
१९	एयावंति सव्वावंति -	७	१०१
२०	एयावंति सव्वावंति -	१२	११८
२१	एस लोए वियाहिए -	४३	२४५
२२	कप्पइ णो कप्पइ -	२८	१८९
२३	जस्सेते लोगंसि -	१३	११९
२४	जाए सद्धाए -	२०	१६७

अनुक्रम	सूत्र	सूत्रांक	पत्रांक
२५	जे गुणे से आवट्टे -	४१	२३८
२६	जे दीहलोगसत्थस्स -	३३	२०५
२७	जे पमत्ते गुणट्ठीए -	३५	२१३
२८	तं जहा पुरत्थिमाओ -	२	४९
२९	तं णो करिस्सामि -	४०	२३४
३०	तं परिण्णाय मेहावी -	३६	२१४
३१	तं से अहियाए -	१७	१४७
३२	तत्थ खलु भगवया -	१०	११२
३३	तत्थ खलु भगवया -	१६	१४५
३४	तत्थ तत्थ पुढो पास -	५२	२७७
३५	निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता -	५१	२७४
३६	पणया वीरा -	२१	१७१
३७	पमत्तेऽगारमावसे -	४५	२४७
३८	पहू एजस्स -	५६	२९०
३९	पुढो सत्थेहिं -	२९	१९१
४०	पुणो पुणो गुणासाए -	४४	२४६
४१	मंदस्सावियाणओ -	५०	२७२
४२	लज्जमाणा पुढो पास -	२४	१७८
४३	लज्जमाणा पुढो पास -	३७	२१६
४४	लज्जमाणा पुढो पास -	४६	२४९
४५	लज्जमाणा पुढो पास -	५३	२७९
४६	लज्जमाणा पुढो पास -	५९	२९६
४७	लोगं च आणाए -	२२	१७२
४८	वीरेहिं एयं अभिभूया -	३४	२१०
४९	संति पाणा पुढो सिया -	१५	१४०
५०	सत्थं चेत्थं अणुवीइ -	२६	१८४

अनुक्रम	सूत्र	सूत्रांक	पत्रांक
५१	सुयं मे आउसं -	१	२७
५२	से आयावादी लोयावादी -	५	८८
५३	से जं पुण जाणेज्जा सह -	४	७६
५४	से बेमि अप्पेगे -	५४	२८१
५५	से बेमि इमंपि जाइधम्मयं -	४७	२५१
५६	से बेमि जहा-अणगारे -	१९	१६४
५७	से बेमि णेव सयं लोगं -	२३	१७४
५८	से बेमि णेव सयं लोगं -	३२	२०२
५९	से बेमि संति पाणा पुढवि -	३८	२१९
६०	से बेमि संतिमे तसापाणा -	४९	२६८
६१	से बेमि संति संपाइया -	६०	३०१
६२	से वसुमं सव्वसमण्णागय -	६२	३०५

प्रथम श्रुतस्कंध - प्रथम अध्ययन

संक्षिप्त विषय अनुक्रमणिका

उद्देशक	विषय	पत्रांक
१	जीव अस्तित्व	१
२	पृथ्वीकाय	१२३
३	अप्काय (जल)	१५९
४	तेउकाय (अग्नि)	१९८
५	वनस्पतिकाय	२२४
६	त्रसकाय	२६०
७	वाउकाय (वायु)	२८८

वर्तमान समये उपलब्ध ४५ आगम सूत्र और टीका-व्याख्या स्वरूप श्रुतज्ञान...

		मूलसूत्र ग्रंथाग्र		वृत्ति-व्याख्या ग्रंथाग्र		सर्वे संख्या ग्रंथाग्र
११	अंग सूत्र	३५६७८	+	७२९२१	=	१०८५९९
१२	उपांग सूत्र	२५९२४	+	९९४४७	=	१२५३७१
१०	पयन्ना सूत्र	२७१८	+	४२२८	=	६९४६
६	छेद सूत्र	७२४१	+	१२९३२५	=	१३६५६६
४	मूल सूत्र	५१५५	+	५९५००	=	६४६५५
२	नंदी-अनुयोगद्वार	२७००	+	१३६३२	=	१६३३२
४५	आगम सूत्र	७९४१६	+	३७९०५३	=	४५८४६९

नोंध : इन टीका-व्याख्याओं के अलावा और भी अनेक वृत्ति-व्याख्या-टीका विभिन्न स्थविर आचार्योंने बनाइ हुइ उपलब्ध होती है।

पंचांगी आगम

१ मूलसूत्र

२ निर्युक्ति

३ भाष्य

४ चूर्णि

५ वृत्ति-टीका

वर्तमानकाल में यद्यपि सभी आगम सूत्र में पंचांगी उपलब्ध नहीं है, तो भी कितनेक आगम सूत्रो में पंचांगी उपलब्ध होती है...

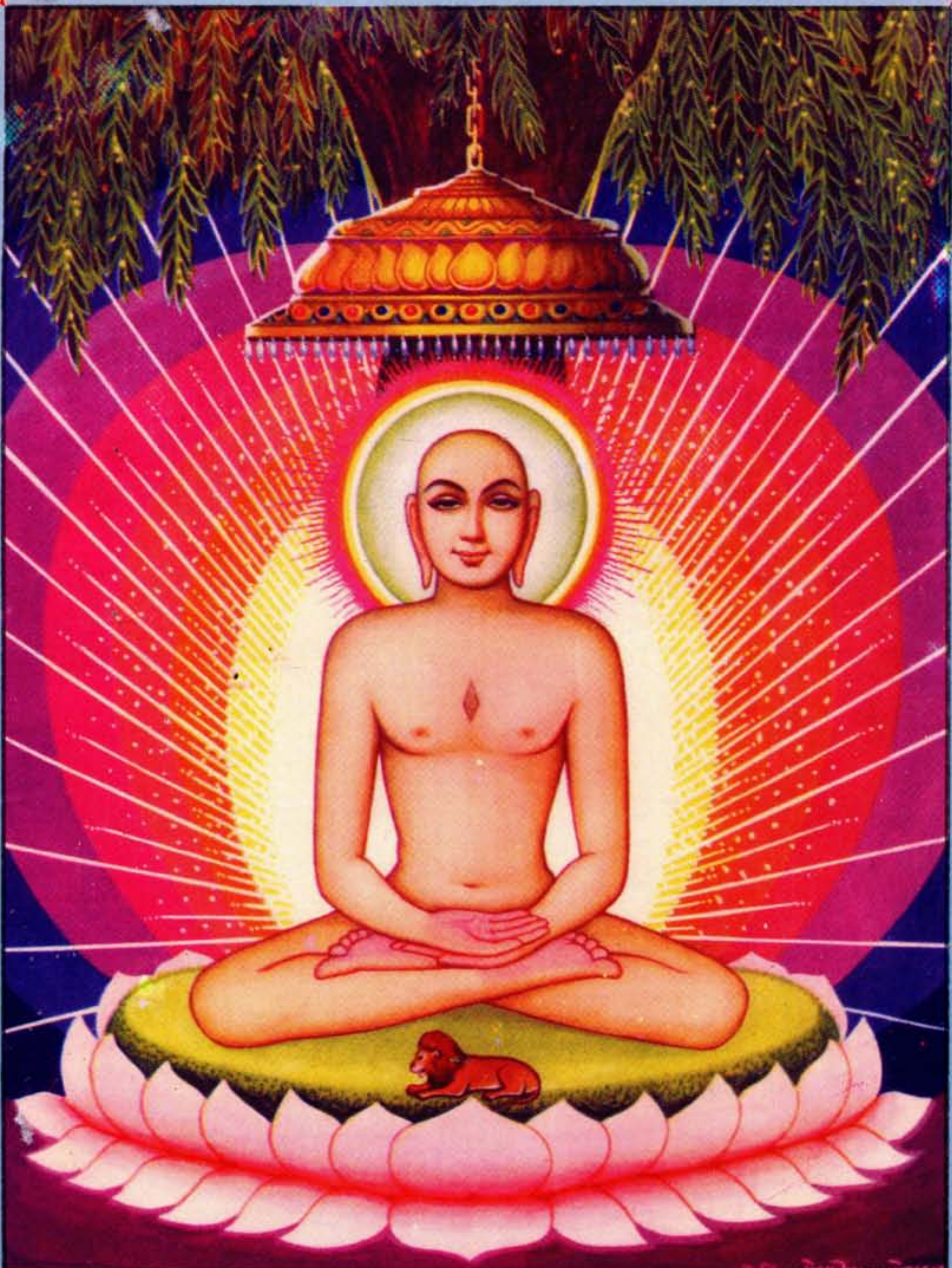

चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर

ॐ 卐 ह्रीं
नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं
'एसो पंचनमुक्कारो,
सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं'

॥ भारत-वर्ष के हृदयस्थल स्वरूप मालवभूमि - मध्यप्रदेश में
शत्रुञ्जयावतार मोहनखेडा तीर्थाधिपति श्री आदिनाथस्वामिने नमो नमः ॥
॥ परमपूज्य, विश्ववन्द्य, अभिधानराजेन्द्रकोष-निर्माता, भट्टारक, सरस्वतीपुत्र,
कलिकालसर्वज्ञकल्प, स्वर्णगिरी-कोरटा-तालनपुरादितीर्थोद्धारक, क्रियोद्धारक,
प्रभुश्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वर पट्टप्रभावक आचार्यश्रीमद् विजयधनचन्द्रसूरीश्वर
पट्टभूषण आचार्य श्रीमद् विजयभूपेन्द्रसूरीश्वर पट्टदिवाकर आचार्य श्रीमद्
विजययतीन्द्रसूरीश्वर पट्टालङ्कार आचार्य श्रीमद् विजयविद्याचन्द्रसूरीश्वरादि
सद्गुरु चरणेभ्यो नमो नमः ॥

卐 नमः श्री जिन प्रवचनाय 卐

ॐ 卐 卐 卐 ह्रीँ

श्री आचाराङ्ग-सूत्रम्

तत्र

श्री शीलाङ्काचार्यविरचितवृत्ति की

राष्ट्रभाषा "हिंदी" में

राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिंदी टीका...

"मूल-सूत्र 卐 संस्कृत-छाया 卐 शब्दार्थ 卐 सूत्रार्थ 卐 टीका-अनुवाद 卐 सूत्रसार..."

तत्र प्रथम-श्रुतस्कन्धे प्रथममध्ययनम्

"शस्त्रपरिज्ञा"

मङ्गलाचरणम्

श्रीमद् **ऋषभदेवादि - वर्धमानान्तिमान्** जिनान् ।
नमस्कृत्य नमस्कुर्वे **सुधर्मादि - गणधरान्** ॥ १ ॥
श्रीमद् **विजय राजेन्द्र-सूरीश्वरान्** नमाम्यहम् ।
यै **अभिधानराजेन्द्र - कोशः** व्यरचि हर्षतः ॥ २ ॥

भवाब्धितारकान् वन्दे **श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरान्** ।
तथा च कविगुणाढ्यान् **विद्याचन्द्रसूरीश्वरान्** ॥ ३ ॥
गच्छाधिनायकान् नौमि **श्रीहेमेन्द्रसूरीश्वरान्** ।
येषां शुभाशिषा कार्यं सुगमं सुन्दरं भवेत् ॥ ४ ॥
गुरुबन्धु **श्री सौभाग्य-विजयादि**-सुयोगतः ।
हितेश-दिव्यचन्द्राणां शिष्याणां सहयोगतः ॥ ५ ॥
जयप्रभाऽभिधः सोऽहं **श्रीराजेन्द्रसुबोधनीम्** ।
आहोरीत्यभिधां कुर्वे **टीकां** बालावबोधिनीम् ॥ ६ ॥ युग्मम्

टीका-अनुवाद

जिनेश्वरोंने प्रतिष्ठित कीया हुआ यह श्रीजिन-शासन नामका तीर्थ पुरे विश्वमें विजयवंत है...

क्योंकि - इस तीर्थने समस्त वस्तुओंके पर्याय एवं द्रव्य संबंधित विचार-वचनसे सभी कुमतोंका निराश किया है, तथा **यह जिनशासन तीर्थ अनादि-अनंत स्थितिवाला है,** अनुपम है एवं सभी तीर्थंकरोने प्रमाणित कीया है...

अन्य मत एक एक नयको निरपेक्ष दृष्टिसे स्वीकारतें हैं, जब कि - **जिनमत** सभी नयोंको सापेक्ष दृष्टिसे स्वीकारता है... अतः जिनमत श्रेष्ठ है...

वृत्ति के प्रारंभमें **श्री शीलांकाचार्यजी** कहतें हैं, कि- जिस प्रकार श्री **महावीर प्रभु** ने जगतके जीवोंके हितके लीये "आचार-शास्त्र" विनिश्चित प्रकारसे कहा है, उसी हि प्रकार विनय भावसे कहते हुए मेरी इस वाणीको बुद्धिमान लोग (पठन-मनन चिंतनके द्वारा) पवित्र करें...

पू.आ. देव श्री गंधहस्तिसूरिजी ने **शस्त्रपरिज्ञा** अध्ययनका विवरण किया तो है, किंतु वह अतिशय गहन होनेके कारणसे पांचवे आरेके जीवोंको समझनेमें कठीनाइयां होती है अतः उन्हें समझनेमें सुगमता हो इस दृष्टिकोणसे मैं (**शीलाङ्काचार्य**) सार सार ग्रहण करके यह सुगम विवरण लिखता हुं...

अनादि-अनंत स्थितिवाले इस विश्वमें राग-द्वेष एवं मोह आदिसे अभिभूत ऐसे सभी संसारी जीवात्माओंको शारीरिक एवं मानसिक पीडा रूप कठीनाइओंको दूर करनेके लिये, वस्तु-पदार्थोंका हेय (त्याग) एवं उपादेय (स्वीकार) का विज्ञान प्राप्त करना चाहिये... किंतु ऐसा विज्ञान, विशिष्ट विवेकसे हि प्राप्त होता है... और ऐसा विशिष्ट विवेक, **३४ अतिशयवाले आप्त पुरुष (तीर्थंकर) के उपदेशसे हि हो सकता है... राग-द्वेष ऐवं मोह आदि दोषोंके संपूर्ण क्षयसे हि आत्मा आप्तपुरुष कहलाता है... अतः ऐसा आप्तपुरुष केवल वीतराग-सर्वज्ञ हि होते हैं...** इसलिये वीतराग-सर्वज्ञ ऐसे श्री महावीर परमात्माके उपदेश वचनोंका हि मैं **अनुयोग** प्रारंभ

करता हुं...

वह अनुयोग चार प्रकारसे होता है...

(१) धर्मकथानुयोग... उत्तराध्ययन... आदि...

(२) गणितानुयोग... सूर्यप्रज्ञप्ति... आदि...

(३) द्रव्यानुयोग... १४ पूर्व... सम्मतितर्क आदि...

(४) चरणकरणानुयोग... आचारांग... आदि...

इस चार अनुयोगोमें **चरणकरणानुयोग** हि श्रेष्ठ है... शेष तीन अनुयोग इसी के हि समर्थनके लिये हि होते हैं... कहा है कि... सम्यक् चारित्रकी विशुद्धिके लिये ही धर्मकथा आदि अनुयोग कहे गये है...

द्रव्यानुयोग से सम्यग्दर्शनकी शुद्धि होती है... और सम्यग्दृष्टिको हि सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र क्रमशः उपलब्ध होते हैं

गणधरोंने भी द्वादशांगीमें सर्वप्रथम **आचारांग सूत्र** हि लिखा है अतः आचारांग सूत्रका अनुयोग यहां लिखा जा रहा है...

यह आचाराङ्ग सूत्रका **अनुयोग** परमपद (मोक्ष) का कारण है अतः शुभ है... और शुभकार्य सदैव हि अनेक विघ्नोवाले होते हैं...

कहा है कि- **शुभकार्य अनेक विघ्नोवाले होते हैं अच्छे अच्छे सज्जनोको भी शुभकार्योमें अनेक कठीनाइयां आती है...**

इसलिये सभी विघ्नोके विनाशके लिये **मंगलाचरण** करना चाहिये... यह मंगलाचरण शास्त्रमें तीन जगह होता है । आदि, मध्य एवं अंत में...

१. आदि मंगल... ग्रंथके आरंभमें...
इससे निर्विघ्न ग्रंथकी समाप्ति होती है...

२. मध्य मंगल... ग्रंथके मध्य भागमें...
इससे ग्रंथार्थका स्थिरीकरण होता है...

3. अवसान मंगल... ग्रंथके अंत भागमें...
इससे शिष्य-प्रशिष्य परंपरामें ग्रंथार्थका प्रवाह निरंतर चलता रहता है...

अथवा तो आत्माके गुणोको प्रगट करनेवाला यह संपूर्ण शास्त्र हि मंगल स्वरूप हि है...

क्योंकि... यह आचारांगसूत्र श्रुतज्ञान है... ज्ञानाचारकी विधिसे श्रुतज्ञानकी उपासना करनेसे सम्यग् ज्ञान होता है, और सम्यग्ज्ञान से हि सम्यक्चारित्र एवं सम्यक् तप सुलभ होता है... और इन दोनोसे घातिकर्मोकी निर्जरा होती है... अन्यत्र भी कहा है कि- **तीन गुप्तिसे गुप्त ऐसा ज्ञानी एक श्वासोच्छ्वासमें इतने सारे कर्मोका क्षय करता है कि- उतने कर्मोका क्षय करनेमें अज्ञानीको करोडों वर्ष लगता है...**

मंगल शब्दकी निरुक्ति करते हुए कहते हैं कि- **मुझे जो संसारसे मुक्त करे वह मंगल... अथवा तो - शास्त्रका विनाश न हो वह मंगल...**

इस विषयमें अधिक बातें जो है वे अन्य ग्रंथोसे जाननेका प्रयत्न कीजीयेगा...

अब आचारांग सूत्रका आरंभ करते हुए कहते हैं कि- **आचारांगसूत्रका अर्थ कहना वह आचारांगानुयोग...** सूत्र कहने के बाद अर्थका कहना वह अनुयोग... अथवा तो छोटे छोटें सूत्रका विस्तृत अर्थ कहना वह अनुयोग...

इस अनुयोग को विशेष रूपसे समझनेके लिये इन निम्नोक्त द्वारोंका आश्रय लेना चाहिये...

१. निक्षेप...
२. एकार्थक...
3. निरुक्ति...
४. विधि...
५. प्रवृत्ति...
६. केन ?
७. कस्य ?
८. तद्-द्वारभेद
९. लक्षण
१०. तद्-योग्य पर्षदा
११. सूत्रार्थ...

१. अनुयोग-पद के निक्षेप के सात प्रकार है। वे इस प्रकार- १. नाम, २. स्थापना, 3. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. काल, ६. वचन एवं ७. भाव...

१. नाम निक्षेप... सुगम है...

२. स्थापना निक्षेप... सुगम है...

3. द्रव्य निक्षेप... द्रव्यानुयोग के दो भेद है...

१. आगम से... २. नो आगमसे...

आगमसे... अनुयोग-पद के ज्ञाता किंतु अनुपयोगी

नो आगमसे... तीन प्रकार...

१. ज्ञ शरीर २. भव्य शरीर... 3. तद्व्यतिरिक्त...

१. ज्ञ शरीर... ज्ञाता का मृतक कलेवर...

२. भव्य शरीर... भविष्यमें जो जानेगा वह बालक...

3. तद्व्यतिरिक्त... सेटिका (चपटी बजाने) से... या

आत्मा एवं परमाणु आदि का...

निषद्या - बेठक - आसन आदि में बैठकर...

जो अनुयोग किया जाय वह तद्व्यतिरिक्त द्रव्यानुयोग...

४. क्षेत्रानुयोग... जिस क्षेत्रसे... क्षेत्रका... या क्षेत्रमें...
जो अनुयोग किया जाय वह क्षेत्रानुयोग...

५. कालानुयोग... जिस कालसे... कालका... या कालमें...
जो अनुयोग किया जाय वह कालानुयोग...

६. वचनानुयोग... एकवचन... द्विवचन... या बहुवचन से
जो अनुयोग किया जाय वह वचनानुयोग...

७. भावानुयोग... दो प्रकार से...

१. आगम से... २. नो आगम से...

१. आगम से... ज्ञाता एवं उपयोगी...

२. नो आगम से... औपशमिक क्षायोपशमिक एवं क्षायिक आदि भावोंसे जो अनुयोग किया जाय वह भावानुयोग...

शेष द्वारों को **आवश्यक सूत्र** से समझ लीजीयेगा... किंतु यहां केवल अनुयोग का हि प्रस्ताव होनेसे और वह **अनुयोग** आचार्य याने गुरुके अधीन है अतः "केन" द्वारका विवरण लिखते हैं...

यहां " केन " द्वार में उपक्रम निक्षेप अनुगम एवं नय यह द्वार उपयोगी है अतः वह लिखते हैं...

कितने गुणवाले आचार्य-गुरु अनुयोग-व्याख्या करते है ? इस अनुसंधानमें कहते हैं कि...

१. **आर्य देश...** आर्य देशमें जिन्होंका जन्म हुआ हो ऐसे... क्योंकि... ऐसे आचार्य हि श्रोताओंको अच्छी तरहसे प्रतिबोध कर शके...

२. **उत्तम कुल...** पिता के वंश को कुल कहते हैं... इक्ष्वाकु... ज्ञातकुल इत्यादि... क्योंकि ऐसे हि उत्तम कुलमें जन्मे हुए हि द्रढता के साथ जवाबदारी अच्छी तरह से निभाते है...

3. **उत्तम जाति...** माता के वंश को जाति कहते हैं... क्योंकि उत्तम वंशमें जन्म ली हुइ मां का संतान-पुत्र हि विनीत हो शकता है...

४. **उत्तम रूप...** पांचो इंद्रियोंसे संपूर्ण **सांगोपांग** अखंड शरीरवाले आचार्य होते हैं क्योंकि... देहके आकारसे हि गुण जाने जाते है...

५. **संहनन-धृतियुक्त...** सूत्र की व्याख्या एवं धर्मकथा कहनेमें सदा स्वस्थ एवं प्रसन्न हो शकते हैं...

६. **अनाशंसी...** श्रोताओंसे वस्त्र-पात्र आदि कोइ भी वस्तुकी **आशंसा** न रखनेवाले आचार्य होते हैं...

७. **अविकत्थन...** श्रोताओंका हित हो वैसी प्रमाणोपेत = मर्यादित बातें कहनेवाले आचार्य होते हैं...

८. **अमायी...** माया-कपट नहिं करतें किंतु सरल भावसे हि धर्मकथा कहनेवाले आचार्य होते हैं... इसीलिये सभी को विश्वासपात्र होते है...

९. **स्थिरपरिपाटी...** गुरु परंपरासे पढे हुए ग्रंथोके सूत्रार्थको न भूलनेवाले आचार्य होते है...

१०. **ग्राह्यवाक्य....** जिनकी आज्ञा याने उपदेशको सुनकर सभी लोग सहर्ष अङ्गीकार करते है...

११. **जितपर्षद् -** राजा आदि की सभामें **क्षोभ पाये** बिना हि धर्मोपदेश देनेमें सफल रहनेवाले आचार्य होते हैं...

१२. **जितनिद्र -** जो स्वयं अप्रमादी है अतः अपने आश्रित शिष्योंको समय पर

जगानेवाले होते हैं...

१३. **मध्यस्थ...** अनेक प्रकारके छोटे-बडे-शिष्योमें समचित्त याने मध्यस्थ भाव रखनेवाले होते हैं...

१४. **देशकालभावज्ञ...** देश और काल याने क्षेत्र एवं ऋतुओंके भावोंको जानने वाले होते हैं अतः जहां रत्नत्रय-आराधना गुणकी वृद्धि हो वहां विचरते हैं...

१५. **आसन्नलब्धप्रतिभ** - वाद-विवाद के समय तत्काल प्रतिवादीको उचित जवाब देकर निरूत्तर करनेवाले आचार्य होते हैं...

१६. **नानाविधदेशभाषाविधिज्ञ** - विभिन्न देशके शिष्योंको अपनी अपनी भाषामें तत्त्वबोध देनेवाले होते हैं...

१७. **ज्ञानाद्याचारपञ्चकयुक्त** - पंचाचारमें कुशल होनेके कारणसे श्रद्धेयवचनवाले होते हैं...

१८. **सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञ** - व्रत नियमोंके पालनमें उत्सर्ग एवं अपवाद मार्गको अच्छी तरह से जाननेवाले होते हैं अतः स्वयं एवं अपने शिष्यवर्गको मोक्षमार्गमें अखंड प्रयाण प्रस्थापक करनेवाले होते हैं...

१९. **हेतूदाहरणनिमित्तनयप्रपञ्चज्ञ** - मोक्षमार्गकि कार्य-कारणभाव तथा उदाहरण एवं अष्टांगनिमित्त और सात नयके विस्तारको जाननेवाले होते हैं... अतः प्रसन्न मुखवाले आचार्य शिष्यवर्गको मोक्षमार्गमें होनेवाले संदेहको दूर करते हैं...

२०. **ग्राहणा-कुशलः** - अनेक युक्ति एवं प्रयुक्तिओंसे तत्त्वबोध देनेमें कुशल होते हैं...

२१. **स्वसमयपरसमयज्ञ** - अपने जैनमतके सभी शास्त्रोंको जानने के साथ साथ अन्यमतोंके शास्त्रोंको भी जाननेवाले आचार्य होते हैं... ऐसे होनेके कारणसे हि भव्यात्माओंमें जिनमतकी स्थापना एवं अनुराग (पक्षपात) स्पष्ट करतें हैं...

२२. **गंभीर** - आनेवाले कष्टोंको समभावसे सहन करके अपने मोक्षमार्गमें अखंड प्रयाणवाले रहते हैं...

२३. **दीप्तिमान्** - चारित्र एवं तप के तेज से प्रभावशाली होते हैं अतः कोइ भी आदमी उनका पराभव कभी भी नहिं करतें... किंतु नम्र बन जाते हैं...

२४. **शिव** - कल्याणके कारण होते हैं, अतः आचार्य जहां बिचरते वहां मारी मरकी वगैरह उपद्रव शांत हो जाते हैं...

२५. **सौम्य** - सभी जीवोंके नयनोको हर्षित कराकर मन को प्रसन्नता देते हैं...

२६. **गुणशतकलित** - इस प्रकार उपर कहे गये एवं अन्य सैंकडो गुणोसे युक्त आचार्य होते हैं...

सामान्य तया ३६ गुणवाले आचार्य होते हैं... विशेष रूपसे तो ३६×३६ १२९६ गुणवाले आचार्य महाराज होते हैं... ऐसे ३६ गुणवाले आचार्य म. प्रवचनका अनुयोग याने व्याख्यान करनेके लिये योग्य होते हैं...

अब अनुयोग को महानगरकी कल्पना करके कहते हैं कि... जिस प्रकार नगरमें प्रवेशके लिये चार द्वार होते हैं वैसे हि अनुयोग याने व्याख्यान विधिके भी चार अनुयोग द्वार हैं...

१. उपक्रम २. निक्षेप

3. अनुगम ४. नय...

अब अनुयोगका प्रथम द्वार हैं **"उपक्रम"**...

उपक्रम याने समीप में जाना... अर्थात् जिस शास्त्रकी व्याख्या करनी हो उस शास्त्रके प्रति अपनी अभिमुखता करना, अथवा उस शास्त्रको अपने समीपमें जीस प्रकारसे लाया जाय उसे **उपक्रम** कहते हैं...

यह उपक्रम शास्त्रीय एवं लौकिक भेदसे दो प्रकारका है...

१. शास्त्रीय उपक्रम ६ प्रकारका है...

१. आनुपूर्वी... २. नाम...

3. प्रमाण... ४. वक्तव्यता...

५. अर्थाधिकार... ६. समवतार...

२. लौकिक उपक्रम... ६ प्रकार का है...

१. नाम २. स्थापना

3. द्रव्य ४. क्षेत्र

५. काल ६. भाव

अब दुसरा अनुयोग द्वारा है **"निक्षेप"** जिससे सूत्रके पदार्थोंका निक्षेप-वर्गीकरण किया जाय, उसे निक्षेप कहते हैं... अर्थात् जिस शास्त्र की व्याख्या करनी हो उस शास्त्रका नाम स्थापना आदि के माध्यमसे परिचय करना...

वह निक्षेप तीन प्रकारका होता है...

१. ओघनिष्पन्न निक्षेप.

२. नाम निष्पन्न निक्षेप.

3. सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेप.

१. **ओघनिष्पन्न निक्षेप...** अंग... श्रुतस्कंध... अध्ययन... उद्देश... आदिका सामान्यसे कथन...

२. **नामनिष्पन्न निक्षेप...** आचार... शस्त्रपरिज्ञा... आदि विशेष नामके कथनसे व्याख्या करना...

3. **सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेप...** सूत्र के आलापकके एक एक शब्दका विशेष रूपसे व्याख्या करना...

अब तीसरा द्वार है **"अनुगम"...**

अनुगम याने अर्थका कथन... जिस प्रकारसे एक एक सूत्रके अर्थका स्पष्ट कथन हो शके उसे अनुगम कहते हैं...

वह अनुगम दो प्रकार से हैं...

१. निर्युक्ति - अनुगम...

२. सूत्र - अनुगम...

अब जो निर्युक्ति-अनुगम है वह तीन प्रकारका है...

१. निक्षेप निर्युक्ति अनुगम...

२. उपोद्घात निर्युक्ति अनुगम...

3. सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति अनुगम...

अब जो निक्षेप निर्युक्ति अनुगम है - वह "निक्षेप" द्वार में हि सामान्य एवं विशेष कथनरूप ओघनिष्पन्न एवं नामनिष्पन्न के माध्यमसे हि कहे जा चूके है...

अब **उपोद्घात निर्युक्ति अनुगम**, जो सूत्रके माध्यमसे कहने योग्य है उसे निम्नोक्त द्वारों से समझनेका प्रयास कीजीयेगा...

१.	उद्देश	१3.	किम् ?
२.	निर्देश	१४.	कतिविध ?
3.	निर्गम	१५.	कस्य ?
४.	क्षेत्र	१६.	क्व ?

५.	काल	१७.	केषु ?
६.	पुरुष	१८.	कथम् ?
७.	कारण	१९.	कियच्चिरम् ?
८.	प्रत्यय	२०.	कति
९.	लक्षण	२१.	सान्तर
१०.	नय	२२.	निरन्तर
११.	समवतार	२३.	भवाकर्ष
१२.	अनुमत	२४.	स्पर्शन
		२५.	निरुक्ति...

अब सूत्र स्पर्शिक निर्युक्ति अनुगम... सूत्रके अवयव याने एक एक पदोंका नय के माध्यमसे शंका- समाधान रूप अर्थकथन करना...

यह सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति अनुगम सूत्र के आने पर हि होता है और सूत्र तो सूत्रके अनुगम होने पर हि होता है... और यह सूत्रानुगम सूत्रोच्चारण रूप एवं पदच्छेद रूप कहा गया है...

अब चौथा अनुयोग द्वार है **"नय"**...

नय याने अनन्त धर्मवाली वस्तु-पदार्थकि कोइ भी एक धर्मको मुख्य करके कहना... समझना... जानना... उसे नय कहते हैं... और वह नैगम आदिके भेदसे सात प्रकारका है...

१.	नैगम	२.	संग्रह
3.	व्यवहार	४.	ऋजुसूत्र
५.	शब्द	६.	समभिरुढ
७.	एवंभूत-नय		

अब आचारांग सूत्रके उपक्रम आदि अनुयोग द्वारोंको यथार्थ रूपसे कहनेकी इच्छावाले निर्युक्तिकार पू. आ. देवश्री भद्रबाहु स्वामीजी म. सकल विघ्नोके विनाशके लिये मंगलाचरण एवं विद्वान लोग इस ग्रंथको पढे इसलीये संबंध - अभिधेय और प्रयोजनको कहनेवाली प्रथम गाथामें कहते हैं. वह इस प्रकार...

नि.१

सभी अरिहंत एवं सिद्धोंको तथा अनुयोग करनेवाले सभी आचार्य आदिको नमस्कार

करके परम पवित्र **आचारांग** सूत्रकी निर्युक्ति कहता हुं...

१.	मंगलाचरण...	इष्ट देव एवं गुरुजनोंको नमस्कार...
२.	अभिधेय...	आचारांग सूत्रकी निर्युक्ति कहुंगा...
३.	संबंध...	गुरुपर्वक्रमसे प्राप्त अर्थानुसार...
४.	प्रयोजन...	परोपकारके माध्यमसे मोक्षपदकी प्राप्ति...
५.	अधिकारी...	अबुध किंतु जिज्ञासु ऐसे भव्यजीव...

वन्दित्वा = वंदन करके... मन-वचन कायासे...

सर्वसिद्धान् = जिन्होंने घाति एवं अघाति सकल कर्मोका सर्वथा क्षय किया है एसे १५ भेदसे सिद्धत्वको प्राप्त सभी सिद्धोंको मन-वचन-कायासे नमस्कार करके...

जिनान् = राग-द्वेष एवं मोहको जितनेवाले १५ कर्मभूमीमें होनेवाले तीनों कालके सकल जिनेश्वर - अरिहंत परमात्माओंको मन-वचन-कायासे नमस्कार करके...

अनुयोगदायकान् = गौतम स्वामी आदि ११ गणधर तथा वीर प्रभुकी पाट-परंपराको धारण करनेवाले सुधर्मास्वामी... जंबूस्वामी... प्रभवस्वामी... शय्यंभवसूरि... एवं यशोभद्रसूरि... कि, जो चौदपूर्वधर आ. श्री भद्रबाहुस्वामीजीके गुरु हैं... उन्हे नमस्कार करके...

यहां गुरु परंपराका निर्देश करनेसे यह ज्ञात होता है कि... यहां जो भी कहेंगे वह सब कुच्छ गुरुजनोंसे उपलब्ध हुआ है वह ही कहेंगे...

वन्दित्वा = यहां "त्वा" प्रत्यय सम्बन्धक भूत कृदन्त है अतः यहां दो क्रियाओंका निर्देश होता है... जैसे कि... वन्दन करके आचारांग सूत्रकी निर्युक्ति कहुंगा...

निर्युक्ति = निश्चित अर्थको कहनेवाली युक्ति...

कीर्तयिष्ये = कहुंगा याने देव-गुरु की कृपा से जो "तत्त्वार्थ" अंतःकरणमें स्फुरायमान हो रहा है वह प्रगट रूप से आपको कहुंगा...

अब आ. **भद्रबाहुस्वामीजी** प्रतिज्ञानुसार हि निक्षेप योग्य पदोंको दुसरी गाथामें कहते हैं...

नि. २

आचार, अंग, श्रुतस्कंध, ब्रह्मचरण, शस्त्रपरिज्ञा, संज्ञा एवं दिक् ये सभी पद निक्षेप योग्य

है... इनमें से - आचार, ब्रह्मचरण, शस्त्रपरिज्ञा ये सभी शब्द नामनिष्पन्न निक्षेप योग्य हैं...

अंग, श्रुतस्कंध ये शब्द ओघनिष्पन्न निक्षेपके योग्य हैं...

संज्ञा, दिक् ये सभी शब्द सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेपके योग्य हैं...

अब इनमें से किस शब्दके कितने निक्षेप होते है यह बात निर्युक्तिकी तीसरी गाथामें कहते हैं...

नि. 3

उपर कहे गये शब्दोंमें से **चरण** पदके ६ निक्षेप एवं **दिक्** पदके सात (७) निक्षेप होते हैं... यहां क्षेत्र एवं काल आदिको यथासंभव समझीयेगा...

और शेष सभी पदोंका नाम-स्थापना-द्रव्य एवं भाव ऐसे चार-चार निक्षेप होते हैं...

नि. ४

नाम आदि चारों निक्षेपोंकी सर्वव्यापकता दर्शाते हुए पू. आ. देव श्री निर्युक्ति की चौथी गाथामें कहते हैं कि- जहां जहां चार से अधिक निक्षेपा कहे गये हो वहां वे सभी निक्षेपोंसे पदोंका अर्थ स्पष्ट करें... किंतु जिन पदोंके अधिक निक्षेप न कहे गये हो वहां नाम - स्थापना - द्रव्य एवं भाव ये चार निक्षेपा तो अवश्य कीजीयेगा...

नि. ५

अब अन्यत्र कहे गये प्रसिद्ध पदोंके अर्थकी लाघवता के लिये निर्युक्तिकार पांचवी गाथामें कहते हैं कि- आचार पदके निक्षेप हमने दशवैकालिक सूत्रके क्षुल्लकाचार अध्ययनके प्रसंगमें एवं **अंग** पदका उत्तराध्ययन सूत्रके चतुरङ्गाध्ययनके प्रसंगमें कहे हैं अतः यहां जो कुछ विशेष है वह **भावाचार** के विषयमें है, अतः भावाचार के विषयमें कहते हैं...

नि. ६

१. भावाचार का एकार्थक पर्याय शब्द...

२. भावाचार की प्रवृत्ति किस प्रकारसे हो वह...

3. भावाचारकी प्रथम अंग रूपता का कथन...

४. भावाचार के आचार्यके कितने प्रकारके स्थान...

५. भावाचार के परिमाण का कथन...

६. भावाचार का स्वरूप क्या है ? यह कथन...

७. भावाचार का समवतार कहां हो ?

८. भावाचारका सार क्या है ?

इन आठ द्वारोंसे **भावाचार** की जो विशेषता-विभिन्नता है, वह आगेकी गाथाओंमें निर्युक्तिकार कहते हैं...

नि. ७

एकार्थक पर्याय शब्द - आचार, आचाल, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, जिसका सेवन हो शके वह आचार...

वह आचार नामादिसे चार प्रकारका है... वहां नाम एवं स्थापना सुगम है... द्रव्य आचार के तीन भेद है... ? १. ज्ञ शरीर २. भव्य शरीर एवं 3. तद्व्यतिरिक्त...

तद्व्यतिरिक्त **द्रव्य आचार** निम्न प्रकारसे है...

नामन	=	नमस्कार करना...
धोयण	=	धोना = साफ - सुथरा करना...
वासण	=	सुवासित - संस्कारित करना...
शिक्षापन	=	आचार - विचार शिखाना...
सुकरण	=	अच्छा कार्य करना...
अविरोध	=	परस्पर विरोध न हो वैसे कार्य करना...

अब **भावाचार** दो प्रकारका है... १. लौकिक... और २. लोकोत्तर...

१. लौकिक... पाखंडी - संन्यासी लोग पंचरात्र आदि जो भी अनुष्ठान करतें हैं वह...

२. लोकोत्तर... ज्ञानाचारादि पञ्चाचार...

ज्ञानाचार के आठ प्रकार -

काल	विनय	बहुमान	उपधान
अनिह्नव	व्यंजन	अर्थ	तदुभय (क्रियानुष्ठान)

दर्शनाचार के आठ प्रकार -

१. शंकाका अभाव - जिनवचनमें संदेह न करें

२. कांक्षाका अभाव - अन्य मत को न चाहें

3. निर्विचिकित्सा - धर्म के फलमें संदेह न रखें

४. अमूढदृष्टिता - विवेक सदा बनाये रखें

५. उपबृंहणा - धर्मीजनोंकी प्रशंसा करें

६. स्थिरीकरण - धर्मीजनोंको धर्ममार्गमें स्थिर करें

७. वात्सल्य - धर्मीजनों प्रति सद्भाव रखें

८. प्रभावना - जीव मात्र धर्म को प्राप्त करें ऐसे भावसे धर्म-महोत्सव-प्रभावना करें...

चारित्राचारके आठ प्रकार... अष्ट प्रवचन माता...

१.	ईर्या समिति	२.	भाषा समिति
३.	एषणा समिति	४.	आदान-निक्षेप समिति
५.	पारिष्ठापनिका समिति	६.	मनोगुप्ति
७.	वचनगुप्ति	८.	कायगुप्ति...

तप-आचार के बारह (१२) भेद...

१.	अनशन	७.	प्रायश्चित
२.	ऊणोदरी	८.	विनय
३.	वृत्तिसंक्षेप	९.	वैयावच्च (वैयावृत्त्य)
४.	रसत्याग	१०.	स्वाध्याय
५.	कायक्लेश	११.	ध्यान
६.	संलीनता	१२.	कायोत्सर्ग...

वीर्याचार के अनेक भेद होते हैं किंतु संक्षेपमें तीन योगके माध्यमसे तीन प्रकार कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं...

१.	मनोयोग	=	जिनाज्ञानुसार मन का प्रवर्तन
२.	वचनयोग	=	जिनाज्ञानुसार वचन का प्रवर्तन
३.	काययोग	=	जिनाज्ञानुसार काया का प्रवर्तन

इस प्रकार के पंचाचार को प्रतिपादन करनेवाला यह ग्रंथ हि आचार है...

आचाल = जिसके द्वारा गाढ ऐसे भी कर्म नष्ट होते हैं वह आचाल...

यह नामादि भेदसे चार प्रकारका है... उनमें तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आचाल = वायु (पवन)

और भाव आचाल = पंचाचार...

आगाल = सम भूमितलमें रहना... यह नामादि भेदसे चार प्रकारका है... उनमें तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आगाल - जल का निम्नस्थानमें रहना और भाव आगाल - ज्ञानादि पंचाचार... क्योंकि यह पंचाचार रागादि रहित आत्मामें रहते हैं...

आकर - भंडार - निधि...

यह नामादि भेदसे चार प्रकारका है... उनमें तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आकर = चांदी-सोना-रत्नोंकी खदान... और भाव आकर = ज्ञानादि पंचाचार... क्योंकि यहां संवर एवं निर्जरा आदि गुणरत्नोंकी प्राप्ति होती है अतः यह आचारांग ग्रंथ हि भाव आकर है...

आश्वास - सान्त्वना = आश्वासन...

यह भी नामादि भेदसे चार प्रकारका है... तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आश्वास - नौका जहाज - द्वीप - बेट... और भाव आश्वास - ज्ञानाचारादि पंचाचार...

आदर्श - दर्पण - प्रतिबिंब देखने योग्य... यह भी नामादि भेदसे चार प्रकारका है

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आदर्श - दर्पण - काच और भाव आदर्श - यह आचारांग सूत्र हि भाव आदर्श है क्योंकि - यहां आत्माका प्रतिबिंब दिखता है...

अब **अंग** पदका अर्थ लिखते हैं...

जिससे वस्तुका स्वरूप प्रकट हो शके वह **अंग** यह भी नामादि भेद से चार प्रकारका है...

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य अंग = मस्तक - भुजा - हाथ - पांव... और

भाव अंग = ज्ञानादि पंचाचार...

आचीर्ण = आसेवन = पुनः पुनः अभ्यास...

यह नाम - स्थापना - द्रव्य - क्षेत्र - काल - भाव... ६ प्रकार...

नाम - स्थापना - सुगम है...

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आचीर्ण - सिंह आदि वन्य प्राणीयोंका तृण-घास को छोडकर मांसका भक्षण करना... क्षेत्र आचीर्ण - वाल्हीक देशमें - सक्तु = साथवा... कोंकण देशमें - पेया - राब वगैरह...

काल आचीर्ण - गरमीके दिनोंमें चंदनका द्रव सरस सुगंधी पाटल - शीरिष - मल्लिकादि पुष्प एवं सुगंधी मलमलके बारीक वस्त्र...

भाव आचीर्ण - ज्ञानाचारादि पंचाचार... और उनका प्रतिपादक यह आचारांग ग्रंथ...

आजाति - उत्पन्न होना... जन्म देना...

यह भी नामादि भेदसे चार प्रकारसे है...

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आजाति = मनुष्य आदि जन्म और भाव-आजाति = पंचाचारको उत्पन्न करनेवाला यह आचारां ग्रंथ...

आमोक्ष - मुक्त थवुं ते मोक्ष-

यह भी नामादि भेदसे चार प्रकारका है...

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य आमोक्ष - केदखाना - बेडी से मुक्ति... और

भाव आमोक्ष - आठ प्रकारके कर्मोसे मुक्तिके कारण स्वरूप यह आचारांग ग्रंथ....

यह सभी पद एकार्थक हि है... क्योंकि- कुछ विशेषता को छोडकर सभी से एक हि कार्य पंचाचार सिद्ध होता है... जैसे कि- इंद्र के पर्यायार्थक शक्र... पुरंदर... वगैरह...

नि. ८

सभी तीर्थंकरों के गणधर तीर्थ प्रवर्तनके समय सर्व प्रथम आचारांग सूत्र कहते हैं और बादमें शेष ग्यारह अंग सूत्र गुंथतें हैं...

नि. ९

बारह अंग सूत्रमें आचारांग सूत्र प्रथम कहनेका कारण यह है कि- पंचाचार हि मोक्षका उपाय है और यह आचारांग सूत्र हि चरण-करण का प्रतिपादन करता है... और जो साधु पंचाचारमें स्थिर होता है वह हि शेष ग्यारह अंगसूत्रोंको पढनेके लिये योग्य हो सकता है... इसीलीये हि द्वादशांगीमें सर्व प्रथम आचारांग सूत्र लिखा है...

अब "गणी" द्वार कहते हैं

गण याने साधुओंका समूह अथवा गुणोंका समूह... ऐसा गण है जिन्हें वे "गणी" कहलाते है...

जो साधु पंचाचार में स्थिर होता है उसे हि "गणी" पद दीया जाता है... यह बात निर्युक्तिमें कही है...

नि. १०

जो साधु आचारांग सूत्र पढता है वह हि पंचाचार अथवा क्षमा आदि को अच्छी तरह से जानता है, इसीलिये जो साधु पंचाचार में स्थिर है उसे हि सर्व प्रथम गणी पद दीया

जाती है...

इस आचारांग सूत्रका प्रमाण अध्ययन एवं पदके माध्यमसे बताते हुए नियुक्तिकार कहते हैं कि-

नि. ११

इस आचारांग सूत्रमें ब्रह्मचर्य नामके नव अध्ययन हैं और पद की गीनती से १८००० पद प्रमाण यह सूत्र है... तथा हेय एवं उपादेय का बोध जिससे हो ऐसे इस आचारांग सूत्रको वेद भी कहते हैं... पंचाचार वास्तवमें आत्माके क्षयोपशम भाव स्वरूप हि है... और इस सूत्रमें पांच चूलिका भी संमीलित हैं...

चूडा याने चूलिका... सूत्रमें जो अर्थ कहा गया है, उसमें जो शेष रह गया है वह चूलिका में लिखा है...

प्रथम चूलिकामें सात अध्ययन है... उनके नाम निम्नप्रकारसे है

१. पिंडैषणा

२. शय्यैषणां

3. ईर्या

४. भाषा

५. वस्त्रैषणा

६. पात्रैषणा

७. अवग्रह प्रतिमा...

द्वितीय चूलिका "सप्त सप्तिका" नाम से है
तृतीय चूलिका का नाम "भावना" है
चतुर्थ चूलिका का नाम "विमुक्ति" है एवं
पंचम चूलिका का नाम है "निशीथ-अध्ययन"

आचारांग सूत्रके प्रथम श्रुतस्कंधमें नव अध्ययन है
आचारांग सूत्रके द्वितीय श्रुतस्कंधमें १-२-3-४ चूलिका है...

निशीथाध्ययन स्वरूप पंचम-चूलिकाके प्रक्षेपसे यह आचारांग सूत्र पद परिमाणकी दृष्टिसे बहुतर हुआ है और अनंत गम एवं पर्याय स्वरूप दृष्टिसे "बहुतम" हुआ है...

अब उपक्रमके अंतर्गत समवतार द्वार कहते हैं... यह पांच चूलिकाएं जिस प्रकार नव

ब्रह्मचर्यके अध्ययनोमें समावेश पाती हैं वह निर्युक्तिकार स्वयं निर्युक्ति-गाथाओंसे कहते हैं...

नि. १२

पंचाचार प्रधान यह चूलिकाएं ब्रह्मचर्य में समाविष्ट होती हैं... और यह संग्रहित ब्रह्मचर्य शस्त्रपरिज्ञामें समाविष्ट हुआ है...

नि. १३

इस शस्त्रपरिज्ञाका अर्थ छःह (६) जीवनिकायमें समवतरित हुआ, और छ जीव निकायका अर्थ पांच महाव्रतमें समवतरित हुआ है...

नि. १४

पांच महाव्रत धर्मास्तिकायादि ६ द्रव्योमें, और सभी द्रव्योंके अगुरुलघु आदि पर्यायोंके अनन्तवे भागमें व्रतोंका अवतार हुआ है...

महाव्रतोंका सभी द्रव्योंमे अवतार किस प्रकारसे होता है ? यह बात कहते हुए कहते हैं कि-

नि. १५

प्रथम महाव्रतमें ६ जीवनिकाय...
द्वितीय एवं पंचम महाव्रतमें सभी द्रव्य...
एवं तृतीय तथा चतुर्थ महाव्रत का समवतार इन सभी द्रव्यों के एक भागमें...

महाव्रतोंका समवतार सभी द्रव्योंमें होता है किंतु सभी पर्यायोंमें नहिं... ऐसा क्यों ?

इस बातका उत्तर देते हुए कहते हैं कि- संसारके अनन्तानन्त जीवात्माओंमें सभी मिलकर **असंख्यात संयमस्थान** हैं उनमें से **जघन्य संयमस्थान** में अविभाग-पलिच्छेदवाली बुद्धिसे यदि विभाग करें तब पर्यायकी दृष्टिसे **अनन्त अविभाग पलिच्छेद** होतें हैं यह बात पर्यायकी दृष्टिसे कही, और वे सर्व आकाश प्रदेशोंकी संख्यासे अनंतगुण होतें हैं... अर्थात् सर्व आकाश प्रदेशोंका वर्ग करने पर जो संख्या प्राप्त हो उतना हि प्रथम संयम स्थानमें अविभाग पलिच्छेद होतें है... उसके बाद दुसरे तीसरे इत्यादि असंख्य संयम स्थानोमें अनंतभाग अधिक आदि वृद्धिसे षड्स्थानों (छट्ठाणवडिया) के असंख्येय स्थानवाली श्रेणी होती है... इस प्रकार सर्व पर्यायवाले एक भी संयमस्थानको जानना छद्मस्थ लोगोंके लिये अशक्य है... तो फिर सभी संयम स्थानोंको जानना कैसे शक्य होगा ? अतः ऐसे अन्य कौनसे पर्याय हैं ? कि- जिसके अनंतवे भागमें व्रतोंका रहना होता है ? तो हां ! कुछ पर्याय ऐसे हैं कि- उन्हें जाने जा शकतें हैं, किंतु शेष अन्य सभी पर्याय तो **केवलज्ञानी** हि जानतें हैं...

यहां सारांश यह है कि- केवलज्ञान-गम्य अप्रज्ञापनीय पर्यायोंको उसमें प्रक्षेप करनेसे बहुत्व याने वे पर्याय बहोत सारे हुए... इसी प्रकार भी ज्ञान और ज्ञेयकी तुल्यताके कारणसे भी वे दोनों परस्पर तुल्य है अतः अनन्तगुण नहि है...

यहां आचार्य कहते हैं कि- जो यहां संयमस्थान श्रेणी कही वे सभी ज्ञान-दर्शनके पर्यायोंके साथ चारित्र पर्यायोंसे परिपूर्ण है अतः तत्प्रमाण याने सर्व आकाश प्रदेशोंसे अनंतगुण है... और यहां इस ग्रंथमें तो मात्र चारित्रमें उपयोगी होने से पर्यायोंके अनंतवे भागमें व्रतोंका रहना युक्ति युक्त हि है... ऐसा कहनेमें कोइ दोष नहि है...

अब "सार" द्वार को कहते हैं... किसका क्या सार है ?

नि. १६

द्वादशांगीका सार है	आचार...
आचार का सार है	अनुयोग...
अनुयोग का सार है	प्ररूपणा = व्याख्यान...

नि. १७

प्ररूपणाका सार है	चारित्र
चारित्र का सार है	निर्वाण (मोक्ष)
मोक्ष याने निर्वाणका सार है	अव्यबाध सुख...

यह सभी बातें जिनेश्वरोंने कही है...

अब "श्रुत" एवं "स्कंध" पदके नामादि निक्षेप पूर्वकी तरह स्वयं हि करें...

यहां भावश्रुतस्कन्ध ब्रह्मचर्यका अधिकार है, अतः ब्रह्म एवं चरण पदका निक्षेप कहते हैं...

नि. १८

"ब्रह्म" पद के नामादि चार निक्षेप...

१. नाम ब्रह्म... = "ब्रह्म" ऐसा कीसीका भी नाम...

२. असद्भाव स्थापना ब्रह्म... अक्ष आदिमें...

3. सद्भाव स्थापना ब्रह्म... यज्ञोपवीतादि युक्त ब्राह्मणकी आकृति. चित्र या प्रतिमा... अथवा स्थापना ब्रह्म - ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका व्याख्यान

यहां प्रासंगिक ७ वर्ण एवं ९ वर्णांतरोंकी उत्पत्ति कहते हैं...

नि. १९

जब तक भगवान् ऋषभदेव राजलक्ष्मीके पद स्वरूप राजा नहि बने थे तब तक

मनुष्योंकी एक हिं जाति थी...

जब ऋषभदेव राजा बने तब जो लोग ऋषभदेव राजाके आश्रित रहे वे **क्षत्रिय** कहे गये... शेष सभी लोग शोचन-रोदन के कारण से **शुद्र**...

जब अग्निकाय की उत्पत्ति हुई तब लुहार आदि शिल्प एवं व्यापार की प्रवृत्तिके कारण से **वैश्य**...

जब भगवान् ऋषभदेव को दीक्षा लेनेके बाद केवलज्ञान हुआ तब भरत चक्रवर्तीने काकिणी रत्नसे जिन्हें तीन रेखा अंकित करी, वे श्रावक हि **ब्राह्मण** बने

यह चार वर्ण शुद्ध है... शेष सभी वर्ण वर्ण-वर्णांतर से बने हैं...

नि. २०

वर्ण-वर्णांतर के संयोगसे १६ वर्ण बने... उनमें से सात वर्ण एवं नव वर्णांतर है... ये दोनों विभागको स्थापना ब्रह्म कहते हैं...

अब पूर्व सूचित ४+३ वर्ण अर्थात् ७ वर्ण कहते हैं...

नि. २१

१. ब्राह्मण, २. क्षत्रिय, ३. वैश्य एवं ४. शुद्र यह चार प्रकृतिं याने वर्णोंमें अन्यतरके योगसे ३ वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है... वह इस प्रकार...

१. ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रिय स्त्रीसे... श्रेष्ठ क्षत्रिय अथवा शंकर क्षत्रिय...

२. क्षत्रिय के द्वारा वैश्य स्त्री से... श्रेष्ठ वैश्य अथवा शंकर वैश्य...

३. वैश्यके द्वारा शुद्र स्त्री से... श्रेष्ठ शुद्र अथवा शंकर शुद्र...

इस प्रकार ४ शुद्ध वर्ण + ३ वर्णशंकर = ७ वर्ण हुए...

अब वर्णांतरके नव प्रकार कहते हैं...

नि. २३

१.	ब्रह्म पुरुष	+	वैश्य स्त्री	=	अंबष्ठ
२.	क्षत्रिय पुरुष	+	शुद्र स्त्री	=	उग्र
३.	ब्राह्मण पुरुष	+	शुद्र स्त्री	=	निषाद / परासर

नि. २४

४.	शुद्र पुरुष	+	वैश्य स्त्री	=	अयोगव
५.	वैश्य पुरुष	+	क्षत्रिय स्त्री	=	मागध

६.	क्षत्रिय पुरुष	+	ब्राह्मण स्त्री	=	सूत
७.	शुद्र पुरुष	+	क्षत्रिय स्त्री	=	क्षत्र
८.	वैश्य पुरुष	+	ब्राह्मण स्त्री	=	वैदेह

नि. २५.

१.	शुद्र पुरुष	+	ब्राह्मण स्त्री	=	चांडाल

इस प्रकार यहां ४ + ३ + १ = १६ वर्ण हुए...

अब वर्णांतरोंके संयोगसे होनेवाले प्रकार कहते हैं...

नि. २६

१.	उग्र पुरुष	+	क्षत्रा स्त्री	=	श्वपाक
२.	विदेह पुरुष	+	क्षत्रा स्त्री	=	वैणव
३.	निषाद पुरुष	+	अंबष्ठ स्त्री या शुद्र स्त्री	=	बुक्कस

नि. २७

४.	शुद्र पुरुष	+	निषाद स्त्री	=	कुक्कुरक

इस प्रकार अन्य चार प्रकार भी होते हैं...

अब द्रव्य ब्राह्मण निक्षेप के उत्तर भेद कहते हैं...

१. ज्ञ शरीर २. भव्यशरीर ३. तद्व्यतिरिक्त...

१. ज्ञ शरीर = ब्राह्मण का मृतक कलेवर...

२. भव्य शरीर = ब्राह्मण होनेवाला बालक...

३. तद्व्यतिरिक्त = मिथ्या-ज्ञानवाले शाक्य-परिव्राजक आदि संन्यासीओका बस्तिनिरोध-क्रिया... तथा विधवा एवं देशांतर गये हुए पतिवाली स्त्रीओंका कुल की व्यवस्थाके लिये कारित एवं अनुमति स्वरूप ब्रह्मचर्य...

भाव ब्रह्म निक्षेप - साधुओंका बस्ति निरोध... याने
१७ प्रकारका संयम... तथा
१८ प्रकारके अब्रह्मका त्याग...

देव संबंधि कामरति सुखका त्रिविध त्रिविध से... एवं औदारिक संबंधि कामरति सुखका त्रिविध त्रिविध से... अतः ३ × ३ = ९ + ९ = १८ प्रकार से कामरति भोग सुखका त्याग...

अब "चरण" पदके निक्षेप कहते हैं...

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव = ६ प्रकारसे "चरण" पदके निक्षेप होते हैं...

नाम-स्थापना सुगम है...

द्रव्य चरण निक्षेप में तद्व्यतिरिक्त के 3 प्रकार...

१. गति द्रव्य चरण = गमन - आगमन...

२. आहार द्रव्य चरण = मोदक आदि भोजन...

3. गुण द्रव्य चरण के दो प्रकार है...

 १. लौकिक २. लोकोत्तर...

१. लौकिक गुण द्रव्य चरण = धनोपार्जनके लिये हाथी एवं घोडे आदि की शिक्षा...

२. लोकोत्तर गुण द्रव्य चरण = अनुपयुक्त दशामें होनेवाले साधुओंका व्रत पालन... अथवा उदायि राजाको मारनेवाले विनयरत्न साधुना चारित्र...

क्षेत्र चरण निक्षेप = जिस क्षेत्रमें विहार तथा आहारके लिये गोचरी जाना... अथवा जहां चरण पद का व्याख्यान कीया जाय वह क्षेत्र... शब्दकी समानता से गेहुं चावल आदिके क्षेत्रमें विचरण...

काल चरण निक्षेप = क्षेत्र चरण निक्षेपकी तरह... जिस कालमें विहार एवं गोचरी गमन हो... अथवा जिस कालमें चरण पदका व्याख्यान कीया जाय...

अब भाव चरण निक्षेप कहते हैं...

नि. 30

भाव चरण निक्षेप भी गति आहार एवं गुण के भेदसे तीन प्रकारका है

१. गति भाव चरण - ईर्यासमिति में उपयोगवाले साधुका युग (3.१/२ हाथ) प्रमाण दृष्टिसे गमन...

२. आहार भाव चरण - एषणासमिति में उपयुक्त साधुका शुद्ध अशन-पान आदिका भोजन...

3. गुण भाव चरण निक्षेपके दो भेद है...

 १. अप्रशस्त गुणभावचरण - मिथ्या दृष्टिओंका-आचार... और सम्यग्दृष्टिओंका - पौद्गलिकसुखकी कामना से नियाणा वाला आचार-तपश्चर्या...

२. प्रशस्त गुण भाव चरण - सम्यग्दृष्टिओंका (आत्मिक सुखके लिये) आठों कर्मोंके विनाशके लिये मूल गुण एवं उत्तर गुण स्वरूप चारित्रका आचरण...

इस प्रस्तुत आचारांग सूत्रमें यही प्रशस्त गुण भाव चरण का अधिकार है, इसलिये इस सूत्रके मूल एवं उत्तर गुणोंके प्रतिपादक सभी (नव) अध्ययनों का परिशीलन कर्मोंकी निर्जरा के लिये ही करना चाहीये...

सार्थक नामवाले नव अध्ययनोंका नाम-निर्देश निर्युक्तिकी गाथाओंमें बतातें हैं...

नि. ३१

१. शस्त्रपरिज्ञा
२. लोकविजय
३. शीतोष्णीय
४. सम्यक्त्व
५. लोकसार
६. धूत
७. महापरिज्ञा
८. विमोक्ष
९. उपधानश्रुत

नि. ३२

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंधके नव अध्ययन स्वरूप आचारांग सूत्र है... एवं द्वितीय श्रुतस्कन्धमें चार चूलिका - (१६ अध्ययन) में इसी हि पंचाचारकी विशेष बात कही है...

अब उपक्रमके अंतर्गत अर्थाधिकार कहते हैं... इसके दो भेद है...

१. अध्ययनार्थाधिकारं...
२. उद्देशार्थाधिकार...

अब प्रथम शस्त्र परिज्ञा आदि नव (९) अध्ययनोके **अर्थाधिकार** कहते हैं...

नि. ३३/३४

१. पृथ्वीकायादि जीवोंको पीडा न हो ऐसा संयम... अर्थात् पृथ्वीकायादि जीवोंकी हिंसा न करें... ऐसा संयम जीवन जीवोंकी अस्तित्वके विज्ञानसे हि हो शके... अतः जीवोंका अस्तित्व एवं जीवोंकी हिंसा से विरमण का प्रतिपादन हि यहां **शस्त्रपरिज्ञा नामके प्रथमाध्ययनका अर्थाधिकार है...**

२. **लोकविजय नामके द्वितीय अध्ययनमें**... लोक याने जीव जिस प्रकार आठों कर्मोका बंध करता है... और जिस प्रकार आठों कर्मोसे मुक्त होता है... यह सभी बातें मोहको जीतकर संयममें रहा हुआ साधु अच्छी तरह से जाने... यह ऐसा अर्थाधिकार लोकविजय अध्ययनका है...

3. **शीतोष्णीय नामके तृतीय अध्ययन** में कहा है कि- चारों कषायोंको जीतकर संयममें रहा हुआ साधु अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्ग तथा क्षुधा-पिपासा आदि २२ परीषहोंको सौम्य भाव से सहन करे...

४. **सम्यक्त्व नामके चौथे अध्ययन** में कहा है कि- पूर्वोक्त तीनों अध्ययनमें कहे संयमगुणसे संपन्न साधु... तापस आदिको अज्ञान कष्ट-तपश्चर्याके सेवनसे होनेवाले पौद्गलिक आठ सिद्धिओंके गुण एवं ऐश्वर्यको देखकर संमोहित न हो, किंतु सम्यग्दर्शनको दृढ करें...

५. **लोकसार नामके पांचवे अध्ययन** में कहा है कि- पूर्वोक्त चारों अध्ययनार्थसे संपन्न साधु... पौद्गलिक असार समृद्धिका त्याग करके लोकमें सार स्वरूप ज्ञानादि तीन रत्नोंमें सदैव उपयोगवाला रहे...

६. **धूत नामके छट्ठे अध्ययन** में कहा है कि- पूवोक्त १ से पांच अध्ययनोंके अर्थमें सावधान ऐसा साधु... निःसंग एवं अप्रतिबद्ध रूप से रहे...

७. **महापरिज्ञा नामके सातवे अध्ययन** में कहा है कि- संयमगुणमें रहा हुआ साधु... जब कभी भी परीषह एवं उपसर्गोंका प्रसंग उपस्थित हो तब सावधानी से कर्मनिर्जराकी शुभ दृष्टिसे उन्हें सहन करें...

८. **विमोक्ष नामके आठवे अध्ययन** में कहा है कि- पूर्वोक्त सर्व गुण युक्त ऐसा साधु... अच्छी तरहसे निर्याण = निर्वाण पद प्राप्त हो शके ऐसी अंतक्रिया = संलेखना करे...

९. **उपधानश्रुत नामके नववे अध्ययन** में कहते हैं कि- पूर्वोक्त आठों अध्ययनों में कहे गये अर्थ याने संयमगुणको श्री महावीर प्रभुने पूर्ण रूप से आत्मसात् किया है... ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि- सभी साधु सदैव हि उत्साह के साथ पंचाचारका आदर करें...

जब चार ज्ञानवाले, देवोंसे पूजित, एवं निश्चित रूपसे मोक्ष पद पानेवाले तीर्थंकर प्रभु भी छद्मस्थ अवस्थामें सभी बल एवं पुरुषार्थके साथ सामायिक चारित्रमें उद्यम करते हैं...

तब अनेक उपद्रववाले मनुष्य जन्ममें परम पुरुषार्थसे साधु जीवनको पाकर सकल दुःखोंके क्षयमें कारणभूत संयम-चारित्रमें सुविहित साधुओंको क्या उद्यम नहिं करना चाहिये ?

अपि तु करना चाहीये...

अब उद्देशार्थाधिकार कहते हैं...

शस्त्रपरिज्ञा नामके अध्ययनमें सात (७) उद्देशा है...

१. प्रथम उद्देशमें सामान्यसे जीवका अस्तित्व बताया है...

२. पृथ्वीकाय का स्वरूप

३. अप्‌काय (जल) का स्वरूप

४. अग्निकाय का स्वरूप

५. वनस्पतिकाय का स्वरूप

६. त्रसकाय का स्वरूप

७. वायुकाय का स्वरूप

इस प्रकार २ से ७ याने ६ उद्देशमें विशेष रूपसे पृथ्वीकाय-अप्‌काय-अग्निकाय-वायुकाय-वनस्पतिकाय एवं त्रसकायका अस्तित्व कह कर, उनकी हिंसा से कर्मबंध होता है अतः उनकी हिंसा न करें ऐसा चारित्रका प्रतिपादन किया है...

सारांश यह हुआ कि- जीव है...

जीवको हिंसा से कर्मबंध...

और जीवोंकी हिंसा न करने से विरति = चारित्र...

और चारित्र से मोक्षपद = निर्वाण...

शस्त्र एवं परिज्ञा इन दो पदोंमें से प्रथम शस्त्र पदके निक्षेप करते हैं...

नि. ३६

शस्त्र पदका नामादि भेदसे चार निक्षेप होते हैं... नाम- स्थापना सुगम है...

द्रव्य शस्त्र - ज्ञ शरीर, भव्य शरीर, तद्व्यतिरिक्त... तद्व्यतिरिक्त द्रव्य शस्त्र- खड्ग = तलवार, अग्नि, विष (जहर), स्नेह, अम्ल, क्षार एवं लवण (नमक) आदि

भाव शस्त्र - दुष्ट अंतःकरण तथा वाणी एवं काया का असंयम... क्योंकि इन मन-वचन-कायाके दुष्ट प्रयोगसे जीवोंकी हिंसा होती है...

नि. ३७

परिज्ञा पद के भी चार निक्षेपे होते हैं... नाम - स्थापना सुगम है...

द्रव्य परिज्ञा के दो भेद है

१. ज्ञ परिज्ञा... २. प्रत्याख्यान परिज्ञा...

१. ज्ञ परिज्ञा के दो भेद... १. आगम से... २. नो आगम से... आगम से ज्ञ परिज्ञा = ज्ञाता किंतु अनुपयोगी... नो आगम से ज्ञ परिज्ञा = तीन प्रकार से है...

१. ज्ञ शरीर... २. भव्य शरीर... ३. तद्व्यतिरिक्त...

१. ज्ञ शरीर... ज्ञ परिज्ञा पदके ज्ञाताका मृतक-कलेवर.

२. भव्य शरीर... ज्ञ परिज्ञा को जो समझेगा वह बालक...

३. तद्व्यतिरिक्त ज्ञ परिज्ञा - जानने योग्य सचित्त आदि वस्तु = द्रव्य, यह द्रव्य परिज्ञा है...

प्रत्याख्यान परिज्ञाके भी इसी हि प्रकार से चार निक्षेप है... नाम - स्थापना - सुगम है...

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य प्रत्याख्यान परिज्ञा - चारित्र के साधन मनुष्य देह (शरीर) एवं रजोहरण आदि उपकरण...

भाव परिज्ञा - भी दो प्रकार से है...

१. ज्ञ परिज्ञा... २. प्रत्याख्यान परिज्ञा...

आगम से भाव ज्ञ परिज्ञा = ज्ञाता एवं उपयोगी...

नो आगम से भाव ज्ञ परिज्ञा = यहां नो शब्द मिश्रत्वका वाचक है अतः ज्ञान एवं क्रिया स्वरूप यह अध्ययन हि नोआगम से भाव ज्ञ परिज्ञा है...

प्रत्याख्यान भाव परिज्ञा भी इसी प्रकार हि है...

१. आगम से... ज्ञाता एवं उपयुक्त...

२. नो आगम से... प्राणातिपात (हिंसा) से निवृत्ति याने मन, वचन एवं कायासे करण, करावण एवं अनुमोदन रूप से शुभ व्यापार = पंचाचार...

इस प्रकार यहां नाम निष्पन्न निक्षेप पूर्ण हुआ...

अब सुगमता से जानकारी हो इसलिये दृष्टांत = कथानकके माध्यमसे आचारांग आदि सूत्रोंके प्रदानकी विधि कहते हैं...

जैसे कि - कोइ एक राजा नये नगर की स्थापनाकी इच्छासे भूमिके खंडों को समान

रूपसे विभाग करके प्रकृति = प्रजा याने नगरवासी-नागरिकोंको बांट दिया... और कचरेको दूर करके साफ - सफाइ रखना... तथा शल्योद्धार एवं भूमिका स्थिरीकरण करके पक्की इंटोसे भूमितल तथा मकान बनाना और सुवर्ण-मणि-रत्नोंका ग्रहण करनेका आदेश दीया... नागरिकोंने भी राजाके उपदेशानुसार वैसा हि किया... अतः सभी लोग सुख-चैन से सुख-भोगको पाकर सुखी हुए...

यहां यह अर्थोपनय है...

राजा के समान आचार्य - गुरु, एवं प्रजा - नागरिक समान शिष्य - साधुगण.. भूमि खंड (प्लोट) समान... संयम - चारित्र... और मिथ्यात्व आदि दोष समान कचरे को दूर करके... सर्व प्रकार से विशुद्ध संयम - चारित्रका आरोपण करे... तथा उस सामायिक - संयम को स्थिर करके... पक्की इंटोसे भूमितल समान महाव्रत का आरोपण करके प्रासाद = महल-मकान समान यह पंचाचार स्वरूप आचार याने चारित्रधर्मका आदर करें... यहां रहे हुए साधुगण शेष सभी शास्त्र स्वरूप रत्न - मणी - सुवर्णका ग्रहण करते हैं और क्रमशः सकल पापकर्मोंके क्षय से निर्वाण - मोक्ष पद पाते हैं...

अब सूत्रानुगम के प्रसंगमें शुद्ध उच्चार से = बोलने में और सुनने में स्खलना न हो इस प्रकारसे सूत्रका पाठ = उच्चार करें...

अल्प = छोटा सूत्र एवं महान् = लंबा अर्थ... तथा सूत्र ३२ दोषोंसे रहित होता है एवं छंद-अलंकार आदि पैंतीस (३५) वाणी गुण - लक्षण युक्त सूत्र होता है... एवं ८ गुणवाला भी सूत्र होता है...

I सूत्र ॥ १ ॥

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं - इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ ।

II संस्कृत-छाया :

श्रुतं मया आयुष्मान् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् । इह एकेषां नो संज्ञा भवति।

III शब्दार्थ :

आउसं ! =हे आयुष्मन् ! । **मे सुयं**=मैंने सुना है । **तेणं भगवया**=उस भगवान ने । **एवमक्खायं**=इस प्रकार कथन किया है । इहं=इस संसार **में** । **एगेसिं**=किन्हीं जीवों को । **णो**=नहीं । **सण्णा**=संज्ञा-ज्ञान । **भवइ**=होता है ।

IV सूत्रार्थ :

हे आयुष्यमान् ! जंबूकुमार ! उस भगवान् महावीर प्रभुने ऐसा कहा है कि- इस विश्वमें कितनेक लोगोंको समझ याने विज्ञान नहिं है...

V टीका-अनुवाद :

संहितादिके क्रमसे टीकाकार महर्षि इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं -

१. संहिता = शुद्ध पदोंका शुद्ध - स्पष्ट उच्चार...

२. पद = श्रुतं मया आयुष्यमन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम् - इह एकेषां नो सञ्ज्ञा भवति ।

इस सूत्र में क्रियापद एक हि है... शेष सभी नामपद है

यह पदच्छेदके साथ सूत्रानुगम हुआ... इस प्रकार इस ग्रंथके अंत तक सूत्रानुगम कीजीयेगा...

3. पदार्थ = श्रुतं = सुना है... यह बात पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने अंतेवासी शिष्य जंबूस्वामीजीको कहते हैं कि-

श्रुतम् = सुना है, जाना है, याद रखा है, यह कहनेसे यह फलित हो रहा है कि- मैं जो कुछ कहुंगा वह परमात्मा महावीर प्रभुसे जो सुना है वह हि कहुंगा... इससे मानसिक कल्पना = विकल्पोंका निरास कीया है...

मया = मैंने साक्षात् वीरप्रभुके मुखसे सुना है... परंपरासे अर्थात् यह सुनी-सुनाइ बातें नहि है...

आयुष्यमान ! दीर्घायुवाले ! अर्थात् उत्तम जाति-कुल आदि होते हुए भी आयुष्य लंबा होना भी जरुरी है... शिष्य यदि दीर्घायु हो तब हि निरंतर अपने शिष्योंको उपदेश दे शकते हैं...

यहां आचारांग सूत्रकी व्याख्या करते हैं... जिसका अर्थ स्वयं तीर्थंकर प्रभुने हि कहा है... इस संबंधसे अब "तेन" पद आया है...

तेन = वह उस तीर्थंकर प्रभुजीने कहा है... अथवा तो-

आमृशता = प्रभुजीके चरणकमलकी सेवा करते करते... इस प्रकारकी व्याख्या से विनय कर्म बताया...

आवसता = गुरुकुलवासमें रहते हुए, अर्थात् प्रभुजीके पास रहते रहते... इससे "गुरुकुलवास करना चाहीये" यह स्पष्ट हुआ... ये दो प्रकारकी व्याख्या पाठांतर

स्वरूप है...

भगवता = भग = ऐश्वर्य आदि छ (६) पदार्थ... जिनके पास हो वह भगवान् होते है, उन्होंने... एवम् = ''इस प्रकार'' याने इस ग्रंथमें जो कुछ कहा है उस प्रकार

आख्यातम् = कहा है... इससे यह फलित हुआ कि- आगम अर्थसे नित्य है... अर्थात कृत्रिम याने अनित्य नहिं...

इह - इस विश्वमें - क्षेत्र में - प्रवचनमें - आचारांग सूत्रमें अथवा तो शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में... कहा है... ऐसा क्रियापदका संबंध जानीयेगा... अथवा तो

इह = इस संसार में

एकेषाम् = ज्ञानावरणीयादिकर्मोंसे घेरे हुए कितनेक जीवोंको

नो सञ्ज्ञा भवति = यहां संज्ञा - समझ - स्मरण - और जानकारी ये सभी शब्द एकार्थक है... अर्थात् - समझ नहिं है...

यहां तक ''पदार्थ'' कहा... अब पदविग्रह-

४. पदविग्रह - इस सूत्रमें सामासिक पद न होने के कारणसे पदविग्रह नहिं दिखाया जाएगा...

५. चालना - यहां शिष्य प्रश्न करता है कि- अकारादिक प्रतिषेधक लघु शब्द होते हुए भी प्रतिषेध के लिये नो शब्दको क्यों ग्रहण कीया ?

६. प्रत्यवस्थान - प्रश्नका जवाब देते हुए कहते हैं कि- आपकी बात सही है... किंतु बहुत हि आगे-पीछेकी लंबी दृष्टिको ध्यानमें लेकर हि नो शब्द का ग्रहण कीया है... वह दृष्टि इस प्रकार है- यदि अ या न वगैरह प्रतिषेधक शब्दको ग्रहण करतें तब सर्व प्रकारसे निषेध हो जाता है... जैसे कि- न घटः = अघटः - ऐसा कहने से घडेका सर्व प्रकारसे निषेध हो जाता है... किंतु हमें इस प्रकारका सर्व-निषेध इष्ट नहिं है... क्योंकि- प्रज्ञापना- सूत्रमें कहा है कि- सभी जीवोंको दश संज्ञा होती है...

अतः उन सभी का भी प्रतिषेध हो जाता है... इसलिये यहां सूत्रमें नो-शब्द देश-निषेध के लिये ग्रहण कीया है...

वे दस संज्ञा निम्न प्रकारसे है... श्री गौतम स्वामीजी, श्री महावीर स्वामीजीसे पुछते हैं कि- हे भगवन् ! संज्ञा कितनी कही गइ है ?

हे गौतम ! संज्ञा दश है...

१.	आहार संज्ञा	=	खाने की इच्छा = अभिलाषा...
२.	भय संज्ञा	=	डरना - गभराना - भयाकुल होना...
३.	मैथुन संज्ञा	=	कामक्रीडा - कामभोगकी इच्छा...
४.	परिग्रह संज्ञा	=	वस्तु - पदार्थकि संग्रहकी इच्छा
५.	क्रोध संज्ञा	=	क्रोध करना - गुस्सा करना...
६.	मान संज्ञा	=	अभिमान करना
७.	माया संज्ञा	=	माया - कपट करना - ठगना...
८.	लोभ संज्ञा	=	पौद्गलिक पदार्थोंकी इच्छा - आसक्ति...
९.	ओघ संज्ञा	=	विशेष समझके विना सामान्यसे इच्छा...
१०.	लोक संज्ञा	=	लोक व्यवहारको अनुसरना...

इन दश संज्ञाओंका सर्वथा प्रतिषेध करने से दोष लगता है, क्योंकि सभी जीवोंको इन दश संज्ञाओं में से कितनीक संज्ञाएं तो होती हि हैं... इसलिये नो-शब्दसे देश-प्रतिषेध किया है...

यह नो-शब्द सर्व-निषेध एवं देश-निषेध वाचक है...

वह इस प्रकार - "नो-घटः" ऐसा कहनेसे श्रोता को घट का सर्वथा अभाव हि प्रतीत होगा... और कहनेवाले का भी यह हि अभिप्राय होता है...

कहा भी है कि- नो-शब्द प्रस्तुत अर्थका समस्त प्रकारसे निषेध करता है; और उसके कुछ अवयव अथवा अन्य धर्मोंका सद्भाव भी बताता है...

अतः यहां इस सूत्रमें नो-शब्द सर्व संज्ञाओंका निषेध नहिं करता किन्तु विशिष्ट संज्ञा का हि निषेध करता है, जैसे कि- जिससे आत्मा आदि पदार्थोंका स्वरूप एवं गति-आगति इत्यादिका ज्ञान हो ऐसी संज्ञा का निषेध बताते हैं...

अब निर्युक्तिकार हि सूत्रके अवयवों के = पदों के निक्षेपार्थ को कहते हैं...

नि. ३८

नामादि भेदसे संज्ञा के चार निक्षेप होते हैं

नाम-स्थापना - सुगम है...

द्रव्य संज्ञा - ज्ञ शरीर - भव्य शरीर - तद्व्यतिरिक्त भेदसे तीन प्रकार है...

तद्व्यतिरिक्त द्रव्य संज्ञा के तीन भेद... सचितादि प्रकारसे...

१. सचित - हाथ से संकेत - इसारा - अथवा सचित आहार - पानी की संज्ञा = इच्छा = अभिलाषा...

२. अचित - ध्वज आदि से देवमंदिरका संकेत...

3. मिश्र - प्रदीप याने दीपक के द्वार संकेत (इसारे) को समझना...

भाव संज्ञा भी दो प्रकारसे है...

१. अनुभव - भाव - संज्ञा...

२. ज्ञान - भाव - संज्ञा...

१. अब यहां अल्प व्याख्यावाली प्रथम ज्ञानसंज्ञा कहते हैं... और वह मतिज्ञानादि भेदसे पांच प्रकारकी है... उनमें भी केवलज्ञान संज्ञा = क्षायिक भाववाली है... मति - श्रुत - अवधि - मनःपर्यवज्ञान = क्षयोपशमभाववाले है...

२. अनुभव भाव संज्ञा = जीवोंको अपने कीये हुए कर्मोंके उदयसे होनेवाली संज्ञाको अनुभवभाव संज्ञा कहते हैं...

इस अनुभव संज्ञा के सोलह (१६) भेद है...

नि. ३९

१. आहार संज्ञा - आहार की अभिलाषा - यह आहारसंज्ञा तैजस शरीर तथा असातावेदनीय कर्मके उदयसे होती है...

२. भयसंज्ञा = त्रास स्वरूप है...

3. परिग्रह संज्ञा = मूर्च्छा = आसक्ति स्वरूप है...

४. मैथुन संज्ञा = स्त्री - पुरुष - नपुंसकवेदके उदय स्वरूप यह संज्ञा मोहनीय कर्मके उदयमें होती है...

५. सुख संज्ञा = सातावेदनीय कर्मके उदयसे होती है...

६. दुःख संज्ञा = असाता वेदनीय कर्मके उदयसे होती है...

७. मोह संज्ञा = मिथ्यात्व मोहनीय कर्मके उदयसे होती है...

८. विचिकित्सा संज्ञा=दुगंच्छनीय पदार्थोंको देखनेसे मुंहको घुमाना इत्यादि लक्षण स्वरूप यह संज्ञा मोहनीय कर्मके उदयसे होती है...

९. क्रोध संज्ञा = क्रोध कषायके उदयसे अप्रीति स्वरूप...

१०. मान संज्ञा = मान कषायके उदयसे गर्व स्वरूप...

११. माया संज्ञा = माया कषाय के उदयसे वक्रता-कपट स्वरूप...

१२. लोभ संज्ञा = लोभ कषायके उदयसे गृद्धि = आसक्ति स्वरूप...

१३. शोक संज्ञा = शोक मोहनीय कर्मके उदय से विलाप एवं वैमनस्य स्वरूप...

१४. लोकसंज्ञा = स्वच्छंद रूपसे मनःकल्पित विकल्प स्वरूप लौकिकाचरण स्वरूप...

जैसे कि- पुत्र न हो तो परलोकमें गति नहिं होती है... कुत्तेको यक्ष मानना (व्यंतर देव मानना) तथा ब्राह्मण हि देव है... कौवे हि पितामह = दादा है इत्यादि...

पक्षिओंको पंखके वायुसे गर्भाधान होता है... यह सभी लौकिक मान्यताएं ज्ञानवरणीय के क्षयोपशम से एवं मोहनीय कर्मके उदयसे होती हैं...

१५. धर्म संज्ञा = क्षण याने उत्सव आदिके आसेवन स्वरूप - और यह धर्मसंज्ञा मोहनीयकर्मके क्षयोपशमसे होती है... यह पूर्वोक्त १ से १५ संज्ञाएं सामान्य रूपसे संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंको सम्यग्दर्शनके साथ या तो मिथ्यात्वमोहके उदयमें होती है...

१६. ओघसंज्ञा - अव्यक्त = अप्रकट उपयोग स्वरूप यह ओघसंज्ञा सामान्यतया वेलडीयोंका वृक्षके उपर चढना इत्यादि लक्षणसे जाना जा शकता है... और यह ओघसंज्ञा ज्ञानावरणीयकर्म के अल्प क्षयोपशमसे विश्व के सभी जीवोंमें देखा जा शकता है...

यहां इस आचारांग सूत्रके इस प्रथम सूत्रमें तो (केवल) मात्र ज्ञानसंज्ञाका हि अधिकार है... इसलिये उस भाव ज्ञानसंज्ञा का हि निषेध कहा गया है... अर्थात् यहां कितनेक जीवोंको यह विशेष ज्ञान-समझ नहिं है...

अब उस ज्ञानसंज्ञा का स्वरूप आगे के सूत्र से दिखाया जाएगा...

VI सूत्रसार :

भारतीय-संस्कृति में साहित्य-सर्जन की प्राचीन पद्धति यह रही है कि पहले मंगलाचरण करके फिर सूत्र या ग्रन्थ रचना की जाती थी । जैनागमों एवं अन्य ग्रन्थों की रचना भी इसी पद्धति से की गई है । इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि पहले मंगलाचरण करने की परंपरा रही है, तो प्रस्तुत सूत्र में उस परंपरा को क्यों तोड़ा गया ? क्योंकि, आचाराङ्ग

सूत्र को प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण तो नहीं किया गया है । "सुयं मे आउसं !" -आदि पाठ लिख कर सूत्र आरम्भ कर दिया गया है । इस से ऐसा लगता है कि यहां सूत्रकार ने पुरातन परंपरा को नहीं निभाया है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । **यदि गहराई से सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण किया गया है । यहां मंगलाचरण के रूप में श्रुतज्ञान का उल्लेख किया गया है।** अनुयोगद्वार सूत्र के पहले सूत्र में कहा है कि पांच ज्ञानों में से श्रुत ज्ञान को छोड़ कर शेष चार ज्ञान स्थापने योग्य हैं । क्योंकि, पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान विशेष उपकारी है, श्रुतज्ञान को उपकारी इसलिए माना गया है कि तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मार्ग का बोध श्रुतज्ञान के द्वारा होता है । क्योंकि, श्रुत-आगम में ही उनके प्रवचनों का संग्रह है । श्री भगवती सूत्र शतक २०, उद्देशक ८ में गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान ने फरमाया है-"हे गौतम ! तीर्थंकर प्रवचन नहीं, निश्चित रूप से प्रावचनिक होते हैं, द्वादशांगी वाणी ही प्रवचन है" । और इसी द्वादशांगी वाणी को श्रुत कहते हैं । इसे सुन-पढ़ कर तथा तदनुसार आचरण करके जीव सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होता है । सर्व कर्म बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त होने के लिए तीर्थंकरों की वाणी एक प्रकाशमान सर्चलाइट है । यही कारण है कि पांच ज्ञानों में श्रुतज्ञान को उपकारी माना गया है । और वीतराग-वाणी होने के कारण श्रुतज्ञान मंगल है, अतः उस का मंगल रूप से ही उल्लेख किया गया है ।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को सर्वोत्कृष्ट मंगल माना है । और स्थानांग सूत्र में जहां दस धर्मो का वर्णन किया गया है, वहां श्रुत और चारित्र का धर्म रूप से उल्लेख किया गया है । और टीकाकार ने इस का विवेचन करते हुए श्रुत और चारित्र धर्म को प्रमुखता दी है। क्योंकि, श्रुत धर्म मंगल रूप है ।

आचाराङ्ग का पहला सूत्र है-"सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं" ! इस सूत्र में श्रमण भगवान महावीर के वचनों को अङ्कित किया गया है । "श्रुतमिति श्रुतज्ञानं" मैंने सुना है, यह श्रुत ज्ञान है । यह हम पहले ही बता चुके हैं कि तीर्थंकरों की वाणी को श्रुत ज्ञान कहा गया है । और प्रस्तुत सूत्र-मैंने सुना है कि उस भगवान-श्रमण भगवान महावीर ने ऐसा कहा है, यह तीर्थंकर भगवान की ही वाणी है । अतः प्रस्तुत सूत्र-श्रुतज्ञान होने से मंगल रूप है । ऐसे देखा जाए तो सम्पूर्ण आगम-शास्त्र ही मंगल रूप है । क्योंकि, वह ज्ञान रूप है और ज्ञान से हेय और उपादेय का बोध होता है तथा साधक हेय वस्तुओं का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है । इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है और एक दिन आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है । कहा भी है कि अज्ञानी मनुष्य बल तपस्या आदि अज्ञान क्रिया से जिन पाप कर्मों को अनेक करोड़ों वर्षों में क्षय करता है, उतने कर्मों को तीन गुप्तियों से युक्त ज्ञानी पुरूष एक उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है । **अतः श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण होने से मंगल**

रूप है । यही कारण है कि सूत्रकार ने दूसरा मंगलाचरण न करके "सुयं मे..." पद को मंगलाचरण के रूप में देकर, पुरातन परंपरा को सुरक्षित रखा है ॥

मंगलाचरण के विवेचन में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि द्वादशांगी श्रमण भगवान महावीर की धर्मदेशना का संग्रह है । भगवान महावीर ने द्वादशांगी का अर्थरूप से प्रवचन किया था, परन्तु तीर्थंकर भगवान का वह प्रवचन जिस रूप में ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ है, उस शब्द रूप के प्रणेता गणधर हैं । आगमों में एवं अन्य ग्रन्थों में जहां यह कहा गया है कि जैनागम-द्वादशांगी तीर्थंकर-प्रणीत है, उसका तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर उसके अर्थरूप से प्रणेता हैं अर्थात् गणधरों द्वारा की गई सूत्ररचना का आधार तीर्थंकरों की अर्थरूप वाणी ही है । अतः इस अपेक्षा से जैनागमों को तीर्थंकर-प्रणीत कहा जाता है ।

द्वादशांगी वाणी में श्री आचाराङ्ग सूत्र का अग्रिम स्थान है । श्रमण संस्कृति में आचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वह कर्म क्षय का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है । कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र-आचार का होना अनिवार्य है । आचरण के अभाव में मात्र ज्ञान से मुक्ति का मार्ग तय नहीं हो पाता । इसलिए आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है । निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है-आचार ही तीर्थंकरों के प्रवचन का सार है, मुक्ति का प्रधान कारण है । अतः पहले इसका अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ही अन्य अङ्ग शास्त्रों के अध्ययन में गति-प्रगति हो सकती है । यही कारण है कि द्वादशांगी का उपदेश देते समय तीर्थंकर सब से पहले आचार का उपदेश देते हैं और गणधर भी इसी क्रम से सूत्ररचना करते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है । साधारणतः आचार शब्द का अर्थ होता है-आचरण, अनुष्ठान । प्रस्तुत सूत्र में **आचार** शब्द साधु के आचरण या संयम-मर्यादा से संबद्ध है और **अङ्ग** शास्त्र को कहते हैं । अतः **आचार+अङ्ग**=आचाराङ्ग का यह अर्थ हुआ कि वह शास्त्र जिसमें साधु-जीवन से संबंधित आचरण या क्रिया-काण्ड का विधान किया गया है, संयम-साधना का निर्दोष मार्ग बताया गया है ।

आचाराङ्ग सूत्र दो श्रुतस्कंधों में विभक्त है । पहिले श्रुतस्कंध में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सूत्र शैली में अच्छा विश्लेषण किया गया है । छोटे-छोटे सूत्रों में गंभीर अर्थ भर दिया है । दूसरे श्रुतस्कंध में प्रायः चारित्राचार का वर्णन है । विषय के अनुरूप उसकी निरूपणा शैली भी सीधी-सादी है और भाषा भी सरल रखी गई है । दोनों श्रुतस्कंधों में पच्चीस अध्ययन हैं । पहले श्रुतस्कंध में नव और दूसरे श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं । प्रत्येक अध्ययन कई उद्देशकों में बंटा हुआ है । एक अध्ययन के अनेकों विभाग में से एक विभाग को अथवा एक अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति को आगमिक भाषा में **उद्देशक** कहते हैं । आचाराङ्ग सूत्र

के पहिले श्रुतस्कंध का पहला अध्ययन सात उद्देशकों में विभक्त हैं, दूसरा अध्ययन छह, तीसरा और चौथा अध्ययन चार-चार, पांचवां अध्ययन छह, छट्ठा अध्ययन पांच, सातवां अध्ययन सात, आठवां अध्ययन आठ और नवम अध्ययन चार उद्देशकों में बंटा हुआ है । इस तरह आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के ९ अध्ययनों के ५१ उद्देशक बनते हैं ।

आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में चार चूलिकाएं हैं । प्रथम चूलिका में १० से १६ तक, द्वितीय चूलिका में १७ से २३ तक और तृतीय एवं चतुर्थ चूलिका हि २४-२५ वे अध्ययन स्वरूप है... । इस तरह द्वितीय श्रुतस्कंध में कुल १६ अध्ययन हैं । दसवें अध्ययन के ११ उद्देशक हैं । ग्यारहवें और बारहवें अध्ययन के तीन-तीन उद्देशक हैं । तेरहवें से सोलहवें अध्ययन तक सब के दो-दो उद्देशक हैं । शेष नव अध्ययनों में कोई उद्देशक नहीं हैं, उनमें एक ही विषय का एक ही धारा में वर्णन चलता है । इस तरह आचाराङ्ग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कंध की चार चूलिकाएं, १६ अध्ययन और २५ उद्देशक हैं । यहां तक आचाराङ्ग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों में वर्णित अध्ययनों एवं उद्देशकों की संख्या का निर्देश किया गया है । उनमें वर्णित विषय का विवेचन यथास्थान किया जाएगा ।

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रस्तुत अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है । जीवों की हिंसा के कारणभूत उपकरण को शस्त्र कहते हैं । शस्त्र भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं । जिन हथियारों या शस्त्रास्त्रों से प्राणियों के प्राणों का विनाश किया जाता है, उन चाकू, तलवार, रिवाल्वर, राइफल, बम्ब आदि को द्रव्य शस्त्र कहते हैं । और जिन अशुभ भावोंसे प्राणियों का वध करने की भावना उद्‌बुद्ध होती है तथा मन, वचन और शरीर के योगों की, हिंसा की और प्रवृत्ति होती है, उन राग-द्वेष युक्त विषाक्त परिणामों को भाव शस्त्र कहा गया है ।

'परिज्ञा' शब्द का सीधा-सा अर्थ है-ज्ञान । परन्तु, ज्ञान का अर्थ सिर्फ जानना ही नहीं, तदनुसार आचरण करना भी है । इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर परिज्ञा शब्द के दो भेद किए गए हैं--१--ज्ञ परिज्ञा और २-प्रत्याख्यान परिज्ञा । संसार के कारणभूत राग-द्वेष एवं अशुभ योगों का परिज्ञान-बोध प्राप्त करना, 'ज्ञ' परिज्ञा है और 'ज्ञ' परिज्ञा से परिज्ञापित-भली-भांति जाने हुए विकारी भावों एवं अशुभ योगों का परित्याग करना अथवा संसार मार्ग से निवृत्त होकर संयम साधना में प्रवृत्त होना 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा है । 'ज्ञ' परिज्ञा से ज्ञान का उल्लेख किया गया है और 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा के द्वारा त्यागमय आचरण को स्वीकार करने का आदेश दिया गया है । इस तरह एक 'परिज्ञा' शब्द में ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय कर दिया गया है, जो वास्तव में मोक्ष का मार्ग है । और वस्तुतः ज्ञान का मूल्य भी त्याग में, निवृत्ति में ही रहा हुआ है । श्रमण-संस्कृति के चिन्तकों ने "णाणस्स फलं विरई" अर्थात् ज्ञान का फल विरति है, यह कह कर इस बात को अभिव्यक्त किया है कि वही ज्ञान

आत्मोत्थान में सहायक होता है, जो आचरण रूप से जीवन में प्रयुक्त होता है । जब तक ज्ञान आचरण का रूप नहीं लेता अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन के प्रवाह को नया मोड़ नहीं दिया जाता, तब तक मुक्ति के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी वह (आत्मा) उसे तय नहीं कर पाता है । अतः अपवर्ग-मोक्ष की और बढ़ने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय की आवश्यकता है । इसी बात को सूत्रकार ने 'परिज्ञा' शब्द से स्पष्ट किया है ।

इस तरह शस्त्रपरिज्ञा का अर्थ हुआ-द्रव्य और भाव शस्त्रों की भयङ्करता को जान समझ कर उसका परित्याग करना अर्थात् शस्त्र रहित बन जाना । वस्तुतः संसार परिभ्रमण एवं अशान्ति का मूल कारण शस्त्र ही है । सब तरह के दुःख-दैन्य एवं विपत्तियें शस्त्र-शस्त्रों की ही देन हैं । भगवान महावीर की इस बात को आज के वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं । शस्त्रों की शक्ति पर विश्वास रखने वाले राजनेताओं का विश्वास भी लड़खड़ाने लगा है । वे भी इस तरह की भाषा का प्रयोग करने लगे हैं कि विश्व शान्ति के लिए जल, स्थल एवं हवाई सभी तरह की सेनाओं के केन्द्र हटा देने तथा सभी तरह के बम्बों, राकेटों एवं आणविक शस्त्रों को समाप्त करने पर ही विश्व, शान्ति का सांस ले सकेगा । वस्तुतः सत्य भी यही है । शस्त्र शान्ति के लिए भयानक खतरा है । अतः अनन्त शान्ति की और बढ़ने वाले साधक को सब से पहले शस्त्रों का परित्याग करना चाहिए । इसी अपेक्षा से सभी तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन में शस्त्र-त्याग की बात कहते हैं । इस तरह पहले अध्ययन में शस्त्रों के त्याग की बात कही गई है, यदि आज की भाषा में कहुं तो निश्शस्त्रीकरण-शस्त्ररहित होने का मार्ग बताया गया है।

प्रस्तुत प्रथम अध्ययन सात उद्देशकों में विभक्त है । सातों उद्देशकों में विभिन्न तरह से छह काय के जीवों की हिंसा एवं हिंसाजन्य शस्त्रास्त्रों से होने वाले नुकसान का एक सजीव शब्द-चित्र चित्रित किया गया है । यहां हम अधिक विस्तार में न जाकर प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक पर विचार करेंगे । प्रस्तुत उद्देशक में आत्मा एवं कर्म बन्ध के हेतुओं के संबन्ध में सोचा-विचारा गया है । इस उद्देशक को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने-''सुयं मे आउसं !.....'' इत्यादि सूत्र का उच्चारण किया है ।

वर्तमान में उपलब्ध आगम-साहित्य आर्य सुधर्मा स्वामी और श्री जम्बू स्वामी इन दोनों महापुरुषों के सम्वाद रूप में है । आगम की विश्लेषणा पद्धति से यह स्पष्ट हो जाता है कि जम्बू स्वामी अपने आराध्य देव आर्य सुधर्मा स्वामी से विनम्रतापूर्वक शास्त्र सुनने की भावना अभिव्यक्त करते हैं । वे इस बात को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक हैं कि श्रमण भगवान महावीर ने द्वादशांगी गणिपिटक-आगमों में किन भावों को व्यक्त किया है ? आत्मा को कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त करने के लिए साधना का क्या तरीका बताया है ? यद्यपि, प्रस्तुत सूत्र में ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि श्री जम्बू स्वामी ने आचाराङ्ग के भाव व्यक्त करने के लिए अपने गुरूदेव आर्य सुधर्मा स्वामी से प्रार्थना की है । परन्तु, अन्य आगमों की वर्णन

पद्धति से विचार करते हैं, तो फिर शंका को अवकाश नहीं रह जाता है अर्थात् उक्त कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हो जाता है । आचाराङ्ग सूत्र के "सुयं मे..." इस सूत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के पूछने पर ही इस भाषा में आचाराङ्ग का वर्णन शुरू किया था । जो कुछ भी हो, तीर्थंकरों की अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्ररूप में गून्थते हैं और अपने शिष्यों की जिज्ञासा को देखकर उनके सामने अपना ज्ञान-पिटारा खोलकर रख देते हैं । आर्य सुधर्मा स्वामी ने भी भगवान महावीर से प्राप्त अर्थरूप द्वादशांगी को अपने प्रमुख शिष्य जम्बू की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सूत्र रूप में सुनाना प्रारम्भ कर दिया ।

प्रस्तुत सूत्र का पहला सूत्र है-"सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं ॥१॥" **सुयं मे** अर्थात् मैंने सुना है । इस पद से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आगम मेरे मन की कल्पना या विचारों की उड़ान मात्र नहीं, बल्कि श्रमण भगवान महावीर से सुना हुआ है । इस से दो बातें स्पष्ट होती हैं-एक तो यह कि आगम सर्वज्ञ प्रणीत होने से प्रामाणिक है । श्रमण संस्कृति के विचारकों ने भी आप्त पुरूष के कथन को आगम कहा है । आप्त पुरूष कौन है ? इस का विवेचन करते हुए आगमों में कहा गया कि राग-द्वेष के विजेता तीर्थंकर-सर्वज्ञ भगवान, जिनेश्वर देव **आप्त** हैं । फलितार्थ यह हुआ कि जिनोपदिष्ट वाणी ही **जैनागम** हैं । और वह सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट होने के कारण **प्रामाणिक** है ।

दूसरी बात यह है कि इस पद से गणधर देव की अपनी लघुता, विनम्रता एवं निरभिमानता भी प्रकट होती है । चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के ज्ञाता एवं आगमों के सूत्रकार होने पर भी उन्हों ने यों नहीं कहा कि मैं कहता हूं, परन्तु यही कहा कि जैसा भगवान के मुंह से सुना है वैसा ही कह रहा हूं । महापुरूषों की यही विशेषता होती है कि वे अहंभाव से सदा दूर रहते हैं । उनके मन में अपने आप को बड़ा बताने की कामना नहीं रहती । अस्तु, 'सुयं मे' ये पद आर्य सुधर्मा स्वामी की विनयशीलता एवं भगवान महावीर के प्रति रही हुई प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति के सूचक हैं ।

"आउसं !" इस पद का अर्थ होता है-हे आयुष्मन् ! यहां आयुष्मन् शब्द से जम्बू स्वामी को सम्बोधित किया गया है । अतः यह संबोधन पद जम्बू स्वामी का विशेषण है । जबकि मूल सूत्र में विशेष्य पद का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी विशेष्य पद का अध्याहार कर लिया जाता है । क्योंकि, जब भी कोई वक्ता कुछ सुनाता है तो किसी श्रोता को ही सुनाता है । यहां आर्य सुधर्मा स्वामी आचाराङ्ग सूत्र सुना रहे हैं और उसके श्रोता है जम्बू स्वामी । इस बात को हम पीछे के पंक्तियों में बता आए हैं कि जम्बू की आगम-श्रवण करने की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही आर्य सुधर्मा स्वामी ने आचाराङ्ग सूत्र का सुनाना शुरू किया ।

इस से स्पष्ट होता है कि उक्त संबोधन का विशेष्य पद जम्बू स्वामी ही है । इस तरह विशेष्य पद का अध्याहार कर लेने पर अर्थ होगा कि-- हे आयुष्मान् जम्बू !

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार अतिशय-दीर्घ अर्थ में 'आयुष्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय होकर आयुष्मान् शब्द बनता है । उस तरह आयुष्मान का अर्थ हुआ-दीर्घजीवी । बड़ी आयु वाले व्यक्ति को दीर्घजीवी कहते हैं । श्री जम्बू स्वामी को दीर्घजीवी कहने के पीछे तीन कारण हैं । प्रथम तो यह है कि जिस समय आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आचाराङ्ग सूत्र का वर्णन सुनाने लगे, उस समय वे बड़ी उम्र के थे, लघु वय के नहीं । अतः आर्य सुधर्मा स्वामी उन्हें आयुष्मान् शब्द से संबोधित कर के उनकी आयुगत परिपकता बताकर, उन में श्रुतज्ञान तथा उपदेश श्रवण, ग्रहण, धारण एवं आराधन करने की योग्यता अभिव्यक्त कर रहे हैं ।

प्रस्तुत संबोधन का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिससमय जम्बू स्वामी आचाराङ्ग सूत्र का श्रवण कर रहे थे, उस समय भले ही वे बड़ी उम्र के न रहे हों, परन्तु मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय इन चार ज्ञानों से युक्त आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने ज्ञान से अपने शिष्य के भावी जीवन को दीर्घ देखा गया हो और उन्हें दीर्घजीवी जान कर ही इस संबोधन से संबोधित किया हो । उनकी अन्तरात्मा ने इस बात को स्वीकार किया हो कि जम्बू दीर्घजीवी है, लम्बे समय तक जीवित रह कर यह जिन शासन की सेवा करेगा, जन-मानस में अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित करके विश्व को जन्म-मरण के ताप से बचाएगा । अतः भविष्य के दीर्घ जीवन को देखकर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को प्रस्तुत संबोधन से संबोधित किया हो ।

तीसरा कारण यह है कि साहित्य जगत में इस संबोधन को सुकोमल माना जाता है और आदर की दृष्टि से देखा जाता है । वह संबोधन इतना मधुर एवं प्रिय है कि इसके सुनने मात्र से हृदय-कमल की एक-एक कली खिल उठती है, शिष्य के मन में उल्लास और प्रसन्नता की लहरें लहर-लहर कर लहराने लगती हैं । जैनागमों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि एक ऐसा युग भी रहा है कि जिस में संबोधन के लिए **देवानुप्रिय** शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है । साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, बालवृद्ध सभी के लिए इसका प्रयोग होता रहा है । साहित्यिक क्षेत्र में जो सम्मान **देवानुप्रिय** शब्द को प्राप्त था, वही आदर-सम्मान **आयुष्मान** शब्द को प्राप्त था । इस संबोधन पद से भाषा का लालित्य, सौन्दर्य एवं माधुर्य छलक रहा था । बताया गया है कि निर्युक्तिकार ने "आउसं" शब्द के दस भेद किए हैं । उनमें संयम, यश और कीर्तिमय जीवन वाले व्यक्ति को भी इस सम्बोधन से संबोधित करने की परंपरा रही है । इसी कारण आध्यात्मिक एवं लौकिक सभी क्षेत्रों में इस का प्रयोग होता रहा है। इसलिए वात्सल्यमय मधुर एवं सुकोमल भावना को अभिव्यक्त करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी

ने अपने प्रमुख शिष्य जम्बू को **आयुष्यमन्** ! शब्द से संबोधित किया है ।

'आउसं' शब्द संबोधन के रूप में प्रयुक्त होता है, इस बात का हम विवेचन कर चुके हैं । परन्तु, इसके अतिरिक्त इसका दूसरे रूप में भी प्रयोग घटित होता है । जब **"आउसं और तेणं"** दोनों शब्दों को अलग-अलग न करके इनका समस्त पद के रूप में प्रयोग करते हैं, तो इस 'आउसंतेणं' पद का संस्कृत रूप 'आयुष्मता' बनता है और फिर यह शब्द संबोधन के रूप में न रहकर 'भगवया' शब्द का विशेषण बन जाता है और इसका अर्थ होता है-आयुष्य वाले भगवान ने । 'आउसंतेणं' शब्द को समस्त पद मानने के पीछे सैद्धान्तिक रहस्य भी अन्तर्निहित है । 'सुयं मे' इन पदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान किसी व्यक्ति द्वारा ही दिया गया है । परन्तु, इस पद से सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह जैन दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट कर दी गई है कि श्रुतज्ञान का प्रकाश आयु कर्म वाले शरीर-युक्त तीर्थंकर भगवान ही फैलाते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण द्वारा पूछे गए "घोर अन्धेरे में निवसित संसार के प्राणियों के जीवन में कौन प्रकाश करता है ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि जब सूर्य आकाश में उदित होता है, तो सारे लोक को प्रकाशित कर देता है । इसके बाद केशी श्रमण के - वह सूर्य कौन है ? उनके इस संशय का निराकरण करते हुए श्री गौतम स्वामी ने कहा कि जिस का संसार क्षय हो चुका है, ऐसा जिन, सर्वज्ञरूपी सहस्ररश्मि (सूर्य) उदित होगा और वह समस्त प्राणि-जगत में धर्म का उद्योत करेगा, ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा । इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान का प्रकाश शरीरयुक्त तीर्थंकर ही फैलाते हैं, न कि सिद्ध भगवान । सिद्ध भगवान शरीर-रहित हैं और श्रुत ज्ञान का उपदेश बिना मुख के दिया नहीं जा सकता और मुख शरीर का ही एक अङ्ग है । अतः सिद्ध भगवान श्रुत ज्ञान के उपदेशक नहीं हो सकते ।

इस तरह 'आउसंतेणं', पद के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि दुनिया का कोई भी शास्त्र अपौरुषेय नहीं है । वैदिक दर्शन वेद को अपौरूषेय मानता है । उसका विश्वास है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने अंगिरा आदि ऋषियों को वेद का उपदेश दिया था । परन्तु, यह कल्पना सर्वथा निराधार है । हम इस बात को पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि उपदेश मुख द्वारा दिया जाता है और मुख शरीर का ही एक अंग है । शरीर के अभाव में मुख हो नहीं सकता । अतः शरीर-रहित ईश्वर के द्वारा उपदेश की कल्पना करना नितान्त असत्य है । यदि वेदों का उपदेश ईश्वरकृत है और ईश्वर मुख आदि अवयवों से युक्त है तो फिर वह ईश्वर नहीं, देहधारी व्यक्ति ही है । इस तरह वेद अपौरूषेय नहीं, किन्तु पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं।

यदि वैदिक-दर्शन के वेदों को अपौरुषेय मानने की मान्यता को मान लें तो फिर मुसलमानों के कुरान शरीफ को भी खुदा (ईश्वर) कृत मानना होगा । क्योंकि उसका भी यह

विश्वास है कि खुदा ने पैगम्बर मुहम्मद साहिब को कुरान शरीफ का ज्ञान कराया था। इस तरह कुरान भी वेदों की तरह अपौरुषेय होने के कारण वेदों के समकक्ष खड़ा हो जायगा। और इसके अतिरिक्त वेदों में जो याज्ञिक हिंसा-यज्ञ में की जाने वाली पशु-हिंसा का आदेश दिया गया है और ईश्वर-कर्तृत्व जैसी असंगत बातों का उल्लेख पाया जाता है तथा कुरानशरीफ में मांस-भक्षण आदि अधर्ममयी बातों का कथन किया है, उसे सत्य एवं मोक्षोपयोगी मानना पड़ेगा । परन्तु, ये मान्यताएं नितान्त असत्य है । क्योंकि हिंसाजन्य प्रवृत्ति में धर्म हो नहीं सकता । अतः जो शास्त्र धर्म के नाम पर हिंसा का, पशु के बलिदान का, पशु की कुर्बानी करने का आदेश देता है, वह धर्मशास्त्र नहीं, किंतु शस्त्र है, आत्मा का घातक है । वस्तुतः धर्म शास्त्र वह है, जो प्राणी मात्र की रक्षा एवं दया का उपदेश देता है । क्योंकि धर्म सब जीवों के प्रति दया, करुणा एवं कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने में है । और यह बात सर्वज्ञोपदिष्ट वाणी में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है । अतः आगम अपौरूषेय नहीं, पौरूषेय हैं, पुरूषोपदिष्ट होने पर भी प्रामाणिक हैं । क्योंकि उसके उपदेष्टा राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हैं, सर्वज्ञ हैं, अतः उनकी वाणी में पारस्परिक विरोध नहीं मिलता । इस अपेक्षा से आगम पौरूषेय हैं और उसकी रचना का समय भी निश्चित है । अर्थात् वर्तमान काल में उपलब्ध आगमोंके अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार भगवान महावीर के पञ्चम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी हैं । अतः 'आउसंतेणं' इस समस्त पद का तात्पर्य यह हुआ कि आयुष्य कर्म से युक्त । और फलितार्थ यह निकला कि कर्म-बन्ध से मुक्त होने पर भी जिनका अभी आयु कर्म क्षय नहीं हुआ है, ऐसे तीर्थंकर, आगमों का उपदेश देते हैं ।

'आउसंतेण' इस पद पर उत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन की बृहद्वृत्ति में वृत्तिकार ने भी कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं । इस दिशा में वृत्तिकार का चिन्तन भी मननीय एवं विचारणीय होने से आगे की पंक्तियों में दे रहे है-

''आउसंतेणं'' त्ति प्राकृतत्वेन तिङ्व्यत्ययादाजुषमाणेन-श्रवणविधिमर्यादया गुरून् सेवमानेन, अनेनाप्येतदाह-विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्यं न तु यथाकथञ्चिद् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात् यथोच्यते-परिसुद्वियाणं पासे सुणेइ, सो विणय-परिभंसि ।''

अर्थात्-'आउसंतेणं' यह पद प्राकृत भाषा में तिङ्व्यत्यय (परस्मैपद का आत्मनेपद और आत्मनेपद का परस्मैपद) होने से परस्मैपद है, किन्तु संस्कृत में इस पद की आत्मनेपदी 'आजुषमाणेन' यह छाया बनती है । आयुष्मान् का अर्थ है-सुनने की पद्धति का पालन करते हुए गुरु की सेवा करना । सुनने की पद्धति के परिपालन का अभिप्राय यह है कि गुरुदेव से शास्त्र या हितकारी उपदेश सुनते समय शिष्य न तो गुरु से अधिक दूर बैठे और न अति निकट ही बैठे, परन्तु उचित स्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से उपदेश एवं शास्त्र को सुने । अधिक

दूर बैठने से भली-भांति सुनाई नहीं पड़ेगा और अति निकट बैठने पर हाथ आदि अंगो के संचालन से उनके शरीर को आघात लग सकती है, अतः शिष्य को ऐसे स्थान में बैठ कर शास्त्र एवं उपदेश का श्रवण करना चाहिए, जहां से अच्छी तरह सुनाई भी पड़ सके और उनकी आशातना भी न हो । दूसरी बात यह है कि गुरुदेव की सभा से उठकर आनेवाले लोगों से शास्त्र न सुने, परन्तु स्वयं गुरुदेव के सन्मुख उपस्थित होकर उनसे सुने । कभी कभी कुछ अविनीत शिष्य ऐसा सोच-विचार करे कि- गुरु के पास जाकर सुनेंगे तो उनका विनय करना होगा, अतः उन से सुनकर जो व्यक्ति आ रहे है, उनसे ही जानकारी कर लें । यह सोचना उपयुक्त नहीं है । इससे जीवन में प्रमाद बढ़ता है, विनम्र भाव का नाश होता है-जो धर्म एवं संयम का मूल है । इसी बात को ध्यान में रखकर वृत्तिकार ने 'आयुष्यमन्' पद देकर गुरु की सभा से आनेवाले व्यक्तियों से ही सीधा शास्त्र एवं उपदेश भी सुनने की वृत्ति का निषेध किया है । और शिष्य को प्रेरित किया है कि वह विनम्र भाव से गुरु चरणों में बैठकर ही शास्त्र का श्रवण करे । ऐसी विनम्र वृत्तिवाले शिष्य के लिए ही 'आयुष्यमन्' पद का प्रयोग किया है ।

"आउसं ! तेणं" इस पाठ के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'आमुसंतेणं' तथा 'आवसंतेणं' ये दो पाठान्तर भी मिलते हैं । इनके अर्थ पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा । 'आमुसंतेणं' इस पद की संस्कृत छाया "आमृशता" और 'आवसंतेण' पद की संस्कृत छाया 'आवसता' होती है । इन उभय शब्दों का संबन्ध "मे" पद से है । या यों कहिए कि ये दोनों पद आर्यसुधर्मा स्वामी के विशेषण हैं । टीकाकार श्री शीलांकाचार्य ने दोनों पदों का अर्थ इस प्रकार किया है-"मया आमुसंतेणं" आमृशता (स्पृशता) भगवत्-पादारविन्दम्, आवसन्तेणं- आवसता वा तदन्तिके ।

अर्थात्-भगवान महावीर के चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने या भगवान महावीर के पास निरन्तर निवास करते हुए मैंने ।

उक्त दोनों पाठान्तरों से श्रुत ज्ञान की प्राप्ति एवं उसकी सफलता के लिए शिष्य के जीवन में जिन गुणों एवं संस्कारों का सद्भाव होना चाहिए, उनका भली-भांति बोध हो जाता है । सब से पहले श्रुतग्राही शिष्य के जीवन में विनम्रता एवं गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए । यदि शिष्य का जीवन-दीप विनय एवं श्रद्धा के स्नेह-तेल से खाली है, तो उसमें श्रुत ज्ञान की प्रकाशमान ज्योति जग नहीं सकती, उसके जीवन को सम्यक् ज्ञान के प्रकाश से आलोकित नहीं कर सकती । अतः श्रुत ज्ञान को पाने के लिए गुरु के प्रति आस्था एवं सर्वस्व समर्पण की भावना तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा में संलग्न रहने की वृत्ति होनी चाहिए । 'आमुसंतेणं' यह इन्हीं आदर्श एवं समुज्जवल भावों का संसूचक है ।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु चरण सेवा ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु उनके निकट में रहना भी आवश्यक है । गुरु के निकट में स्थित रहना दो अर्थों में प्रयुक्त होता है- (१) सदा गुरु के पास या उनके सामने ही रहना, अतः समय पर उनकी सेवा कर सके, उन्हें किसी काम के लिए इधर-उधर से आवाज़ देकर न बुलाना पड़े । (२) उनकी आज्ञा में विचरण करना । अपनी प्रवृत्ति उनके विचारानुसार रखना । क्षेत्र से दूर रहते हुए सदा उनके पथ का अनुगमन करना भी उनके निकट में बसना है । इसी भावना को ध्यानमें रखकर शिष्य को अन्तेवासी भी कहा है । अन्तेवासी का यह अर्थ नहीं है कि वह सदा उनके साथ या पास में ही रहे । आवश्यकता पड़ने पर वह क्षेत्र से दूर भी जा सकता है, परन्तु उनके विचारों एवं आज्ञा से दूर नहीं जाता । अतः श्रुत ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक साधक को द्रव्य और भाव दोनों तरह से गुरु के निकट रहना चाहिए । 'आवसंतेणं' पद इन्हीं भावों का परिचायक है ।

'भगवया' यह पद भगवत् शब्द का तृतीयान्त प्राकृत रूप है । इसका अर्थ है- भगवान ने । भगवान शब्द भग से बनता है । भग शब्द की व्याख्या करते हुए एक आचार्य लिखते है-

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चापि, षण्णां भग इतीङ्गना ॥"

अर्थात्-सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, कीर्ति, श्री, ज्ञान, और वैराग्य इन छह संपदाओं के समुदाय को भग कहते हैं । अतः उक्त संपदाओं से जो युक्त हैं; उसे भगवान कहते है-

"भगः-ऐश्वर्यादिषडर्थात्मकः सोऽस्यास्तीति भगवान् ।"

'अक्खायं' यह क्रिया पद है । इसका अर्थ है-कहा । इससे स्पष्ट होता है कि आचाराङ्ग सूत्र भगवान के द्वारा कहा गया है । इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं । एक तो यह कि आगम किसी व्यक्ति द्वारा कहे गए है, जिसका विस्तृत विवेचन हम पीछे के पृष्ठों में कर आए हैं । दूसरी बात यह सामने आती है कि आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं । किसी तीर्थंकर भगवान ने इनकी सर्वथा अभिनव रचना नहीं की । उन्हों ने तो अनादि काल से चले आ रहे आगमों का अर्थ रूप से कथन मात्र किया है । अतः इस दृष्टि से आगम सादि भी हैं और अनादि एवं कृतत्व-रहित भी हैं । उनके सादित्व पर हम विचार कर चुके हैं । यहां आगमों के अकृतत्व एवं अनादित्व पर विचार करेंगे ।

परन्तु, यह कथन भी अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए । क्योंकि जैन विचारकों की भाषा स्याद्वादमय रही है । उन्हों ने प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक विचार पर स्याद्वाद की भाषा में सोचा-विचारा है । आगम के सादित्व-अनादित्व अर्थात् आगम के मूल स्रोत की आदि निश्चित तिथि है या नहीं ? दोनों पर गहराई से चिन्तन किया है । आगमों में यह बात स्पष्ट रूप से

कही गई है कि आगम अनादि भी है । क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं रहा है, नहीं है और नहीं रहेगा, जब कि द्वादशाङ्गभूत गणिपिटक नहीं था, नहीं है और नहीं होगा । वह तो पहले से था, अब है और अनागत में भी रहेगा । वह ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है ।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि अनन्त काल से चले आ रहे, अनन्त तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आगमों की भाषा एक ही थी, जो शब्द-भाषा वर्तमान में उपलब्ध आगमों में मिलते हैं, वे ही शब्द उन आगमों के थे । इसका अर्थ इतना ही है कि भाषा में अन्तर होते हुए भी भावों में समानता थी । वास्तविक दृष्टि से विचारा जाए तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है । विभिन्न देश, काल और पुरुष की अपेक्षा से उस सत्य का उद्भव अनेकतरह से होता रहा है, परन्तु भाषा के उन विभिन्न रूपों में एक ही त्रैकालिक सत्य अनुस्यूत रहा है । उस त्रैकालिक सत्य की ओर देखा जाए, और देश-काल एवं पुरूष की अपेक्षा से बने आविर्भाव की उपेक्षा की जाए, तो यही कहना होगा कि जो भी तीर्थंकर, अरिहन्त राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके–सामायिक–समभाव, विश्ववात्सल्य, विश्वमैत्री का और विचार के त्रैकालिक सत्य–स्याद्वाद–अनेकान्तवाद या विभज्यवाद का ही उपदेश देते हैं । आचार से सामायिक की साधना एवं विचार से अनेकान्त–स्याद्वाद की भाषा का तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आदेश अनादि अनन्त है, कर्तुत्व से रहित है । ऐसा एक भी क्षण नहीं मिलेगा कि विश्व में इस सत्य का स्रोत नहीं वह रहा हो । अतः इस अपेक्षा से द्वादशांग, गणिपिटक–आगम अनादि-अनन्त हैं ।

बृहत्कल्प भाष्य में एक स्थल पर कहा गया है कि भगवान ऋषभ देव आदि तीर्थंकरों और भगवान महावीर की शरीर-अवगाहना एवं आयुष्य में अत्यधिक वैलक्षण्य होने पर भी, उन सब की धृति, संघयण और संस्थान तथा आन्तरिक शक्ति–केवल ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाए तो उन सब की उक्त योग्यता में कोई अन्तर न होने के कारण उनके उपदेश में, सिद्धान्त प्ररूपण में कोई भेद नहीं हो सकता । आगमों में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सभी तीर्थंकर वज्रऋषभनाराच संघयण और समचउरस संस्थान वाले होते हैं और संसार में सभी तत्त्वों को, पदार्थों को तथा तीनों काल के भावों को समान रूप से जानते-देखते हैं। अतः उनके द्वारा की गई सैद्धान्तिक प्ररूपणा में कोई भेद नहीं होता । सभी तीर्थंकरों के उपदेश की एकरूपता का एक उदाहरण प्रस्तुत सूत्र में भी मिलता है । उसमें लिखा है कि "जो अरिहन्त भगवान पहले हो चुके हैं, जो भी वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश-आदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा मत करो; उनके उपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उन्हें परतन्त्र एवं गुलाम मत बनाओ और उनको संतप्त मत करो, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकशील पुरुषों ने बताया है"।

जब व्यावहारिक दृष्टि से यह देखते हैं कि वर्तमान में उपलब्ध आगमों का आविर्भाव

किस रूप में हुआ ? किसने किया ? कब किया ? और कैसे किया तो जैनागमों की आदि भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है । इसलिए कहा गया कि "तप-नियम और ज्ञानमय वृक्ष के उपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी तीर्थंकर-केवली भगवान भव्य जनों के बोध के लिए ज्ञानकुसुम की वृष्टि करते हैं । गणधर अपने बुद्धि पटल में उन समस्त कुसुमों को झेलकर द्वादशाङ्ग रूप प्रवचन माला गून्थते हैं ।" इस तरह "जैनागम कर्तृत्व रहित अनादि अनन्त भी हैं और कर्ता की अपेक्षा से आदि सहित भी हैं" । का इस सूत्र में सुन्दर समन्वय हो जाता है और आचार्य हेमचन्द्र का यह विचार पूर्णतया चरितार्थ होता है-

"आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु" ।

इससे स्पष्ट हो गया कि स्याद्वाद की भाषा में विरोध खड़ा होने को कहीं भी अवकाश नहीं हैं । अनन्त तीर्थंकरों में रही हुई केवल ज्ञान की एकरूपता के कारण आगम अनादि काल से हैं, उनका उद्गम स्थान ढूण्ढना दुष्कर ही नहीं, असंभव है और वर्तमान में विद्यमान आगम के उपदेष्टा की दृष्टि से सोचते हैं, तो उसकी आदि है । क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं । उनके प्रवचन को नव गणधरों ने सूत्ररूप से गून्था था । क्योंकि आगम में ऐसा बताया गया है कि भगवान महावीर के ग्यारह गणधर और नव गण थे । अन्य गणधरों की शिष्य परम्परा का प्रवाह आगें चला नहीं । भगवान महावीर के बाद पञ्चम गणधर सुधर्मा स्वामी की ही शिष्य परम्परा चालू रही । अतः वर्तमान में सुधर्मा स्वामी द्वारा सूत्ररूप में रचित आगम ही उपलब्ध होते हैं । अतः प्रस्तुत आगम का भगवान महावीर ने अर्थ रूप से उपदेश दिया था, और आर्य सुधर्मा स्वामी ने उसे सूत्र रूप से गून्था था ।

इस तरह 'अक्खायं' इस पद से आगमों की नित्यता को प्रकट किया है । परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आगम कूटस्थ नित्य नहीं हैं । क्योंकि हम इस बात को पहिले ही बता चूके हैं कि जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु पर अनेकान्त या स्याद्वाद की दृष्टि से सोचता-विचारता है । यहां एकान्तवाद को कोई स्थान नहीं है । क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म युक्त है । उसमें उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनों अवस्थाएं स्थित हैं । इनमें विरोध जैसी कोई बात नहीं है । हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं कि स्वर्ण को गला कर उसका कंगन बना लेते हैं, फिर कंगन को तुड़वाकर बटन या अंगूठी या और कुछ आभूषण बना लेते हैं । इस तरह प्रत्येक बार वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है । एक स्वरूप का विनाश होता है तो दूसरे स्वरूप का निर्माण होता है, परन्तु पूर्व एवं उत्तर की दोनों अवस्थाओं में स्वर्ण अपने रूप में सदा स्थित रहता है । यही स्थिति प्रत्येक वस्तु की हैं । द्रव्य रूप से प्रत्येक वस्तु सदा स्थित रहती है तो पर्याय रूप से उसमें सदा परिवर्तन होता

रहता हैं । इसलिए जब किसी वस्तु को नित्य कहा जाता है, तो उस का अभिप्राय यह है कि वह परिणामी नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है । यही बात आगम के संबंध में समझनी चाहिए । द्रव्य रूप से आगम नित्य है, ध्रुव है, अनादि से विद्यमान हैं । परन्तु पर्याय रूप से अनित्य हैं । क्योंकि उस त्रैकालिक सत्य को अभिव्यक्त करने वाले अनन्त समय में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और भविष्य काल में अनन्त तीर्थंकर होते रहेंगे और अपने समय में सभी तीर्थंकर उस त्रैकालिक सत्य का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं । अतः उपदेष्टा की अपेक्षा से उस समय के तीर्थंकर आगम के प्ररूपक कहे जाते हैं । जैसे वर्तमान में उपलब्ध आगम के उपदेष्टा भगवान महावीर हैं । इस दृष्टि से आगम अनित्य हैं, सादि हैं । इस तरह आगम नित्य भी हैं और अनित्य भी ।

प्रस्तुत सूत्र में आर्य सुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से बोले–हे आयुष्मन् जम्बू ! मैंने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है । इस सूत्र को सुन-पढ़ कर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् ने क्या प्रतिपादन किया था ? किस बात को अभिव्यक्त किया ? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान देते हुए इस सूत्रके शेष भाग से सूत्रकार गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी कहते हैं कि- हे आयुष्मन् जम्बू ! मैंने सुना है कि उस भगवान ने ऐसा कहा है । क्या कहा है ? इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि भगवान ने बताया है कि इस प्राणि-जगत में परिभ्रमण करने वाले अनेकानेक जीव ऐसे हैं कि जिन्हें ज्ञान नहीं होता । यह प्रस्तुत सूत्र का फलितार्थ है ।

'इहं' पद 'इस' अर्थ का बोधक है । यह पद सर्वनाम होने से संसार और क्षेत्र, प्रवचन, आचार एवं शस्त्र परिज्ञा आदि शब्दों का इसके साथ अध्याहार किया जाता है । क्योंकि सर्वनाम सदा संज्ञा के स्थान में प्रयुक्त होता है । जब 'इहं' पद के साथ संसार शब्द का अध्याहार किया जाता है, तो उक्त पद का संबंध 'एगेसिं' पद के साथ करना चाहिए । परन्तु यदि इस पद के साथ क्षेत्र, प्रवचन आदि शब्दों का अध्याहार किया जाए, तो फिर इस पद का संबन्ध प्रथम सूत्र के "अक्खायं" इस क्रिया के साथ जोड़ना चाहिए । इस तरह संबंध के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता है । जब प्रस्तुत पद का संबंध 'एगेसिं' पद के साथ जोड़ेंगे तो इसका अर्थ होगा कि 'संसार में किन्हीं जीवों को संज्ञाज्ञान नहीं होता ।' और जब इसका संबंध 'अक्खायं' पद के साथ होगा तो इसका अर्थ होगा कि "हे आयुष्मन् जम्बू ! उस भगवान अर्थात् भगवान महावीर ने इस क्षेत्र, प्रवचन, आचार एवं शस्त्र-परिज्ञा में कहा है कि कई एक जीवों को ज्ञान नहीं होता ।" इस तरह 'इहं' पद का 'एगेसिं' और 'अक्खायं' पद के साथ क्रमशः संबंध-भेद से अर्थ-भेद भी प्रमाणित होता है ।

'क्षेत्र' शब्द उस स्थान का परिबोधक है, भारतवर्ष या भारत में भी जिस स्थान पर भगवान ने प्रस्तुत प्रवचन किया था । भगवान–तीर्थंकरों के उपदेश को प्रवचन कहते हैं ।

प्रवचन का सीधा-सा अर्थ होता है-श्रेष्ठ वाणी या विशिष्ट महापुरूषों द्वारा व्यवहृत वचन । 'आचार' शब्द आचारांग सूत्र का परिचायक है और शस्त्र-परिज्ञा आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन है ।

उक्त चारों शब्दों का परस्पर संबन्ध भी है । क्योंकि प्रवचन किसी क्षेत्र विशेष में ही दिया जाता है । अतः सर्व प्रथम क्षेत्र का उल्लेख किया गया । और उसके अनन्तर प्रवचन का नाम निर्देश किया गया । वह प्रवचन क्या था । इसका समाधान आचार अर्थात् आचारांग इस शब्द से किया गया । और आचारांग सूत्र में भी प्रस्तुत वाक्य किस अध्ययन में कहा गया है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'शस्त्रपरिज्ञा' शब्द का कथन किया गया । इस तरह चारों पदों का एक-दूसरे पद के साथ संबन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

'एगेसिं' यह पद 'किन्ही जीवों को' इस अर्थ का संसूचक है । इस पद को 'णो सण्णा भवइ' पदों के साथ संबद्ध करने पर इसका अर्थ होता है कि किन्ही जीवों को ज्ञान नहीं होता। आध्यात्मिक विकास-क्रम के नियमानुसार आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ज्ञान का विकास होता है । अतः जिन जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होता है, उनके ज्ञान का विकास भी उतना ही अधिक होता है और ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक आवरण हटाएंगे उनका ज्ञान उतना ही अधिक निर्मल होगा । और जिन जीवों का ज्ञानावरणीय कर्मगत क्षयोपशम कम है, उनका ज्ञान भी अविकसित ही रहेगा । उन्हें इस बात का परिबोध नहीं हो पाएगा कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि किस दिशा से आया हूं ? इस विशिष्ट परिबोध से अनभिज्ञ या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता वाले किन्ही जीवों को सूत्रकार ने 'एगेसिं' इस पद से अभिव्यक्त किया है ।

'णो सण्णा भवइ' का अर्थ है-ज्ञान नहीं होता । यहां नहीं अर्थ का परिबोधक 'णो' पद है । प्रश्न हो सकता है कि 'णो' के स्थान पर 'अ' शब्द से काम चल सकता था । 'णो' और 'अ' दोनों अव्यय निषेधार्थक हैं । फिर यहां 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' पद देकर एक मात्रा का अधिक प्रयोग क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि 'णो' और 'अ' दोनों अव्यय निषेधार्थ में प्रयुक्त होते हुए भी समानार्थक नहीं है । दोनों में अर्थगत भिन्नता है । इसी कारण सूत्रकार ने 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' का प्रयोग किया है । यदि 'णो' का अर्थ 'अ' से निकल जाता तो सूत्रकार 'णो' का प्रयोग करके शब्द का गुरुत्व नहीं बढ़ाते । इससे यह स्पष्ट होता है कि 'णो' और 'अ' दोनों अव्ययों के अर्थ में कुछ अंतर हैं ।

'णो' अव्ययपद एक देश का निषेधक है और 'अ' अव्ययपद सर्व देश का निषेध करता है । जैसे-'न घटोऽघटः' इस वाक्य में व्यवहृत 'अघट' शब्द में 'घट' के साथ जुड़ा हुआ 'अ' अव्यय घट का सर्वथा निषेध करता है । परन्तु, णो अव्यय किसी भी वस्तु का सर्वथा निषेध

नहीं करता । 'णो सण्णा' से यह ध्वनित नहीं होता कि किन्हीं जीवों में संज्ञा-ज्ञान का सर्वथा अभाव है । क्योंकि आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता । ज्ञान आत्मा का लक्षण है । उसके अभाव में आत्मस्वरूप रह नहीं सकता । जैसे-प्रकाश एवं आतप के अभाव में सूर्य का एवं सूर्य के अभाव में उसके प्रकाश एवं आतप का अस्तित्व नहीं रह सकता। भले ही घनघोर घटाओं के कालिमामय आवरण से सूर्य का प्रकाश एवं आतप पूरी तरह दिखाई न पड़े, यह बात अलग है । परन्तु सूर्य के रहते हुए उनके अस्तित्व का लोप नहीं होता । उसकी अनुभूति तो होती ही रहती है । इसी तरह ज्ञान का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा । अतः ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता । क्योंकि आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा आदि संज्ञाएं तो प्रत्येक संसारी प्राणी में पाई जाती है। इन्हीं संज्ञाओं के आधार पर ही जीव का जीवत्व सिद्ध होता है । यदि इन संज्ञाओं का अभाव मान लिया जाए तो फिर आत्मा में चेतनता या सजीवता नाम की कोई चीज रह ही नहीं जायगी। अस्तु, संज्ञा का सर्वथा निषेध करना आत्मतत्त्व की ही सत्ता नहीं मानना है । और यह बात सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है । इस लिए सूत्रकार ने 'असण्णा' का प्रयोग न करके 'णो सण्णा' का प्रयोग किया, जो सर्वथा उचित, युक्तियुक्त, न्याय-संगत एवं आगमानुसार है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'सण्णा' शब्द का अर्थ संज्ञा होता है । संज्ञा चेतना को कहते हैं और वह अनुभवन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है । अनुभवन संज्ञा के सोलह भेद हैं या यों कहिए कि जीव को सोलह तरह की अनुभूति होती है-

१ आहारसंज्ञा-क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार-भोजन करने की इच्छा होना ।

२ भयसंज्ञा-भयमोहनीय कर्म के उदय से खतरे का वातावरण देख, जान कर या खतरे की आशंका से त्रास एवं दुःख का संवेदन करना या भयभीत होना ।

3 मैथुनसंज्ञा-वेदोदय से विषयेच्छा को तृप्त करने की या मैथुन सेवन की अभिलाषा का होना ।

४ परिग्रहसंज्ञा-कषायमोहनीय के उदय से भौतिक पदार्थों पर आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा भाव का होना ।

५ क्रोधसंज्ञा-कषायमोहनीय कर्म के उदय से विचारों में एवं वाणी में उत्तेजना या आवेश का आना ।

६ मानसंज्ञा-कषायमोहनीय कर्म के उदय से अहंभाव, गर्व या घमंड का अनुभव करना।

७ मायासंज्ञा-कषायमोहनीय कर्म के उदय से छल-कपट करना ।

८ लोभसंज्ञा–कषायमोहनीय कर्म के उदय से भौतिक पदार्थों, विषय-वासना एवं भोगोपभोग के साधनों को प्राप्त करने की लालसा बनाए रखना, संग्रह की कामना को बढ़ाते रहना ।

९ ओघसंज्ञा–जीव की अव्यक्त चेतना, जो ज्ञानावरणीय कर्म के अल्पक्षयोपशम के कारण उत्पन्न होती है ।

१० लोकसंज्ञा–'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' आदि लोक प्रचलित मान्यताओं पर विश्वास करना तथा उनके अनुसार अपनी धारणा बना लेना ।

११ सुखसंज्ञा–इन्द्रिय एवं मनोऽनुकूल विषयों का उपभोग करना एवं उसमें आनन्द की अनुभूति करना ।

१२ दुःखसंज्ञा–इन्द्रिय एवं मन के प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दुःखानुभूति करना ।

१३ मोहसंज्ञा–मोहनीयकर्म के उदय से विषय-वासना एवं कषायों में आसक्त रहना ।

१४ विचिकित्सासंज्ञा–मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म एवं तत्त्वों में शंका-संदेह करना ।

१५ शोकसंज्ञा–मोहनीयकर्म के उदय से इष्ट वस्तु के न मिलने या उसका वियोग होने पर तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग पाकर रोना, पीटना, विलाप आदि करना ।

१६ धर्मसंज्ञा–मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आगार-गृहस्थ धर्म या अनगार साधु धर्म को स्वीकार करना, संयम मार्ग में या त्याग पथ पर गतिशील होना ।

ज्ञान संज्ञा के भी ५ भेद किए गए हैं...

१ मतिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य क्षेत्र में स्थित वस्तु को जानना-पहचानना ।

२ श्रुतज्ञान–वाच्य-वाचक संबंध द्वारा शब्द से संबन्धित अर्थ का परिज्ञान प्राप्त करना ।

3 अवधिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी द्रव्यों को जानना-देखना ।

४ मनःपर्यवज्ञान–इन्द्रिय और मन के सहयोग बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन के भावों को जानना ।

५ केवलज्ञान–मति आदि चारों ज्ञानों की अपेक्षा के बिना तीनों लोक में स्थित द्रव्यों एवं त्रिकाल वर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना ।

इस तरह 'संज्ञा' शब्द से अनुभूति और ज्ञान दोनों का निरूपण किया गया है । अनुभूति रूप संज्ञा या चेतना तो संसार के सभी जीवों में रहती है । अतः यहां उक्त संज्ञा का निषेध नहीं किया गया है । ज्ञान रूपी संज्ञा में भी संसार के समस्त छद्मस्थ जीवों में सम्यक् या असम्यक् किसी न किसी रूप में मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान या अज्ञान रहता ही है । अतः 'णो सण्णा भवइ' वाक्य से प्रस्तुत सूत्र में जो ज्ञान का निषेध किया है, वह साधारण रूप से होने वाले ज्ञान का नहीं, परन्तु विशिष्ट रूप से पाए जाने वाले ज्ञान का निषेध किया है-जिससे आत्मा यह जान-समज सके कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूं ? ऐसा विशिष्ट ज्ञान संसार के सभी जीवों को नहीं होता । इस लिये 'णो' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि संसार के कुछ एक जीवों को विशिष्ट ज्ञान नहीं होता । उस विशिष्ट ज्ञान का क्या स्वरूप है ? इसका समाधान एवं स्पष्ट विवेचन सूत्रकार के शब्दों में आगे के सूत्र में पढ़ीएगा–

I सूत्र ॥ २ ॥

तं जहा - पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णायरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं नो नायं भवति ॥२॥

II संस्कृत-छाया :

तद्-यथा पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणास्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधोदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया, अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, एवं एकेषां नो ज्ञातं भवति ॥२॥

III शब्दार्थ :

तंजहा–जैसे । **पुरत्थिमाओ** वा दिसाओ–पूर्व दिशा से । **आगओ अहमंसि**–मैं आया हूं। **दाहिणाओ वा दिसाओ**=अथवा दक्षिण दिशा से । **पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ**=या पश्चिम दिशा से । **उत्तराओ वा दिसाओ**=या उत्तर दिशा से । **उड्ढाओ वा दिसाओ**=या ऊर्ध्व दिशा से । **अहो-**

दिसाओ वा=या अधो दिशा से । **अण्णयरीओ वा दिसाओ**=या किसी भी एक दिशा से । **अणुदिसाओ वा**=या अनुदिशा-विदिशा से । **आगओ अहमंसि**-मैं आया हूं । **एवमेगेसिं**-इस प्रकार इन्हीं जीवोंको । **णो णायं भवइ**-यह ज्ञान नहीं होता ।

IV सूत्रार्थ :

वह इस प्रकार - मैं पूर्व दिशासे आया हुं, दक्षिण दिशासे आया हुं, पश्चिम दिशासे आया हुं, उत्तर दिशासे आया हुं, उर्ध्व दिशासे आया हुं, अधः = नीचेकी दिशासे आया हुं, अन्य और कोइ भी दिशा या अनुदिशा से आया हुं... यह इस प्रकारका ज्ञान **कितनेक** जीवोंको नहिं होता है... ॥२॥

V टीका-अनुवाद :

दिशति इति दिक् = द्रव्य या द्रव्यभागको जो दिखलावे वह दिशा । अब निर्युक्तिकार दिशा के निक्षेपे कहते हैं...

नि. ४०

१.	नाम दिशा	५.	ताप दिशा
२.	स्थापना दिशा	६.	प्रज्ञापक दिशा
३.	द्रव्य दिशा	७.	भाव दिशा...
४.	क्षेत्र दिशा		इस प्रकार दिशा के सात प्रकार है...

१. नाम दिशा = सचित्त आदि वस्तुका दिशा ऐसा नाम...

२. स्थापना दिशा = चित्रमें आलेखित जंबूद्वीप आदिके क्षेत्रादिमें दिशांओके विभागकी स्थापना वह स्थापना दिशा...

३. द्रव्य दिशा दो प्रकार से है...

१. आगम से २. नो आगम से...

१. आगम से द्रव्य दिशा = ज्ञाता किंतु अनुपयुक्त...

२. नो आगम से द्रव्य दिशा के तीन प्रकार है...

१. ज्ञ शरीर २. भव्य शरीर ३. तद्व्यतिरिक्त...

तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य दिशा = तेरह (१३) प्रदेशवाले द्रव्यके माध्यमसे हि यह द्रव्य दिशा जानी जाएगी...

तेरह प्रदेशवाले द्रव्यकी स्थापना - (१३) प्रदेश...

अब क्षेत्र-दिशा कहते हैं...

नि. ४२

तिर्यग् = मध्य लोकमें रत्नप्रभा-पृथ्वीके उपर किंतु मेरु-पर्वतके बहुमध्यभागमें जो दो क्षुल्लक-प्रतर है वहां उपरके प्रतरमें गोस्तनाकार के रूपमें चार (४) प्रदेश, एवं नीचेके प्रतरमें भी उलटे गोस्तनाकारके स्वरूप से चार (४) प्रदेश है यह आठ (८) आकाश प्रदेशमें से चार (४) रुचक चार दिशाओंके एवं शेष चार (४) रुचक चार विदिशाओंके उत्पत्ति = प्रारंभ स्थान है...

अब इन दिशाओंका नाम कहते हैं...

नि. ४३

१. ऐंद्री (पूर्व-दिशा)

२. आग्नेयी (अग्नि-कोना)

३. याम्या = दक्षिण - दिशा

४. नैरुति = नैऋत्य - कोना

५. वारुणी = पश्चिम - दिशा

६. वायव्या = वायव्य - कोना

७. सोमा = उत्तर - दिशा

८. ईशाना = ईशान - कोना

९. विमला = ऊर्ध्व - दिशा

१०. तमा = अधो - दिशा...

नि. ४४

चार महादिशाएं दो प्रदेशवाली है, एवं दो दो प्रदेशकी वृद्धिवाली है, और चार विदिशाएं एक-एक प्रदेशवाली है उनमें वृद्धि नहिं है... इसी प्रकार ऊर्ध्व एवं अधोदिशा भी वृद्धि रहित है...

नि. ४५

सभी दिशाएं अंदरकी और से देखतें हैं तो रुचकसे लेकर सादि (आरंभवाली) है, और बहारकी और देखतें हैं तो अनंत **अलोकाकाशको** लेकर अपर्यवसित = अनंत है... दशों दिशाएं अनंत प्रदेशवाली होती है.. सभी दिशाओंके जितने प्रदेश है उनको चार संख्यासे भाग देने पण केवल चार हि शेष रहते हैं अतः आगमसंज्ञा से उन्हे "कडजुम्मा" शब्दसे निर्देश किया है... आगम में कहा है कि - हे भगवन् ! **युग्म** कितने प्रकारके होते हैं ? (उत्तर) है गौतम ! **युग्म** चार प्रकारके है ? १. कृतयुग्म २. त्रेता-युग्म ३. द्वापर-युग्भ ४. कलि-युग्म...

हे भगवन् ! ऐसा किस कारणसे कहा है ? हे गौतम ! जीस राशिको चार संख्यासे भाग देने से यदि चार शेष रहता है तब कृतयग्म... यदि तीन (३) शेष रहता है तब त्रेता-युग्म... यदि दो (२) शेष रहता तब द्वापर युग्म... और यदि एक शेष रहता है तब कलियुग्म कहते हैं...

अब इन दिशाओंका संस्थान कहते हैं...

नि. ४६

चार महादिशाएं शकट = गाडीकी उध के आकार से... एवं चार विदिशाएं मोतीकी माला के आकारसे है... और उर्ध्व एवं अधोदिशा रुचकके आकारसे हैं...

अब ताप दिशा कहते है...

नि. ४७

तापयति इति तापः = जिस दिशाओंमे सूरजका उदय हो वह पूर्व दिशा... जहां सूर्य अस्त होगा वह पश्चिम दिशा... दायें = सीधे हाथकी और दक्षिण दिशा एवं बायें हाथकी और उत्तर दिशा... यह बात सूर्यके उगनेके समय सूर्यकी और मुह रखकर खडा रहनेसे सिद्ध होती है...

ताप-दिशाके माध्यमसे विशेष बात यह है कि- मेरु पर्वत सभी क्षेत्रके लोगोंको उत्तर दिशा में हि माना गया है... क्षेत्र-दिशाके माध्यमसे रुचककी दृष्टि से वह भले हि मेरु से पूर्व या दक्षिण या पश्चिम या तो उत्तर दिशामें हो... किंतु ताप दिशासे तो सभी लोगोंको मेरु उत्तरमें ही रहेगा...

नि. ५०

ताप-दिशाके माध्यमसे सभी के लिये -	मेरु	=	उत्तरमें
	लवण समुद्र	=	दक्षिण में
	सूर्यका उदय	=	पूर्व में
	सूर्यका अस्त	=	पश्चिम दिशामें...

अब प्रज्ञापक - दिशाओंका स्वरूप कहते हैं...

नि. ५१

प्रज्ञापक = विद्वान् पुरूष जहां कहीं भी रहकर निमित्त - लक्षण कहते हैं तब उनके मुखवाली दिशा पूर्व समझीयेगा और पृष्ठ-पीछे की दिशा पश्चिम कही गइ है... इस प्रकार प्रवचन-कथा कहनेवाले के लिये भी यह हि सुझाव दर्शाया है...

शेष = लोकीकी दिशाओंको पहचानने के लिये कहते हैं...

नि. ५२

प्रज्ञापक के दायें हाथ की और दक्षिण दिशा तथा बायें हाथ की और उत्तर दिशा... इन चारों दिशाओंके बीच चार अन्य विदिशाएं हैं...

नि. ५३

इन चार दिशा एवं चार विदिशा = आठ दिशाओंके बीचमें अन्य भी आठ दिशाएं होती है इस प्रकार सोलह (१६) दिशाएं शरीरकी उंचाइ एवं चौडाई के नापकी तिरच्छी (साइड) दिशाएं है...

नि. ५४

चरण = पैरके नीचेकी और अधोदिशा... एवं मस्तकके उपरकी और उर्ध्वदिशा... इस प्रकार १६ + २ = १८ अठारह **प्रज्ञापक** दिशाएं है...

नि. ५५

इस प्रकार प्रकल्पित दश एवं आठ दिशाओंके नाम अनुक्रमसे कहते हैं...

नि. ५६

१.	पूर्व	२.	पूर्व - दक्षिण कोना (अग्नि)
३.	दक्षिण	३.	दक्षिण - पश्चिम कोना (नैऋत्य)
५.	पश्चिम	६.	पश्चिम - उत्तर कोना (वायव्य)
७	उत्तर	८.	उत्तर - पूर्व कोना (ईशान)

नि. ५७

९.	सामुत्थाणी	१०.	कपिला
११.	खेलनीया	१२.	अहिधर्मा

१३.	पर्या - धर्मा	१४.	सावित्ती
१५.	पण्णवित्ती	१६.	

नि. ५८

१७	नीचे नारकीयोंकी अधोदिशा
१८	उपर देवोंकी ऊर्ध्वदिशा

ये उपर कहे गये अठ्ठारह प्रज्ञापक दिशाओंके नाम है...

नि. ५९

इन अठ्ठारह दिशाओंमें से सोलह दिशाएं शकट=बैलगाडीके उध्धके आकारसे प्रज्ञापकके स्थानमें संकडी और बहारकी और विशाल रही हुइ है, और मल्लक = शरावके आकार जैसी उपर-नीचेकी दिशा है... क्योंकि वे सरावले के बुध्नाकार के स्थान पे अति अल्प और बादमें अनुक्रमसे चौडी = बृहत् (बडी) होती हैं... इन सभी दिशाओं का तात्पर्य यंत्र से समझ लीजीयेगा...

नि. ६०

अब भाव-दिशा का स्वरूप कहते हैं...

मनुष्यके चार प्रकार		तिर्यंच जीवोंके भी चार प्रकार	
१.	सम्मूर्च्छिमज	१.	दो इंद्रियवाले
२.	कर्मभूमिज	२.	तीन इंद्रियवाले
३.	अकर्मभूमिज	३.	चार इंद्रियवाले
४.	अंतरद्वीपज	४.	पांच इंद्रियवाले
काय के चार प्रकार		**वनस्पति के चार प्रकार**	
१.	पृथ्वीकाय	१.	अग्र बीज
२.	अप्काय	२.	मूल बीज
३.	तेजःकाय	३.	स्कंध बीज
४.	वायुकाय	४.	पर्व बीज...

यह ४+४+४+४=१६ सोलह दिशाएं और देव तथा नारक की मिलाकर अठ्ठारह भाव दिशाएं मानी गइ है... संसारी जीवोमें यह अठ्ठारह भाव होनेके कारणसे भाव-दिशाका कथन

जीवमें हि किया गया है... इस प्रकार भाव-दिशाएं अठारह (१८) प्रकारसे है...

यहां सामान्यसे दिशा का ग्रहण किया है, तो भी जिस भाव दिशामें जीवोंकी कर्मानुसार गति एवं आगति होती है, उन भाव दिशाओंका यहां अधिकार है, अतः इन भाव दिशाओंका स्वरूप निर्युक्तिकार स्वयं हि कहते हैं...

यह भाव-दिशा जीवोंसे अविनाभावी संबंधवाली है अतः इस आचारांग सूत्रमें भावदिशा का हि अधिकार है, और इस भाव दिशाको समझनेके लिये हि अन्य सभी दिशाओंका विचार किया है...

नि. ६१

प्रज्ञापक की अठारह (१८) दिशाएं होती है, और भाव दिशा भी अठारह (१८) कही है... अब प्रज्ञापक की १८ दिशाओंके साथ १८ भावदिशाका अनुसंधान करने से १८ × १८ = ३२४ दिशाएं होती है... इस उपलक्षण (पद्धति) से ताप-दिशाओंके साथ भी यथासंभव अनुसंधान हो शकता है...

क्षेत्रदिशामें तो केवल चार महादिशाओंमें हि आवागमन संभव है, विदिशाओं में नहिं, क्योंकि- विदिशाएं एक-एक प्रदेशकी हि होती है...

यह दिशाओंका समूह "अण्णयरीओ दिशाओ" इस पदके कारणसे हि संग्रहित कीया है...

सूत्रके अवयवका अर्थ इस प्रकार है- यहां दिशा शब्दसे प्रज्ञापक की चार दिशाएं, पूर्वादि चार एवं उर्ध्व-अधोदिशाओंका ग्रहण कीया है...

भावदिशाएं तो अठारह हि है, और अनुदिशा शब्दसे प्रज्ञापक की बारह विदिशाएं ग्रहण की है...

इस विषयमें असंज्ञी जीवोंको यहां कोइ भी प्रकारका ज्ञान नहिं होता है, जबकि-संज्ञी जीवोंमें कितनेक को ज्ञान होता है, और कितनेकको यह ज्ञान नहिं होता है कि- मैं यहां किस दिशासे आया हूं ?...

इस प्रकारसे यहां इस द्वितीय सूत्रका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि- इस प्रकार कितनेक (कई) जीवोंको यह ज्ञान नहिं होता है कि- मैं कोन सी दिशा या विदिशासे आया हुं...

नि. ६३

कितनेक जीवोंको ज्ञानावरणीयकर्मकि क्षयोपशमसे यह ज्ञान होता है, और कितनेक ज्ञानावरणीयकर्मकि आवरणवाले कितनेक जीवोंको यह ज्ञान नहिं होता है, वह इस प्रकार-

क्या मैं गये जन्ममें मनुष्य था ? इससे भाव दिशाका ग्रहण किया है...

मैं कौनसी दिशासे आया हूं ? इससे प्रज्ञापक दिशाका ग्रहण किया गया है...

जिस प्रकार **कोइक** मनुष्य मदिराके मदसे चंचल आंखोवाला अतः एव अस्पष्ट समझवाला वह मनुष्य मार्गमें गिरा हुआ अतः एव कुत्ते उसके मुंहको चाटते हैं ऐसे मनुष्यको घरमें लानेके बाद जब मद उत्तर जाता है तब वह यह पूर्वोक्त बातोंको जिस प्रकार नहिं जानता, बस इसी हि प्रकारसे संसारी जीव भी यह नहिं जानता कि मैं कहांसे आया हुं...

केवल यह संज्ञा नहिं है ऐसा नहिं किंतु और अन्य संज्ञा भी नहिं होती, यह बात सूत्रकार स्वयं हि आगे के सूत्रसे कहेगें...

VI सूत्रसार :

आत्मा में अनन्त चतुष्क अर्थात् १-अनन्त ज्ञान, २-अनन्त दर्शन, ३-अनन्त चारित्र, और ४-अनन्त वीर्य है । सिद्ध आत्माओं में ही नहीं, प्रत्युत संसार में स्थित प्रत्येक आत्मा में इन शक्तियों की सत्ता-अस्तित्व मौजूद है । फिर भी अनन्त काल से कर्मप्रवाह में प्रवहमान होने के कारण यह आत्मा संसार में इधर-उधर परिभ्रमणा करती रहती है, चार गति-चौरासी लाख जीवयोनि में घूमती-भटकती है, कभी उर्ध्व दिशा में उड़ान भरती है, तो कभी अधोदिशा की और प्रयाण करती है । कभी पूर्वदिशा की और बढ़ती है, तो कभी अस्ताचल-पश्चिमदिशा की और जा पहुंचती है । कभी उत्तरदिशा की तरफ गतिशील होती है, तो कभी दक्षिण दिशा का रास्ता नापती है । इस तरह कर्मबद्ध आत्मा संसार की इन सब दिशा-विदिशाओं में घूमती फिरती है । इस भव भ्रमण का मूल कारण कर्म-बन्धन है और कर्मबन्धन का मूल राग-द्वेष है । जब तक आत्मा में राग-द्वेष की परिणति है, तब तक वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती । क्योंकि राग-द्वेष कर्मरूपी वृक्ष का बीज है, मूल है । जब तक बीज या मूल सुरक्षित है, स्वस्थ है, तब तक वृक्ष धराशायी नहीं हो सकता । यदि पूर्व फलित शाखा-प्रशाखाओं को काट भी दिया गया, तब भी मूल के सद्भाव में वृक्ष का पूर्णतया नाश-विनाश नहीं हो सकता । मूल हरा भरा है । तो वह पुनः अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो उठेगा । यही स्थिति कर्मवृक्ष की है । पूर्व कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, क्षय हो जाते हैं, परन्तु उनका मूल रागद्वेष मौजूद रहता है, इससे उनका समूलतः नाश नहीं होता । पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है तो नए कर्मो का बन्ध हो जाता है । इस तरह एक के बाद दूसरा प्रवाह प्रवहमान ही रहता है । अस्तु, कर्म के मूल राग-द्वेष का क्षय किए बिना कर्मवृक्ष का समूलतः नाश नहीं होता, और उसका पूर्णतः नाश हुए बिना आत्मा भव-भ्रमण के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकती ।

आस्तिक माने जाने वाले सभी दार्शनिकों का विश्वास है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ज्ञान को स्व-प्रकाशक मानने के संबन्ध में दार्शनिकों में एकरूपता परिलक्षित नहीं

होती । कतिपय दार्शनिक ज्ञान को स्व-प्रकाशक नहीं, परन्तु पर-प्रकाशक मानते हैं । उनका कहना है कि आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को नहीं जानता, परन्तु पर को जानता है जैसे- आंख दुनिया के दृश्यमान पदार्थों का अवलोकन करती है, परन्तु अपने आप को नहीं देखती। इसी तरह ज्ञान भी अपने से इतर सभी द्रव्यों को, पदार्थों को देखता-जानता है । परन्तु अपना परिज्ञान उसे नहीं होता । अपने आप को जानने के लिए इतर ज्ञान की अपेक्षा रखता है ।

परन्तु, जैनदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान स्व-प्रकाशक भी है और पर-प्रकाशक भी। जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, वह दूसरे पदार्थ का भी अवलोकन नहीं कर सकता। वही ज्ञान अन्य द्रव्यों को भली-भांति देख सकता है कि- जो अपने आपको भी देखता है । जैसे दीपक का प्रकाश अन्य पदार्थों के साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है । ऐसा नहीं होता कि दीपक के अतिरिक्त कमरे में स्थित अन्य सभी पदार्थ तो दीपक के उजेले में देख लें और उस जलते हुए दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक लाएं । जो ज्योतिर्मय दीपक सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, वह अपने आप को भी प्रकाशित करता है । उसे देखने के लिए दूसरे प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस तरह आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को भी जानता है और उस ज्ञान से अन्य द्रव्यों का भी परिज्ञान करता है । यों कहना चाहिए कि वह अपने को देखकर ही इतर द्रव्यों या पदार्थों को देखता है ।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं कि बहिनें भोजन तैयार करके दूसरों को परोसने-खिलाने के पहले स्वयं चाख लेती हैं । यदि उन्हें स्वादिष्ट लगता है, तो वे समझ लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, परिवार के सभी सदस्यों को अच्छा लगेगा । यदि ज्ञान स्वसंवेदक या स्व-प्रकाशक नहीं होता तो बहिनों को यह ज्ञान कैसे होता कि यह भोजन सबको स्वादिष्ट लगेगा। परन्तु, ऐसा संवेदन प्रत्यक्ष में होता है और हम प्रतिदिन देखते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वप्रकाशक भी है । वह भोजन को चाख कर जब यह निर्णय कर लेती है कि भोजन ठीक बना है, तो वह अपने इसी निर्णय से जान लेती हैं कि यह खाद्य पदार्थ सब को पसन्द आ जाएगा । जो वस्तु मुझे स्वादिष्ट एवं आनन्दप्रद लगती है, वह दूसरों को भी वैसी प्रतीत होगी । क्योंकि उन में भी मेरे जैसी ही आत्मा है, और वह भी मेरे जैसी अनुभूति एवं संवेदन युक्त है । इस तरह स्व के ज्ञान से पर के ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति होती है । आगमों में भी कहा है-सब प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, सुख सब को प्रिय है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी भी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा-घात न करे न दूसरों से करावे और न हिंसा करने वाले का समर्थन करे, इस के अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र में बताया है कि जो अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जानता है और राग-द्वेष में समभाव रखने वाला है, वही पूज्य है । अपनी आत्मा से आत्मा को जानने का तात्पर्य है कि अपनी ज्ञानमय आत्मा से अपने स्वरूप को जानना-समझना । इन सब से यह स्पष्ट होता है कि

आत्मा ज्ञानमय है और–ज्ञान स्वप्रकाशक भी है । उसे अपने बोध के साथ दूसरे का भी परिबोध होता है ।

इस से स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है । जीव का लक्षण बताते हुए आगम में कहा है कि "जीवो उवओगलक्खणो" अर्थात्–जीव का उपयोग लक्षण है । वह उपयोग १–ज्ञान, २–दर्शन, ३–सुख और ४–दुःख रूप से चार प्रकार का है । इस प्रकार भी कहा गया है कि 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग' ये जीव के लक्षण है । उक्त दोनों गाथाओंमें सुख-दुःख का संवेदन एवं चारित्र तथा तप का आचरण व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण बताया गया है । सुख-दुःख का संवेदन वेदनीय कर्मजन्य साता-असाता या शुभ-अशुभ संवेदन का प्रतीक होने से समस्त जीवों में और सदा काल नहीं पाया जाता । क्योंकि यह संवेदना कर्मजन्य है, अतः कर्म से आबद्ध संसारी जीवों में ही इसका अनुभव होता है और वह अनुभूति भी संसार अवस्था तक ही रहती है । इसी तरह चारित्र एवं तप भी सभी जीवों में सदा-सर्वदा विद्यमान नहीं रहता । क्योंकि चारित्र अर्थ है–आत्मा में प्रविष्ट कर्मसमूह को निकालने वाला अर्थात् आत्मभवन में निवसित कर्मसमूह को खाली करनेवाला । इससे यह भली भांति स्पष्ट हो गया है कि चारित्र तभी तक है, जब तक कर्मों का प्रवाह प्रवहमान है । जिस समय जीव–आत्मारूपी सरोवर कर्मरूपी पानी से सर्वथा खाली हो जाता है तब फिर चारित्र की अपेक्षा नहीं रहती है । अस्तु, चारित्र की आवश्यकता साधक अवस्था में है, न कि सिद्ध अवस्था में । इसलिए चारित्र भी व्यवहार की अपेक्षा जीव का लक्षण है । तप चारित्र का ही भेद है, इसलिए वह भी आत्मा में सदा सर्वदा नहीं पाया जाता । परन्तु ज्ञान, दर्शन और वीर्य ये आत्मा में सदा सर्वदा पाए जाते हैं । इसलिए वीर्य और उपयोग को आत्मा का निश्चय रूप से लक्षण कहा गया है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य का आत्मा में सदा सद्भाव रहता है । यह बात अलग है कि कर्मों के साधारण या प्रगाढ़ आवरण से आत्मज्योति का या अनंत चतुष्क का कुछ या बहुत सा भाग आवृत हो जाए, परंतु उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप एवं विनाश नहीं होता।

यहां जीव के छह (६) लक्षण सिद्धात्मा में इस प्रकार घटित हो पाएंगे

(१)	ज्ञान	-	केवलज्ञान	(२)	दर्शन	-	केवलदर्शन
(३)	चारित्र	-	यथाख्यातचारित्र	(४)	तप	-	शुक्लध्यान
(५)	वीर्य	-	अनन्तवीर्य	(६)	उपयोग	-	ज्ञानदर्शनोपयोग...

तथा संसारी जीव में छह (६) लक्षण इस प्रकार प्राप्त होंगे...

(१) ज्ञान - क्षायोपशमिक मति आदि... (२) दर्शन - चक्षुर्दर्शनादि

(3)	चारित्र	-	मोह के क्षयोपशम से	(४) तप - अनशनादि १२ भेद
(५)	वीर्य	-	योग प्रवर्तन - पुरुषार्थ	(६) उपयोग - मतिज्ञानादि का उपयोग...

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब फिर अनेक जीव अज्ञ-मूर्ख क्यों दिखाई देते हैं ? यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा ज्ञानयुक्त है। ज्ञान के अभाव में उसका अस्तित्व रह ही नहीं सकता । जैसे सूर्य की किरणें एवं प्रखर प्रकाश सदा उसके साथ रहता है । जब बादल छा जाते हैं या राहु का विमान उसे प्रच्छन्न कर लेता है, तब भी रजत-रश्मियें उस सहस्त्ररश्मि से अलग नहीं होती उनका अस्तित्व उस समय भी बना रहता है । परन्तु बादलों एवं राहु के विमान का कालिमामय गहरा आवरण होने से सहस्त्ररश्मि-सूर्य का प्रखर प्रकाश हमें दिखाई नहीं देता । इतना होने पर भी उसके अस्तित्व का पता लगता रहता है । भले कितने ही घन घोर बादल क्यों न छाए हों, उनमें से छन-छन कर आता हुआ मन्द २ प्रकाश दिन की प्रतीति करा ही देता है । इसी तरह ज्ञानावरणीयकर्मवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के आवरण के कारण आत्मा का अनन्त ज्ञान भानु प्रच्छन्न रहता है । कभी-कभी यह आवरण इतना गहरा हो जाता है कि आत्मा अपने पूर्व स्थान को ही भूल जाती है, अनेक जीवों की स्मरणशक्ति या जानने-पहचानने की ताक़त बहुत कम रह जाती है । परन्तु आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता । उसकी थोड़ी बहुत झलक पड़ती ही रहती है । अनन्त काल के लम्बे एवं विस्तृत जीवन में एक भी समय ऐसा नहीं आता कि ज्ञानदीप सर्वथा बुझ जाए । इसी कारण उसका लक्षण उपयोग बताया गया है । क्योंकि वह सदा सर्वदा आत्मा में रहता है और आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता । यह बात अलग है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय एवं क्षयोपशम के कारण आत्मा में इसका अपकर्ष एवं उत्कर्ष होता रहता है । जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है, तब इसका अपकर्ष दिखाई देता है । इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दिखाया है कि ज्ञान का अधिक भाग प्रच्छन्न हो जाने के कारण कई जीवों को इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व दिशा से आया हूं या पश्चिम आदि दिशा-विदिशाओं से आया हूं ।

'दिसाओ' इस पद का अर्थ है-दिशाएं । दिशाएं तीन प्रकार की होती है-१-उर्ध्वदिशा, २-अधोदिशा, और ३-तिर्यग्दिशा । उपर की और को उर्ध्व-दिशा, नीचे की और को अधो-दिशा और इन उभय दिशाओं के मध्य भाग को तिर्यग्दिशा कहते हैं । तिर्यग्दिशा-पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा के भेद से चार प्रकार की है । जिस और से सूर्य उदित होता है, उसे पूर्वदिशा कहते हैं । जिस और सूर्य अस्त होता है, उसे पश्चिमदिशा कहते हैं । सूर्य के सम्मुख खड़े होने पर बांए हाथ की और उत्तर दिशा है और दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण-दिशा है। इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा में उक्त चार तिर्यग् दिशाओं को मिला देने से ६ दिशाएं होती हैं । इसके अतिरिक्त चार विदिशाएं भी होती हैं, जिन्हें सूत्रकार ने 'अणुदिशाओ' पद से

अभिव्यक्त किया है, जिन्हें १-ईशान कोण, २-आग्नेय कोण, ३-नैर्ऋत्य कोण और ४-वायव्य कोण कहते हैं । उत्तर और पूर्वदिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहते हैं । पूर्व एवं दक्षिणदिशा के बीच का कोण आग्नेय कोण के नाम से जाना-पहचाना जाता है । दक्षिण और पश्चिम का मध्य कोण नैर्ऋत्य कोण के नाम से प्रसिद्ध है । और पश्चिम तथा उत्तर दिशा के बीच का कोण वायव्य कोण के नाम से व्यवहृत है । मेरु पर्वत को केन्द्र मानकर इन सभी दिशा-विदिशाओं का व्यवहार किया जाता है । इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा, चार तिर्यग् दिशाएं और चार विदिशाएं कुल मिला कर २+४+४=१० होती हैं । परंतु निर्युक्तिकार ने इस मान्यता से अपना भिन्न मत भी उपस्थित किया है । उन्होंने सर्वप्रथम दिशा के द्रव्य और भाव दिशा ये दो भेद किए हैं और तदनन्तर दोनों के अठारह-अठारह भेद किए हैं । १८ द्रव्य दिशाओं का वर्णन इस प्रकार किया है-

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चार दिशाएं हैं । इन चारों के अंतराल में चार विदिशाएं हैं । चार दिशा और चार विदिशा इन आठ के मध्य में आठ और अंतर हैं । इस प्रकार ये सोलह दिशाएं बनती हैं और उक्त १६ में ऊर्ध्व और अधो दिशा, ये दो दिशाएं मिला दें तो कुल अठारह दिशाएं बनती हैं । ये समस्त द्रव्य दिशाएं हैं ।

निर्युक्तिकार ने भाव दिशाएं भी १८ बताई हैं । मनुष्य, तिर्यञ्च, काय, वनस्पति, देव और नारक इनकी अपेक्षा से भाव दिशा के १८ भेद किए हैं । यथा-मनुष्य चार प्रकार के हैं-१-सम्मूर्च्छिम मनुष्य, २-कर्मभूमि मनुष्य, ३-अकर्मभूमि मनुष्य और ४-अंतर्द्वीपज मनुष्य। तिर्यञ्च के भी ४ भेद होते हैं=१-द्वीन्द्रिय, २-त्रीन्द्रिय, ३-चतुरिन्द्रय और ४-पञ्चेन्द्रिय । काय के भी चार भेद हैं-१-पृथ्वी काय, २-अप् काय, ३-तेजस्काय और ४-वायुकाय । वनस्पति भी चार तरह की होती है-१-अग्रबीज, २-मूलबीज, ३-स्कंध बीज और पर्वबीज । इस तरह चतुर्विध मनुष्य, चतुर्विध तिर्यञ्च, चतुर्विध काय और चतुर्विध वनस्पति कुल मिला कर ४+४+४+४=१६ भेद हुए और उक्त सोलह में १-नारक और १-देव मिलने से १८ भेद होते हैं । इन सब को भाव दिशा कहा है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि कर्मों से आबद्ध जीव इन्हीं योनियों में यत्र-तत्र परिभ्रमण करता रहता है । इसलिए इनको भाव दिशा कहा है ।

"अण्णायरीओ वा दिसाओ" का अर्थ है-अन्यतर दिशा से । इसका तात्पर्य इतना ही है कि पूर्व-पश्चिम आदि उक्त दिशाओं में से किसी भी एक दिशा से आया हूं । उक्त वाक्य से शास्त्रकार ने पुनः उन सभी दिशाओं की ओर समुच्चय रूप से संकेत कर दिया है । या यों भी कह सकते हैं कि उक्त समस्त दिशाओं के बीच किसी भी दिशा से इस भाव को प्रस्तुत वाक्य से अभिव्यक्त किया है ।

"आगओ अहमंसि" वाक्य का अर्थ है-मैं आया हूं । सूत्रकार ने उक्त पदों को उपन्यस्त करके जैन दर्शन की आत्मा संबंधी मान्यता की और संकेत कर दिया है । जैन दर्शन आत्मा को अनन्त और लोक के एक देश में स्थित या संसारी आत्मा को शरीर परिमाण मानता है। कुछ दार्शनिक आत्मा को एक और सर्वव्यापक मानते हैं । वस्तुतः ऐसा है नहीं, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि 'मैं आया हूं' यदि ऐसा मान लिया जाए कि दुनिया में एक ही आत्मा है और वह सर्व व्यापक है तो "मैं किस दिशा से आया हूं तथा किस दिशा या गति में जाऊंगा ?" ऐसा प्रयोग घट नहीं सकता । फिर पुनर्जन्म एवं बंध-मोक्ष, सुख-दुःख आदि अवस्थाएं भी घटित नहीं हो सकेंगी । क्योंकि जब आत्मा सर्वव्यापक है तो वह नारक, देव, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि सभी गतियों में स्थित है, फिर एक गतिका आयुष्य पूर्ण करके दूसरी गति में जाने की बात एवं जन्म-मरण की बात युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होती। जब यह सब जगह व्याप्त है तब तो वह बिना मरे या जन्मे ही यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां जाना चाहे पहुंच जाएगा । न उसे गति करने की आवश्यकता है और न अन्य क्रिया करने की ही ज़रुरत है । परन्तु ऐसा होता नहीं है । व्यवहार में भी हम स्वयं चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते हैं । यही स्थिति पुनर्जन्मके सम्बन्ध में समझनी चाहिए । संसारी आत्मा कार्मण शरीर के साधन से एक गति से दूसरी गति की यात्रा तय करती है । इस से स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि आत्मा सर्व व्यापक नहीं, देश व्यापक है । वह लोक के एक देश में स्थित है या यों भी कह सकते हैं कि संसारी आत्मा अपने शरीर परिमाण स्थान में स्थित हैं और मुक्त आत्माएं सिद्धशिला में-जो ४५ लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है और जिस की एक करोड़ ब्यालीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ उन्नपचास योजन से कुछ अधिक परिधि है, उसके एक गाऊ अर्थात् दो मील के ऊपर के छठे हिस्से में याने 333 १/3 धनुष प्रमाण लोक के अन्तिम प्रदेश को स्पर्श किए हुए स्थित हैं । इस तरह सिद्ध या संसारी कोई भी आत्मा समस्त लोक व्यापी नहीं; बल्कि लोक के एक देश में स्थित हैं ।

जैन दर्शन ने भी संसार में स्थित सर्वज्ञ एवं सिद्धों की आत्मा को एक अपेक्षा से सर्व व्यापक माना है । वह अपेक्षा यह है कि जब केवल ज्ञानी के आयुष्य के अन्तिम भाग में नाम गोत्र एवं वेदनीय कर्म अधिक एवं आयुष्य कर्म थोड़ा रह जाता है, तब उस समय उक्त तीन कर्मों और आयुष्य कर्म में सन्तुलन लाने के लिए वे केवली समुद्घात करते है । उस समय वे पहले समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्डाकार फैलाते हैं, दूसरे समय में उन्हें कपाट के आकार में बदलते हैं, तीसरे समय में मन्थनी के रूप में अपने आत्मा को फैलाते हैं और चौथे समय में वे अपने आत्म-प्रदेशों को सारे लोक में फैला देते हैं । उनके आत्म-प्रदेश लोक के समस्त आकाश प्रदेशों को स्पर्श कर लेते हैं, पांचवें समय में वे पुनःअपने आत्म प्रदेशों को समेटने लगते हैं और उन्हें मंथनी की स्थिति में ले आते हैं, छट्ठे समय में फिर से कपाट और सातवें समय में दंड के आकार में ले आते हैं, एवं आठवें समय में अपने शरीर में स्थित हो

जाते हैं। यह समुद्घात सभी सर्वज्ञ नहीं करते, वे ही केवल ज्ञानी करते हैं, जिनका वेदनीय *नाम एवं गोत्र कर्म, आयुष्य कर्म से अधिक रह गया है, और उसे थोड़े से समय में ही क्षय* करना है । इस तरह वे अपने आत्म-प्रदेशों को लोक में सर्वत्र फैला देते हैं और तुरन्त समेट भी लेते है । इस अपेक्षा से वे सर्वव्यापी भी है परन्तु वस्तुतः वे भी सदा-सर्वदा के लिए सर्वव्यापी नहीं हैं ।

सर्वज्ञ एवं सिद्धों को एक दूसरी अपेक्षा से भी सर्वव्यापक माना गया है । वह है- ज्ञान की अपेक्षा । क्योंकि वे तीनों लोक एवं तीनों काल में स्थित सभी द्रव्यों को जानते देखते हैं । लोक का एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जिसे वे नहीं जानते हों । अस्तु, ज्ञान की अपेक्षा वे सर्वव्यापक हैं अर्थात् समस्त लोक के द्रव्यों एवं भावों को जानते- देखते हैं । परन्तु आत्म प्रदेशों की अपेक्षा से तो वे भी एक देश व्यापी हैं । क्योंकि आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापी मानने से बन्ध एवं मोक्ष नहीं घट सकता । फिर तो वह संसार एवं मोक्ष में सर्वत्र स्थित रहेगा ही, तब उसे मुक्ति पाने के लिए त्याग-तप एवं धर्म-कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी । अतः आत्मा सर्वव्यापक मानना युक्तिसंगत एवं अनुभवगम्य नहीं कहा जा सकता है ।

आत्मा को एक मानना भी यथार्थ से परे हैं । क्योंकि आत्मा को एक मान लेते है, तो फिर संसारी जीवों में जो कर्मजन्य विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह नहीं होनी चाहिए। संसार में परिलक्षित होने वाले अनन्त-अनन्त जीवों की आत्मा एक है, तो फिर कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई कमज़ोर, कोई ताकतवर, कोई दुबला, कोई भारी शरीर वाला दिखाई देता है, यह भेद भी नहीं रहना चाहिए । फिर तो एक के सुखी होते ही सारा संसार सुखी हो जाना चाहिए एवं एक के दुःखी होते ही सर्वत्र दुःख की काली घटाएं छा जानी चाहिएं । परन्तु, ऐसा होता नहीं । व्यवहार में सबके सुख-दुःख अलग २ दिखाई देते हैं । एक के सुखी होने पर सारा संसार तो क्या, सारा गांव भी सुखी नहीं होता और एक के दुःखी होने पर सभी मुसीबत एवं वेदना के दलदल में नहीं धंसतें। जगत् के सभी जीव अपने-अपने शुभ अशुभ कर्म के अनुरूप सुख दुःख का संवेदन करते हैं । अतः सभी आत्माएं एक नहीं, किन्तु व्यक्तिशः विभिन्न हैं, अनेक हैं, अनंत हैं ।

"मैं आया हूं" प्रस्तुत वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैन दर्शन एकांत रूप से आत्मा को एक एवं सर्वव्यापक नहीं मानता है । सभी आत्माएं पृथक् २ हैं, सबका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और लोक के एक देश में स्थित हैं । इसी कारण वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जा सकती हैं । यदि आत्मा एक एवं सर्व व्यापक हो, तब तो एक आत्मा के चलने पर सभी चलने लगेंगी और एक के ठहरने पर सभी स्थित हो जाएंगी । इस तरह सांसारिक आत्माओं में होने वाला गमनागमन एवं हरकतें ही बंद हो जाएंगी और फिर "मैं

आया हूं" आदि शब्दों का प्रयोग ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगा । परंतु ऐसा होता नहीं, यह प्रयोग वास्तविक है । और इसी से यह सिद्ध होता है कि आत्माएं अनन्त हैं और हर कोइ आत्मा लोक के एक देश में स्थित हैं ।

जैन और वैदिक उभय परंपराओं में योग शब्द का प्रयोग मिलता है । शब्द साम्यता होते हुए भी दोनों सम्प्रदायों में योग शब्द के किए जाने वाले अर्थ में एक रूपता नहीं मिलती। दोनों इसका अपने ढंग से स्वतन्त्र अर्थ करते हैं । जैन दर्शन में योग शब्द का प्रयोग मन, वचन और काया की प्रवृत्ति में किया गया है । मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया को ही योग कहा गया है और मुमुक्षु के लिए आगमों में यह आदेश दिया गया है कि अपने मन, वचन और शरीर के योगों को अशुभ कार्यों से, पाप कार्यों से हटा कर शुभ कार्य में या संयम मार्ग में प्रवृत्त.करें । इसे आगमिक परिभाषा में गुप्ति और समिति कहते हैं । जैन दृष्टि से मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं । और पातञ्जल योग दर्शन वैदिक संप्रदाय का योग विषयक सर्वमान्य ग्रंथ है । प्रस्तुत ग्रंथ में योग की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है–"चित्त की वृत्तियों का निरोध करना अथवा उन की प्रवृत्ति को रोकना योग है ।"

दोनों परम्पराओं की मान्य परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन में योग शब्द का प्रयोग चित्त वृत्ति के निरोध में नहीं, बल्कि मन, वचन एवं शरीर के व्यापार में किया गया है । इस त्रियोग में चिंतन, मनन की प्रधानता रहती है । इस योग पद्धति से यदि प्रस्तुत सूत्र के आध्यात्मिक रहस्य पर गहराई से सोचा-विचारा एवं चिंतन-मनन किया जाए तो साधना के क्षेत्र में इस सूत्र का बहुत महत्त्व बढ़ जाता है । मुमुक्षु के लिए यह सूत्र बहुत ही उपयोगी है ।

प्रस्तुत सूत्र के वर्णनक्रम से हि सूत्रकार ने सर्वप्रथम पूर्वादि चार दिशाओं का और तदनंतर ऊर्ध्व और अधो इन दो दिशाओं का और अंत में विदिशाओं का क्रमशः वर्णन किया है । पूर्व आदि सभी दिशाओं का व्यवहार मेरू पर्वत को केंद्र मानकर किया जाता है परंतु इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी चिंतन कर सकता है । जब ध्यानस्थ व्यक्ति एक पदार्थ पर दृष्टि रखकर मानसिक चिंतन करता है, तब वह अपनी नाभि को केन्द्र मानकर सोचता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूं । इस तरह चिंतन-मनन में योगों की प्रवृत्ति होने पर मन में एकाग्रता आती है और इससे आत्मा में विकास होने लगता है । और चिंतन की गहराई में गोते लगाते २ ध्यानस्थ आत्मा को विशिष्ट बोध भी हो जाता है । यदि चिंतन-मनन का प्रवाह एक रूप से निर्बाध गति से सतत चलता रहे और विचारों में स्वच्छता एवं शुद्धता बनी रहे तो उसे यह भी परिज्ञात हो जाता है कि मैं किस दिशा से आया हूं । फिर उस से यह रहस्य छिपा नहीं रहता । और दिशा सम्बन्धी आगमन के रहस्य

का आवरण अनावृत्त होते ही उसकी आत्मा अपने स्वरूप में रमण करने लगती है, साधना एवं ध्यान या चिन्तन-मनन में संलग्न हो जाती है । इस तरह प्रस्तुत सूत्र मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है । इससे विचारों में, चिन्तन में एवं साधना के प्रवृत्ति क्षेत्र में एकाग्रता आती है, ज्ञान का विकास होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि संसार में ऐसे भी अनेक जीव है, जिनको ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता के कारण इस बात का परिबोध नहीं होता कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूं । ऐसे जीवों को 'किस दिशा से मैं आया हूं' इसके अतिरिक्त और भी जिन अनेक बातों का परिज्ञान नहीं होता है, उनका निर्देश सूत्रकार आगे के सूत्र में करेंगे...

I सूत्र ॥ 3 ॥

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि ? ॥3॥

II संस्कृत-छाया

अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिकः, कोऽहमासम् ? को वा इतश्च्युत इह प्रेत्य भविष्यामि ?

III शब्दार्थ :

मे आया–मेरी आत्मा । **उववाइए अत्थि**–औपपातिक–उत्पत्तिशील है । **या, मे आया**–मेरी आत्मा । **उववाएइ नत्थि**–उत्पत्तिशील-जन्मातन्र में संक्रमण करने वाली नहीं है । **के अहं आसि**–मैं (पूर्व भव में) कौन था ? वा–अथवा । **इओ चुए**–यहां से मरण पाकर अर्थात्-यहां के आयुष्कर्म को भोग कर । **इह**–इस संसार में । **पेच्चा**–परलोक जन्मान्तर में । **के भविस्सामि**–क्या बनूंगा ?

IV सूत्रार्थ

मेरी आत्मा जन्मांतरसे आई हुई है, ? अथवा तो क्या मेरी आत्मा जन्मांतरसे नहि आई है, ? मैं कौन हुं ? मैं यहांसे मर कर जन्मांतरमें क्या बनुंगा ? (यह ज्ञान-संज्ञा कितनेक जीवोंको नहिं है...) ॥3॥

V टीका-अनुवाद :

मेरे इस शरीरका अधिष्ठायक आत्मा जन्मान्तरसे आकर उत्पन्न हुआ है या नहिं ? इस प्रकारकी संज्ञा = ज्ञान कितनेक अज्ञानी जीवोंको नहिं होता, तथा मैं कौन हुं ? अर्थात् गये

जन्ममें क्या मैं मनुष्य था ? या तो नरक या तिर्यंच अथवा देव ? और इस मनुष्य जन्मसे मरण होने पर मैं जन्मांतरमें देवादि चार प्रकारमेंसे क्या बनुंगा ? इस प्रकारकी संज्ञा नहिं होती...

यहां यद्यपि सभी जगह भावदिशाका एवं प्रज्ञापक दिशाका हि अधिकार है, तो भी पूर्व के सूत्रमें स्पष्ट हि प्रज्ञापक- दिशा ग्रहण की थी, किंतु यहां तो भावदिशा हि समझीयेगा...

शिष्य प्रश्न करता है कि- यहां संसारी जीवोंको दिशा या विदिशासे आवागमन रूप विशेष संज्ञाका निषेध करते हैं, न कि- सामान्य संज्ञा का, और यह संज्ञा भी संज्ञी-जीवको हि होती है... कहा भी है कि- धर्मी होने पर हि धर्म चिंतन कीया जाता है... और वह जीव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणके विषयसे पर = अतीत होनेके कारणसे जानना मुश्केल है... वह इस प्रकार - यह आत्मा = जीव इंद्रिय प्रमाणका विषय नहीं बनता... क्योंकि- आत्मा अतीन्द्रिय है... और आत्मा का अतीन्द्रियत्व, हि स्वभाव से विप्रकृष्ट होने के कारणसे हि माना गया है, और अतीन्द्रियत्व इसलिये भी कहा है क्योंकि- आत्माके साहजिक कार्यादिके चिह्नका संबंध ग्रहण नहि होता है... = अनुमान-प्रमाणसे भी आत्मा ग्रहण नहिं होती है... क्योंकि- आत्मा इंद्रियोंको प्रत्यक्ष नहिं होनेके कारणसे आत्माको सामान्यसे भी ग्रहण करना असंभव है... = उपमान-प्रमाणसे भी आत्म ग्रहण नहिं हो शकती है... और आगम-प्रमाणकी दृष्टिसे कहते हैं तब भी अनुमानके अंतर्गत होनेके सिवाय बाह्य वस्तुमें संबंध नहिं होने से, प्रमाण का अभाव माना है... अथवा तो प्रमाण मानें तो भी आगम-वचनोंमें परस्पर विरोध दिखाइ पडता है, और आगम के सिवाय भी सकल वस्तुओंका बोध तो होता हि है... = अर्थापत्ति - प्रमाणसे भी आत्मा नहि जानी जा शकती... इस प्रकार प्रत्यक्ष - अनुमान - उपमान - आगम और अर्थापत्ति यह पांच प्रमाणके सिवाय छठ्ठे प्रमाणका विषय होने से आत्मा का अभाव हि माना जाएगा...

प्रयोग इस प्रकार है-

१. आत्मा नहिं है...

२. क्योंकि- प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण का विषय नहिं बनती...

3. जैसे कि - गद्धेके शिंग...

इस प्रकार आत्माका अभाव सिद्ध होने पर विशिष्ट संज्ञाका हि निषेध हो जाएगा... और ऐसा होने पर इस सूत्रका उत्थान हि नहिं होगा... उत्तर- यह सभी बाते गुरुकी सेवा नहि करनेवालोंकी हि है... जब कि- गुरुकी सेवा करनेवालोंकी बात इस प्रकार है-

१. आत्मा प्रत्यक्ष हि है...

२. क्योंकि- आत्माका ज्ञान-गुण स्वयंको अनुभव सिद्ध है...

3. जैसे कि- विषयोंकी स्थिति स्वसंवेदनसिद्ध होती है...

घट, पट आदि वस्तुओंका भी रूप आदि गुण प्रत्यक्ष हि है, अतः घट-पट वस्तुएं प्रत्यक्ष हि है...

घट आदि पदार्थोंके विनाशको मरण नहि कहतें अतः चैतन्य भूतगुण नहि है किंतु चैतन्य आत्माका गुण है... अन्य जीवोंमें, छोडने योग्य वस्तुओंका त्याग एवं ग्रहण करने योग्य वस्तुओंका ग्रहण क्रियाको देखनेसे, अनुमान प्रमाण के द्वारा आत्मा (जीव) की सिद्धि होती है... इसी प्रकार उपमान... आगम आदि प्रमाणसे जीवकी सिद्धि होती है... किंतु यहां जिनेश्वरोंके स्याद्वाद - सिद्धांतका आदर करना जरूरी है...

जैसे कि- मैं आंखोसे कमल पुष्प देखता हूं... यहां आंखोके द्वारा देखनेवाला मैं आत्मा हूं, कि- जो शरीरमें रहा हुआ हूं... जैसे मकानकी खिडकीसे बाहारकी वस्तुओंका देखनेवाला आदमी अलग है और मकानकी खिडकी अलग है... मकानकी खिडकी, वह आदमी नहि है, और आदमी, वह मकानकी खिडकी नही है इत्यादि...

शेष = अन्य मतों के शास्त्र अनाप्त प्रणीत होने के कारणसे अप्रमाण है... (प्रमाणित नहिं है...) यहां... आत्मा है... ऐसा माननेवाले क्रियावादी है... आत्मा नहिं है... ऐसे माननेवाले अक्रियावादी है... और उन्हींके कुमतमें अंतर्भूत होनेके कारणसे अज्ञानवादी और विनयवादीओंका भेद-प्रभेदसे ३६३ पाखंड-मत कहे गये है... वे इस प्रकार...

१८०	क्रियावादी
८४	अक्रियावादी
६७	अज्ञानवादी
३२	विनयवादी
३६३	प्राखंड मत...

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह नव पदार्थ है...

९ × २ = १८ स्व एवं पर-भेदसे...

१८ × २ = ३६ नित्य एवं अनित्य-भेदसे...

३६ × ५ = १८० काल-नियति-स्वभाव-ईश्वर एवं आत्मके भेद से कुल १८० भेद... क्रियावादीके है...

ये सभी आत्माका अस्तित्व स्वीकारते हैं... वे १८० भेद इस प्रकार होते हैं...

१. अस्ति जीवः स्वतः कालतश्च नित्यः

२. अस्ति जीवः स्वतः कालतश्च अनित्यः

३. अस्ति जीवः परतः कालतश्च नित्यः

४. अस्ति जीवः परतः कालतश्च अनित्यः

यह चार भेद काल से हुए... काल के स्थानमें नियति - स्वभाव - ईश्वर एवं आत्मा रखने से ४ × ५ = २० भेद हुए...

यह २० भेद जीव पदार्थके हुए... अब जीवके स्थानमें अजीव आदि पदार्थ रखनेसे... २० × ९ = १८० भेद क्रियावादीके हुए....

स्वतः याने जीव अपने हि स्वरूपसे है किंतु ह्रस्वत्व, दीर्घत्व की तरह अन्य कीसीके कारणसे नहिं..., तथा यह जीव नित्य याने शाश्वत... सदा रहनेवाला... पूर्व काल और उत्तरकालमें रहनेवाला है... क्षणिक याने विनश्वर नहिं है, किंतु नित्य हि है...

काल से याने काल हि विश्वकी उत्पत्ति स्थिति और विनाशका कारण है...

कहा भी है कि- काल हि जीवोंको कर्मका फल देता है... काल हि जीवोंका संहार करता है... काल हि सोये हुए जीवोंका रक्षण करता है... अतः काल वास्तवमें दुरतिक्रम है...

यह काल अतींद्रिय है, फिर भी विभिन्न = एक साथ होनेवाली, देर तक होनेवाली, जल्दीसे होनेवाली क्रियाओंसे जाना जाना है...

ठंडी, गरमी एवं वर्षा ऋतुका व्यवस्थापक काल है... क्षण, लव, मुहूर्त, प्रहर, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्त्त, भूतकाल, भविष्यकाल, वर्तमानकाल इत्यादि सभी अद्धा-कालके व्यवहार स्वरूप यह काल है... यह प्रथम विकल्प हूआ...

अब द्वितीय विकल्पमें कालसे हि आत्माका अस्तित्व मानना चाहिये, किंतु वह आत्मा अनित्य है...

तृतीय विकल्पमें आत्मा पर-पदार्थोंकी अपेक्षासे विभिन्न है यह बात समझना है...

प्रश्न- आत्माका अस्तित्व परकी अपेक्षासे कैसे है ?

उत्तर- जिस प्रकार पर-पदार्थ के स्वरूपकी अपेक्षा से हि शेष सभी प्रकारके पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान-विभाजन होता है यह बात जगतमें प्रसिद्ध हि है... जैसे कि- लंबी वस्तुकी अपेक्षासे हि यह वस्तु छोटी है ऐसा ज्ञान होता है, और छोटी वस्तुकी अपेक्षासे हि यह वस्तु लम्बी है ऐसा जाना जाता है...

इसी प्रकार अनात्मा ऐसे स्तंभ, कुंभ आदिको देखकर उससे विभिन्न अन्य वस्तु ऐसे

आत्म-द्रव्यमें आत्म-बुद्धि उत्पन्न होती है, अतः आत्माका स्वरूप पर-वस्तुसे हि निश्चित कीया जाता है, न कि स्वरूप मात्र से...

चतुर्थ विकल्प भी पूर्वकी तरह समझ लीजीयेगा...

कितनेक लोग नियति से हि आत्माका स्वरूप स्वीकारते हैं

यह नियति क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि- वस्तु- पदार्थोंका अवश्यमेव होनहार जो भाव-स्वरूप है, उसमें मुख्य कारण नियति हि है...

कहा भी है कि- नियतिके बलसे जो वस्तु- पदार्थका संयोग होना है वह शुभ हो या अशुभ किंतु मनुष्योंको वह संयोग अवश्य होता हि है... और जीव कितना भी प्रयत्न करे तो भी नहि होनेवाला भाव = पदार्थ कभी भी नहिं होता है, और होनेवाले भाव- पदार्थ का नाश नहिं होता...

कितनेक लोग स्वभाव से हि संसारकी व्यवस्थाको मानते हैं...

प्रश्न- यह स्वभाव क्या है ?

उत्तर- वस्तु- पदार्थका स्वरूप से हि तथा प्रकारके परिणाम का जो भाव, उसे स्वभाव कहते हैं...

कहा भी है कि- कांटेको तीक्ष्ण कौन करता है ? पशु और पक्षिओंमें विभिन्नताओंको कौन बनाता है ? इन प्रश्नोके उत्तर में कहते हैं कि- यहां सभी संसारकी परिस्थितिओंमें स्वभाव हि कारण है... और कोइ भी प्रयत्नको यहां अवकाश नहिं है...

स्वभाव से हि कार्योमें प्रवृत्त एवं स्वभावसे हि कार्योसे निवृत्त लोगोंमें "मैं कर्ता नहि हुं" ऐसा जो देखता है वह हि वास्तवमें देख रहा है...

मृगलीओंकी आंखोमें कौन काजल लगाता है ? मयूरकी पंखको कौन सुशोभित करता है ? कमलकी पंखडीया कौन बनाता है, और कुलीन पुरूषोंमें विनय-गुण कौन रखता है ? इन सभी प्रश्नोका उत्तर... स्वभाव से हि यह सब कुछ होता है...

कितनेक लोग कहते हैं कि- यह जीव आदि सभी पदार्थ ईश्वर से हि उत्पन्न हुए है, ईश्वरसे हि संसारका यह स्वरूप बनाया गया है...

प्रश्न- यह ईश्वर कौन है ?

उत्तर- अणिमा आदि ऐश्वर्यवाला यह ईश्वर है...

कहा भी है कि- अज्ञानी यह जीव अपने आपको सुखी एवं दुःखी नहि बना शकता है, किंतु यह जीव ईश्वरकी प्रेरणासे हि नरक में या स्वर्गमें जाता है...

कितनेक लोग कहते हैं कि- जीव आदि पदार्थ, काल आदिसे स्वरूपको नहिं बनाते किंतु आत्मासे हि = स्वरूपसे हि सभी पदार्थ स्वरूपको प्राप्त करते हैं...

प्रश्न- यह आत्मा कौन है ?

उत्तर- अद्वैतवादीओंका कहना है कि- यह आत्मा विश्वपरिणाम स्वरूप हि है...

कहा भी है कि- एक हि आत्मा प्रत्येक जीवमें प्रत्येक पदार्थमें रहा हुआ है... और यह आत्मा जलमें प्रतिबिंबित चंद्रकी तरह एक भी है, और अनेक भी है...

तथा कहा भी है कि- यह जो कुछ है वह केवल पुरूष हि है, जो हुआ और जो होगा वह भी मात्र पुरूष हि है...

इसी प्रकार जीव स्वतः एवं कालसे नित्य है... इस प्रकार सभी १८० प्रकारमें योजना करें...

अब नास्तित्व को कहनेवाले अक्रियावादीओंका भेद-प्रभेद कहते हैं... अक्रियावादीओंके मत के अनुसार जीव अजीव आश्रव बंध संवर निर्जरा और मोक्ष सात पदार्थ है...

स्व एवं पर-भेद से ७×२ = १४

काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा... इन ६ भेदोंसे १४×६ = ८४ भेद अक्रियावादीओंके हुए...

१. जीवः नास्ति स्वतः कालतश्च

२. जीवः नास्ति परतः कालतश्च

इस प्रकार काल से दो भेद प्राप्त हुए... इसी प्रकार यदृच्छा, नियति आदिमें भी दो दो भेद होते हैं अतः सभी मीलकर जीव के बारह भेद हुए...

इसी प्रकार अजीव आदिके भी १२-१२ भेद होते हैं अतः १२×७ = ८४ भेद हुए...

१. नास्ति जीवः स्वतः कालतश्च... इसका तात्पर्य यह है कि- इस संसारमें पदार्थोंकी सत्ता (होना) लक्षणसे निश्चित करतें हैं कि- कार्य से ? क्योंकि- आत्मा का कोइ ऐसा लक्षण नहिं है कि- जीससे सत्ता मानी जाए... और पर्वत वगेरेह अणुओंका कार्य है ऐसा भी संभव नहिं है... और जो वस्तु लक्षण और कार्यसे नहिं जानी जा शकती, वह वास्तवमें वस्तु हि नहिं है.. जैसे कि- आकाश पुष्प... इसी प्रकार आत्मा भी नहि है...

२. द्वितीय विकल्प - आकाश पुष्पकी तरह जो आत्मा स्वतः हि नहिं है, वह

आत्मा परतः भी नहिं है... अथवा सभी पदार्थोंका पर याने दूसरा भाग नहि दिखता है, और आगेका भाग सूक्ष्म होनेके कारणसे दोनों हि भागकी प्राप्ति नहिं होने से सर्व प्रकारसे वह वस्तु प्राप्त नहि होती, अतः "आत्मा नहिं है" ऐसी नास्तित्वकी विचारधारा चलती है...

तथा यदृच्छासे भी आत्माका अस्तित्व नहिं है...

प्रश्न- यदृच्छा यह क्या है ?

उत्तर- पूर्व संकेत विना वस्तुकी प्राप्तिको यदृच्छा कहते हैं...

कहा भी है कि- काक-तालीय न्याय याने काकका तालके साथ जो अभिघात = अथडाना हुआ वह बुद्धिपूर्वक नहिं था, बस इसी हि तरह- जीवोंको विविध प्रकारसे सुख या दुःखका होना बिना सोचे हि होता है...

हां यह सत्य है कि- हम पिशाच-लोग वनमें निवास करते हैं किंतु भेरी = नगारे को हाथसे अडते भी नहिं है, फीर भी... "भेरी को पिशाच बजातें हैं" ऐसी जो लोकमें चर्चा = बात होती है वहां यदृच्छा हि कारण मानना चाहिये...

जीस प्रकार "काकतालीय" न्यायमें बिना बुद्धि-प्रयोगसे हि होनहार होनेकी संभावना बताइ है... यहां न तो कौवे को ऐसी समझ है कि- ताल मेरे उपर गिरेगा... और ताल-फलको भी ऐसा बिचार नहिं है कि- मैं कौए पे गिरुं, किंतु तो भी वह बनाव वैसा हि होता है और कौवा मर जाता है...

ठीक ऐसी हि अन्य भी कहावतें कही गई है...

१. अजा - कृपाणीयम् - बकरीका वहांसे निकला (गुजरना) और बरछी - तरवार का गिरना... यहां अचानक हि बकरीके गले पे तरवार गिरती है, बकरी मर जाती है...

२. आतुर - भेषजीयम् - आदमीको रोग होना और दवाइ से आरोग्य पाना...

३. अंध - कंटकीयम् - अंधे का मार्गमें चलना और अंधेके पैरमें कांटा चूभना...

इत्यादि अनेक कहावतें स्वयं हि समझ लीजीयेगा... बस इसी हि प्रकार इस संसारमें जीवोंका जन्म - बुढापा एवं मरण आदिका होना, लोकमें यादृच्छिक हि माना है... काकतालीय-न्याय के तुल्य हि समझीयेगा...

इसी प्रकार नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा से भी "आत्मा नहिं है" ऐसा समझीयेगा...

अब अज्ञानवादीओंके ६७ भेद कहते हैं... वे इस प्रकार... जीव आदि नव पदार्थ और

दर्शावी है उत्पत्ति...

अब सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य इन सात प्रकारसे जीव आदि नव पदार्थ जाने जा नहि शकतें, और जाननेका कोइ प्रयोजन भी नहिं है...

भावना इस प्रकार है... सन् जीवः इति कः वेत्ति ? असन् जीवः इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? जीव सत् है ऐसा कौन जानता है ? अथवा तो ऐसा जाननेका क्या प्रयोजन है ? जीव असत् है ऐसा कौन जानता है, और ऐसा जाननेका क्या प्रयोजन = कारण है ? इसी प्रकार अजीव आदिमें भी प्रत्येकको सत् असत् इत्यादि सात सात प्रकार हुए... अतः ९ × ७ = ६३ और आगे कहे जाएंगे वे चार भेद जोडनेसे ६३ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवादीके हुए... वे चार भेद इस प्रकार है...

१. भाव याने पदार्थोंकी उत्पत्ति सत् है, ऐसा कौन जानता है ? अथवा तो यह बात जानने से क्या ?

इसी प्रकार २. असती ३. सदसती और ४. अवक्तव्य

स्वरूप भाव-पदार्थोंकी उत्पत्ति है ऐसा कौन जानता है ? अथवा तो ऐसा जाननेकी क्या जरुरत है ?

शेष (सप्तभंगी के) तीन विकल्प तो पदार्थोंकी उत्पत्ति के बादमें हि होनेवाले है, अतः वे यहां नहि होते हैं... इस प्रकार ६३ + ४ = ६७ अज्ञानवादीके हुए...

तत्र - सन् जीवः इति कः वेत्ति ?

भावार्थ : कोइक जीवको विशिष्ट ज्ञान होता है कि- जो अतीन्द्रिय ऐसे जीव आदि पदार्थोंको जानेगा, किंतु उन जीव आदि पदार्थोंको जाननेसे कुछ भी फल नहिं है... वह इस प्रकार- क्या यह जीव नित्य, सर्वव्यापी, अमूर्त और ज्ञानादि गुणोंसे युक्त है या इन गुणोंसे रहित है ? और ऐसा जाननेसे कौनसा पुरूषार्थ सिद्ध होता है ? अतः अज्ञान हि कल्याणकर है... क्योंकि- समान अपराधमें भी जो अनजान से अपराध करता है उसको लोकव्यवहारमें थोडा दंड होता है, और लोकोत्तर व्यवहारमें भी जीववध आदि दोष अनाभोग और सहसात्कारसे होने पर बाल साधु को अल्प (थोडा) एवं जान-बुझकर अपराध करनेवाले युवा साधु, वृद्ध साधु, उपाध्याय और आचार्यको यथाक्रम उत्तरोत्तर अधिक-अधिक प्रायश्चित होता है... इस प्रकार अन्य विकल्पोमें भी स्वयं समझ लीजीयेगा...

अब विनयवादीओंके बत्तीस (३२) भेद... वे इस प्रकार... देव, राजा, साधु, ज्ञातिजन, स्थविर (वृद्धि) अधम, माता, पिता इन आठोंके प्रति (१) मनसे शुभ विचार - आदर -

बहुमान... (२) वचनसे अच्छी बात... स्वागत वचन... (३) कायासे सेवा - सत्कार... और (४) आहार - पानी - वस्त्र आदिका दान...

अतः ८ × ४ = ३२ प्रकार विनयके हुए...

यह इस प्रकार... देव का मनसे, वचनसे, कायासे एवं देश-कालसे उचित दान... इस प्रकार शेष सातोंमें चार प्रकारका विनय...

यह विनयवादी लोग ऐसा मानते हैं कि- विनयसे हि जीव स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) के मार्गको प्राप्त करता है... विनय याने नम्र बनना और अपना उत्कर्ष न करना... इस प्रकारका विनय देव आदि आठोंके प्रति करनेसे जीव स्वर्ग एवं मोक्ष पद पाता है...

कहा भी है कि- विनयसे ज्ञान, ज्ञानसे दर्शन, और सम्यग् दर्शनसे चारित्र... तथा चारित्रसे मोक्ष और मोक्षमें अव्याबाध सुख है...

यहां क्रियावादीओंके मतमें जीव का अस्तित्व तो माना है किंतु उनमेंसे कितनेक लोग जीवको सर्वव्यापी मानते है, तो कितनेक लोग जीवको नित्य मानते हैं... इसी प्रकार अनित्य, कर्त्ता, अकर्त्ता, मूर्त्त, अमूर्त्त, श्यामाकतंदुलप्रमाण, अंगुष्ठपर्वप्रमाण, दीपककी शिखा समान, हृदयाधिष्ठित इत्यादि अनेक प्रकारसे जीवको विभिन्न क्रियावादीओं स्वीकारते हैं और अस्ति याने जीव कहींसे आकर उत्पन्न होता है... ऐसा वे क्रियावादी लोग मानते हैं...

अक्रियावादीओंके मतमें तो आत्मा का अस्तित्व हि माना नहिं है... तो फिर उस आत्माका उत्पन्न होना हि कैसे संभव होगा ?

अज्ञानवादी लोग आत्माके अस्तित्वके बाबतमें विरोध नहिं करते किंतु आत्मामें जो ज्ञान है वह कोइ कामका नहिं है, अर्थात् निरर्थक है...

विनयवादीओंके मतमें भी आत्माके अस्तित्वमें कोइ विरोध नहिं है, किंतु आत्माका मोक्ष विनयके बिना हो हि नहिं शकता ऐसी उनकी मान्यता है...

इस प्रकार यह ३६३ पाखंडीओंमें से केवल अक्रियावदीओंके ८४ मतवाले हि आत्माका अस्तित्व नहिं मानते हैं... शेष २७९ मतभेदवाले लोग सामान्यसे आत्माकी अस्तित्वको स्वीकारतें हि हैं...

इस प्रकार सामान्यसे आत्माका अस्तित्वका प्रतिपादन होनेसे अक्रियावादीओंका निराश हो गया...

आत्माके अस्तित्वका स्वीकार न करनेमें जो दोष हैं, वह क्रमशः कहते है... जैसे कि- शासक, शास्त्र, शिष्य, प्रयोजन, वचन (उपदेश) हेतु और दृष्टांत नहि रहेंगे... उनके अभावमें

"कुछ नहि है" ऐसा बोलनेवाला अप्रमाण (अमान्य) होता है, प्रतिषेधक और प्रतिषेध दोनो हि यदि शून्य हो तो फिर इस जगतमें अब क्या रहा ? यदि कुछ भी नहिं है तब इस जगतमें नहि ऐसा न कहने पर भी सभी वस्तुओं का अभाव सिद्ध हुआ...

इस प्रकार शेष मतवालोंका भी यहां यथासंभव निराकरण स्वयं हि समझ लीजीयेगा... इस प्रकार यहां आनुसंगिक ३६३ पाखंडीओंकी मान्यता संक्षेपमें कही...

अब प्रस्तुत विषयको लेकर कहते हैं कि- इस प्रकार कितनेक लोगोंको ऐसी समझ नहिं होती, ऐसे कहनेसे यह बात सिद्ध होती है कि- कितनेक लोगोंको ऐसी संज्ञा = समझ होती भी है... उसमें भी हर कोइ जीवको सामान्यसे आहारादि संज्ञाएं तो सिद्ध है हि... किंतु यह समझ आत्माके विषयमें असमर्थ होनेसे विशिष्ट संज्ञा = समझका हि यहां प्रस्ताव है, और वह कितनेक लोगोंको हि होती है, और यह समझ हि, जन्मांतरमें जानेवाले आत्माके स्पष्ट कथनमें उपयोगी बनती है इसीलीये सामान्य संज्ञाको न कहते हुए विशिष्ट संज्ञाके कारणों को सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले दर्शनों का यह विश्वास हैं कि संसारी आत्मा अनादि काल से कर्म से आबद्ध होने के कारण अनन्त-अनन्त काल से जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान हैं । कर्म के आवरण के कारण ही यह अपने अन्दर स्थित अनन्त शक्तियों के भण्डार को देख नहीं पाती है । कई एक आत्माओं पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण कभी-कभी इतना गहरा छा जाता है कि उन्हें अपने अस्तित्व तक का भी परिबोध नहीं होता । उस समय वह यह भी नहीं जानता कि मैं उत्पत्तिशील एक गति से दूसरी गति में जन्म लेने वाला, विभिन्न योनियों में विभिन्न शरीरों को धारण करने वाला हूं या नहीं ? इस जन्म के पहले भी मेरा अस्तित्व था या नहीं ? यदी था तो मैं किस योनि या गति में था ? मैं यहां से अपने आयुष्य कर्म को भोगकर भविष्य में कहां जाऊंगा ? किस योनि में उत्पन्न होऊंगा ? ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ आवरण से आवृत्त यह आत्माएं उक्त बातों को नहीं जान पाती, उक्त जीवों की इसी अबोध दशा को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त किया है ।

संसार में दिखाई देने वाले प्राणियों में आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं अथवा यों कहिए कि आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न दार्शनिकों में पुरातन काल से चला आ रहा है । जबकि आत्मा को चेतन तो सभी मानते हैं-यहां तक कि चार्वाक जैसे नास्तिक भी उस को चेतन मानते है । परन्तु, दार्शनिकों में मतभेद इस बात का है कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं ? कुछ विचारक पांच भूतों के मिलन से चेतना का प्रादुर्भाव मानते हैं और

उनके नाश के साथ चेतना या आत्मा का नाश मानते हैं । उनके विचार में आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । परन्तु कुछ विचारक आत्मा को पांच भूतों से अलग मानते हैं और उस के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । इसी विचारभेद के आधार पर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद इन दो वादों या दर्शनों की परंपरा सामने आई । इन उभय वादों का विचार प्रवाह कब से प्रवहमान है, इसका पता लगा सकना ऐतिहासिकों की शक्ति से बाहिर है । फिर भी आगमों एवं दर्शन ग्रंथों के अनुशीलन-परिशीलन से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों विचारधाराएं हजारों, लाखों, करोडों वर्षों से प्रवहमान हैं ।

यह हम देख चुके हैं कि नास्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं मानता है । परन्तु, आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते है । और इस तथ्य को भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार ऊर्ध्व, अधो या तिर्यग् दिशाओं में जन्म लेता है । स्वर्ग और नरक की निरापद-सुखद एवं भयावह-दुःखद पगडण्डियों को तय करता है । और तप, ध्यान, स्वाध्याय एवं संयम आदि आध्यात्मिक साधना के द्वारा अनंत काल से बंधते आ रहे कर्म बंधनों को समूलतः उच्छेद करके निर्वाण-मुक्ति को भी प्राप्त करता है । परन्तु नास्तिकवाद इस बात को नहीं मानते । उनकी दृष्टि में यह शरीर ही आत्मा है। इसके नाश होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है । शरीर के अतिरिक्त अपने कृत कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि योनियों में घूमने वाली तथा कर्म बंधन को तोड़कर मुक्त होने वाली स्वतन्त्र आत्मा का कोई अस्तित्व नही हैं । किंतु जैन दर्शन को यह बात मान्य नहीं है । जिनमत कहता हैं कि- आगमों के प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों एवं आत्म-अनुभव से सिद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है । आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करनेवाला सबसे बलवान प्रमाण स्वानुभूति ही है । व्यक्ति को किसी भी समय अपने खुद के अस्तित्व में संदेह नहीं होता। किंतु आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति उसे प्रतिक्षण होती रहती है । जब कोई नास्तिक व्यक्ति यह कहता है कि " मैं नहीं हूं " तो उसके इस उच्चारण में यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि मेरा (आत्मा का) अस्तित्व है । " मैं नहीं हूं " इस वाक्य में 'मैं' का अभिव्यक्त करने वाला कोई स्वतंत्र व्यक्ति है । क्यों कि जड़ में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की ताकत है नहीं और यह केवल शरीर भी ' मैं ' को अभिव्यक्त नहीं कर सकता । यदि अकेले शरीर में 'मैं' को अभिव्यक्त करने की शक्ति हो तो यह शरीर तो मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहता है । परंतु चेतना के अभाव में वह अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त नहीं कर सकता । तो इस से स्पष्ट है कि "मैं" को अभिव्यक्त करने वाली शरीर में स्थित शरीर से अतिरिक्त कोई शक्ति विशेष है और वही शक्ति चेतना है, आत्मा है । तो ' मैं नहीं हूं ' इस वाक्य से भी आत्मा के अस्तित्व की ही सिद्धि होती है । आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट बोध होने पर भी उससे इन्कार करना वह ऐसा है-जैसे कि लोगों में यह

ढिंढोरा पीटना कि 'मेरी माता-वन्ध्या है' किन्तु, यह वाक्य सत्य से परे है, उसी तरह 'मैं नहीं हूं' या 'मेरी आत्मा का अस्तित्व नहीं है' कहना भी सत्य एवं अनुभव से विपरीत है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे शरीर की अवस्थाएं प्रतिक्षण बदलती रहती हैं । बाल्यावस्था से यौवनकाल सर्वथा भिन्न भिन्न नज़र आता है और बुढ़ापा, बाल एवं यौवन दोनों कालों को ही पछाड़ देता है, उस समय शरीर की अवस्था एकदम बदल जाती है । शरीर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन होने पर भी तीनों काल में किए गए कार्यों की अनुभूति में कोई अंतर नहीं आता । यदि शरीर ही आत्मा है या आत्मा क्षणिक है तो शरीर के परिवर्तन के साथ अनुभूति में भी परिवर्तन आना चाहिए । पुराणे शरीर की समाप्ति के साथ-साथ पुरातन अनुभवों का भी जनाज़ा निकल जाना चाहिये । परंतु ऐसा होता नहीं है । तीनों काल में शारीरिक परिवर्तन होने पर भी आत्मानुभूति में एकरूपता बनी रहती है । उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनंत-अनंत भूतकाल में अनंत बार अभिनव-अभिनव शरीरों को धारण करने पर भी आत्मा के अस्तित्व में कोई अंतर नहीं आया और न हि भविष्य में अन्तर आएगा। जब तक राग-द्वेष एवं कर्म-बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक शरीरों का परिवर्तन होता रहेगा । एक काल के बाद दूसरे काल में या एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में शरीर बदल जाएगा, परंतु शरीरके बदलने से आत्मा में परिवर्तन नहीं आता । क्योंकि- तीनों काल में यह आत्मा स्वरूप से तो एक रूप हि रहती है। इस से आत्मा का अस्तित्व स्पष्टतः प्रमाणित होता है । इसमें शंका-संदेह को ज़रा भी अवकाश नहीं है ।

प्रस्तुत सूत्र में 'एवं' शब्द 'इसी प्रकार' अर्थ का बोधक है । यह पद पिछले सूत्र से सम्बद्ध है । जैसे पिछले सूत्र में बताया गया है कि 'किन्ही जीवों को ज्ञान नहीं होता।' उसी तरह प्रस्तुत सूत्र में भी 'एवमेगेसिं' आदि वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि कई एक जीवों को यह परिज्ञान नहीं होता कि 'मैं उत्पत्तिशील हूं या नहीं ? मैं कहां से आया हूं और कहां जाऊंगा ?' इत्यादी । उसी उद्देश्य को लेकर सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'एवं' पद का प्रयोग किया है ।

'उववाइए' का अर्थ है औपपातिक । औपपातिक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । देव और नारक को भी औपपातिक कहते हैं । देव शय्या और नरक-कुम्भी जिस में देव और नारकी जन्म ग्रहण करते हैं-उसे उपपात कहते हैं । उपपात से उत्पन्न प्राणी औपपातिक कहलाते हैं । उक्त व्याख्या के अनुसार औपपातिक शब्द देव और नारकी का परिचायक है । परन्तु जब उक्त शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हैं:

"उपपातः प्रादूर्भावो जन्मान्तरसंक्रांतिः उपपाते भवः औपपातिकः-"

-शीलांकाचार्य

तब इस का अर्थ हुआ कि-उत्पत्ति शील या जन्मांतर में संक्रमण करने वाला । प्रस्तुत प्रकरण में 'औपपातिक' दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया जा सकता है । फिर भी शीलांकाचार्य आदि सभी टीकाकारों ने प्रस्तुत प्रकरण में उक्त शब्द को उत्पत्ति अर्थ में ही प्रयुक्त किया है।

प्रस्तुत सूत्र में " एगेसिं णो णायं भवति " ऐसा उल्लेख किया गया है । इससे यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि संसार के सभी जीवों को बोध नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। बहुत से जीवों को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण इस बात का परिबोध हो जाता है कि " मैं उत्पत्ति-शील हूं ।" मैं अमुक गति से आया हूं और यहां से मरकर अमुक गति में जाऊंगा । मेरी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इत्यादि । इससे यह प्रश्न उठता है कि जिन जीवों को उक्त बातों का परिज्ञान होता है, वह नैसर्गिक-स्वभावतः होता है या किसी निमित्त या साधन विशेष से होता है । इस प्रश्न का समाधान अगले सूत्र में किया जाएगा।

I सूत्र ॥ ४ ॥

से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा, तं जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवति - अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ (दिसाओ) अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ, सोऽहं ॥४॥

II संस्कृत छाया :

स यत् पुनर्जानीयात् सह सन्मत्या (स्वमत्या), परव्याकरणेन अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा, तद्यथा-पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि यावत् अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वा आगतो अहमस्मि । एवमेकेषां यद् ज्ञातं भवति, अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, योऽस्या दिशोऽनुदिशो वा अनुसंचरति, सर्वस्या दिशोऽनुदिशः, सोऽहम् ।

III **शब्दार्थ :**

से-वह ज्ञाता । **पुण**-यह पद वाक्य सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है । **संमइयाए**-सन्मति या स्वमति । **परवागरणेणं**-तीर्थंकर के उपदेश के । **सह**-साथ । **वा**-अथवा । **अण्णेसिं अन्तिए सोच्चा**-तीर्थंकरों से अतिरिक्त अन्य उपदेष्टाओं से सुनकर । **जं**-जो जाणेज्जा-जानता है । **तंजहा**-वह इस प्रकार है । **पुरत्थिमाओ वा दिसाओ**-पूर्व दिशा से। **आगओ अहमंसि**-मैं आया हूं । **जाव**-यावत्-यह पद यह अपठित अवशिष्ट पदों का संसूचक अव्यय है । **अण्णयरीओ**-विदिशा से । **आगओ अहमंसि**-मैं आया हूं । **एवमेगेसिं**-इसी प्रकार किन्हीं जीवों को । **जं**-जो । **णायं**-ज्ञात। **भवति**-होता है, वह यह है कि, **मे**-मेरा । **आया**-आत्मा। **उववाइए**-औपपातिक-जन्मान्तर में संक्रमण करने वाला । **अत्थि**-है । **जो इमाओ दिसाओ**-

जो अमुक दिशा। **वा**-अथवा । **अणुदिसाओ**-विदिशा में । **एवं सव्वाओ दिसाओ**-सभी दिशाओं। **वा**-प्रथवा। **अणुदिसाओ**-विदिशाओं में । **अणुसंचरइ**-भ्रमण करता है । **सोऽहं**-मैं वही हूं।

IV सूत्रार्थ :

कोइक जीव अपने जातिस्मरण ज्ञानसे अथवा तो तीर्थंकर आदिके उपदेशसे ऐसा जान शकता है कि- मैं पूर्व दिशासे आया हूं... यावत् अन्य दिशा या विदिशासे आया हुं... इस प्रकार कितनेक जीवोंको ऐसा ज्ञान होता है कि- मेरा आत्मा (भवांतरसे यहां आकर) उत्पन्न हुआ है कि जो इस दिशा या विदिशासे वारंवार संचरण (आवागमन) करता है... सभी दिशा और विदिशाओंसे जो आता है वह मैं हि हुं... ॥४॥

V टीका-अनुवाद :

पूर्वकि सूत्रमें जिसका निर्देश किया है, ऐसा विशिष्ट क्षयोपशमवाला वह आत्मा दिशा और विदिशाओंसे यहां मेरा आगमन हुआ है ऐसा जानता है... अर्थात् गत जन्ममें मैं देव या नारक या पशु या मानव था, और वहां भी स्त्री या पुरुष या नपुंसक था... एवं यहांसे आयुष्य पूर्ण होने पर जन्मांतरमें देव या मनुष्य या पशु या नारक बनुंगा... ऐसा विचार करता है...

कहनेका तात्पर्य यह है कि- अनादि कालके इस संसारमें भटकनेवाला कोइ भी जीव कौनसी दिशा या विदिशाओं से मेरा यहां आगमन हुआ है, ऐसा नहिं जानता... और जो जीव यह बात जानता है वह अपनी सन्मति से जानता है... यह सन्मति जीवको चार प्रकारसे होती है... १. अवधिज्ञान २. मनःपर्यवज्ञान. ३. केवलज्ञान और ४. जातिस्मरणज्ञान... इन चारोंमेंसे अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञानका स्वरूप अन्य शास्त्रमें विस्तारसे कहा है... और जातिस्मरणज्ञान तो मतिज्ञानका हि एक प्रकार है... इस प्रकार चार प्रकारकी आत्माकी मति से कोइक जीव कौनसी दिशा या विदिशासे मेरा यहां आगमन हुआ है, और मैं यहां से कहां जाउंगा यह बात जानता है...

कश्चित् याने कोइक उत्तम जीव याने तीर्थंकर परमात्मा हि यह सब जानते हैं, या तो उनके उपदेशसे शेष सम्मतिवाले जीव भी जीवोंको और जीवोंके पृथ्वीकाय आदि विभिन्न भेदोंको तथा उनकी गति और आगति को जानते हैं... तथा तीर्थंकरके सिवाय अन्य अतिशयज्ञानीओं के पास सुनकर भी जानते हैं...

अब... वे जो कुछ जानते हैं, वह क्या है ? यह बात सूत्रके माध्यमसे कहते हैं...

मैं पूर्व-दिशासे आया हुं...
मैं दक्षिण दिशासे आया हुं...
मैं पश्चिम दिशासे आया हुं...
मैं उत्तर दिशासे आया हुं...

मैं उर्ध्व दिशासे आया हुं...
मैं नीचेकी दिशासे आया हुं... इत्यादि

अथवा तो अन्य कोइ दिशा या विदिशा से मैं यहां आया हुं... इस प्रकारकी समझ कितनेक विशिष्ट क्षयोपशमवाले जीवों को तीर्थंकरके द्वारा या अन्य अतिशयवाले ज्ञानीओंको के द्वारा होती है...

इस प्रकार विशिष्ट कोइ दिशा या विदिशासे आगमनके ज्ञान होनेके बाद उन्हें यह भी ज्ञात होता है कि- मेरे इस शरीरका कोइक अधिष्ठाता है... और वह ज्ञान-दर्शन एवं उपयोग लक्षणवाला आत्मा है...

तथा वह आत्मा, भव-भवान्तरमें संक्रमण करनेवाला है... और वह असर्वगत विश्वव्यापी नहि, किंतु शरीरव्यापी है, तथा कर्मफल का भोक्ता, अरूपी, अविनाशी और शरीरमें हि फैलकर रहा हुआ है... इत्यादि गुणवाला आत्मा है...

वह आत्मा द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य के भेदसे आठ प्रकारका है... इन आठ भेदमें से यहां इस सूत्रमें बहुत करके उपयोगात्मा का अधिकार है... शेष द्रव्यात्मादि सात प्रकार आंशिक रूपसे उपयोगी बनेंगे इसलीये यहां दर्शाये गए हैं...

तथा इस शरीरमें मेरा आत्मा है... कि जो इन दिशा या विदिशाओंसे मनुष्यगति आदि कर्मोंके उदयसे मनुष्यगति आदि चारों गतिओं में आता-जाता रहता है...

पाठांतरमें ऐसा अर्थभी होता है कि दिशा या विदिशाओंमें गमन और अट्ठारह भावदिशांओं से हुअे आगमनको जानता है... स्मरण करता है...

अब सूत्रके पदोंसे हि पूर्वोक्त अर्थका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि- सभी दिशा या विदिशाओंसे मैं आया हुं... ऐसा जो स्मरण करता है... वह मैं आत्मा हुं... ऐसा कहनेसे पूर्वादि दश दिशा... अट्ठारह प्रज्ञापक दिशा तथा अट्ठारह भाव दिशाओंका यहां यथासंभव कथन किया गया है...

नि. ६४

इसी बातको निर्युक्तिकार तीन गाथाओंसे कहते हैं कि- कोइक जीव अनादि संसारमें परिभ्रमण करता हुआ अवधिज्ञान आदि चार प्रकारकी स्वमतिसे जानता है अथवा अतिशयज्ञानीओंके पास सुनकर जानता है, या ज्ञापक याने तीर्थंकरके उपदेशसे जानता है... कि- जीव है, और पृथ्वीकाय आदि ६ जीवनिकाय है...

यहां... जीव शब्दसे प्रथम उद्देशक का अर्थाधिकार दर्शाया... और जीवकाय पदसे शेष ६ उद्देशकों का अर्थाधिकार यथाक्रमसे पृथ्वीकाय आदिके निर्देशसे दर्शाया है...

नि. ६५, ६६, ६७

यहां 'सन्मति या स्वमति से जानता है' ऐसा जो कहा है उसका अर्थ है कि- वह आत्मा अवधिज्ञानसे संख्याता या असंख्याता भव जानता है... मनःपर्यव ज्ञानसे भी संख्यात या असंख्यात भव जानता है... और केवलज्ञानी तो नियमसे अनन्त भवोंको जानते हैं... तथा जातिस्मरण ज्ञानवाले तो नियमसे संख्यात भव हि जानते है...

यहां सन्मति या स्वमति का स्पष्ट अर्थबोध हो इस हेतु तीन (3) दृष्टांत कहते हैं...

१. वसंतपुर नगरमें जितशत्रु राजा, धारिणी महादेवी, और उनका धर्मरूचि नामका पुत्र... एक बार वह राजा तापस-दीक्षाको लेनेकी इच्छावाले हुए, तब धर्मरूचि पुत्रको राज्यसिंहासन पे बैठानेकी तैयारी करने लगे तब धर्मरूचि ने मां धारिणीदेवीसे पुछा कि- पिताजी राज्यलक्ष्मीका त्याग क्यों करते हैं ? मां ने कहा- हे पुत्र ! यह राज्यलक्ष्मी चंचल है... एवं नारक आदि सकल दुःखोका हेतु भी है, स्वर्ग एवं मोक्ष के मार्गमें अर्गला के समान है तथा निश्चित हि अपाय याने संकटदायक है इस जन्म में भी यह समृद्धि में मात्र अभिमान स्वरूप फल हि देती है कि- जो अभिमान, सभी दुःखोंका कारण है... इसी कारणसे हे पुत्र ! इस राज्यलक्ष्मीका त्याग करके सकल सुखके कारण ऐसे धर्म को करनेके लिये तुम्हारे पिताजी तत्पर हुए है...

यह बात सुनकर धर्मरूचिने कहा कि- यदि ऐसी बात है, तब क्या मैं पिताजीको अनिष्ट हुं ? कि- जिस कारणसे ऐसे सकलदुःखोंके कारणरूप यह राज्यलक्ष्मी मुझे देते हैं... कि जो राज्यलक्ष्मी सकलकल्याणके हेतु ऐसे धर्मसे मुझे दूर रखेगी... पुत्रके ऐसे कहने पर जब पिताजीने अनुमति दी तब वह धर्मरूचि भी पिताजीके साथ आश्रममें गये... वहां तापस-धर्मके उचित सभी क्रियांओंको यथाविधि पालन करते हुए आश्रममें रहते हैं...

अब एकबार अमावस्या के एक दिन पहेले कोइ एक तापसने उद्घोषणा की, कि- सुनो सुनो हे तापसजनो ! कल अनाकुट्टि (अहिंसा) रहेगी, अतः आज हि इंधन, पुष्प, दर्भ, कंद, फल, मूल आदिका **ग्रहण कीजीयेगा...** यह उद्घोषणा सुनकर धर्मरूचि ने पिताजीसे पुच्छा कि- **हे तात ! यह अनाकुट्टि क्या है ?** तब पिताजीने कहा कि- हे पुत्र ! कंद, फल आदिका छेदन-भेदन न करना यह हि अनाकुट्टि है, और वह अनाकुट्टि अमावस्यादि विशिष्ट पर्वोंके दिनोंमें होती है, अतः कंद-फल आदिके छेदनकी क्रिया सावद्य (हिंसक) होनेसे इन दिनोंमें नहिं की जाती है...

यह बात सुनकर धर्मरूचिने शोचा कि- यदि हमेशा हि अनाकुट्टि हो तब बहुत अच्छा...

इस प्रकारके अध्यवसाय (विचार) वाले धर्मरूचिको उस अमावस्याके दिन तपोवनके समीप के हि मार्गसे जाते हुए साधुओंका दर्शन हुआ... तब धर्मरूचिने उनसे पुच्छा कि- क्या आज आपको अनाकुट्टि नहिं है ? जिस कारणसे आप वनमें जा रहे हैं... तब साधुओंने कहा- हमारे तो जीवन पर्यंत हि अनाकुट्टि है... ऐसा कहकर साधुलोग वहांसे आगे बढ गये... यहां धर्मरूचि को साधुकी बात सुनकर ऊहापोह-विचारणासे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ... वह इस प्रकार- मैंने जन्मांतरमें प्रव्रज्या ली थी, साधु-जीवनके अंतमें देहांत होने पर देवलोकमें देव बना, और वहां से मैं यहां आया हुं...

इस प्रकार धर्मरूची तापस को, कोइ विशिष्ट दिशासे मेरा यहां आगमन हुआ है ऐसा जातिस्मरण रूप स्वमतिसे ज्ञान हुआ, और वह धर्मरूचि (तापस) प्रत्येक बुद्ध हुए... इस प्रकार अन्य भी वल्कलचीरि तथा श्रेयांसकुमार आदिके दृष्टांत यहां स्वयं समझ लें...

पर-व्याकरण याने अन्यके कहनेसे भी ज्ञान होता है, यहां उदहारण इस प्रकार है- गौतमस्वामीने भगवान् वर्धमान स्वामीजीको पुच्छा कि- **हे भगवन् ! क्या मुझे केवलज्ञान नहिं होगा ? तब भगवान् ने कहा कि- हे गौतम ! तुम्हे हम पे बहुत हि स्नेह है, अतः तुम्हे केवलज्ञान नहिं होता है...** तब गौतमने कहा कि- हे भगवन् ! हां, आप ठीक कहते हो... किंतु ऐसा कौन कारण है जो मुझे आपके प्रति स्नेह है ? तब भगवंतने गौतमस्वामीजीको पूर्वके बहुत भवांतरोंका जो पूर्वसंबंध था वह कह सुनाया... वह इस प्रकार- हे गौतम । तुं चिरकालसे संबंधवाला है, तुं चिरकालसे परिचित है... इत्यादि भगवंतकी बात सुनकर गौतमस्वामीजीको विशिष्ट दिशासे आगमन आदि का ज्ञान हुआ...

अन्य से सुनकर ज्ञान होता है, इस विषयमें उदाहरण इस प्रकार है- पूर्व जन्मके परिचित एवं अनुरागी ऐसे ६ राजपुत्र जब उन्नीसवे तीर्थंकर श्री **मल्लिजी**के साथ गृहस्थावस्थामें सादी (विवाह) के लिये आये थे तब **मल्लिजी** ने अवधिज्ञानसे पूर्वभवको जानकर उनके प्रतिबोधके लिये कहा कि- **पूर्व जन्ममें आपन सातों जनोंने साथ साथ हि दीक्षित होकर प्रव्रज्या पालन करते थे, और उसके फल स्वरूप वहांसे आयुष्य पूर्ण करके जयंतनामक अनुत्तर विमानमें अनुत्तर सुखका अनुभव कीया** इत्यादि बाते इस प्रकार कही कि- वह बात सुनकर वे ६ राजपुत्र लघुकर्मवाले होनेके कारणसे प्रतिबुद्ध हुए, और उन्हे विशिष्ट भाव दिशासे हमारा यहां आगमन हुआ है, ऐसा ज्ञान हुआ...

अब प्रस्तुत विषयको लेकर कहते हैं कि- "जो ऐसा जानता है वह मैं हुं" इस प्रकार इस 'अहं' पदसे उल्लिखित ज्ञानसे पूर्व आदि दिशाओं से आये हुए आत्माको अविच्छिन्नसंतति (परंपरा) के कारणसे द्रव्यार्थिक नयसे नित्य तथा पर्यायार्थिक नयसे आत्मा अनित्य है, ऐसा जो जानता है वह परमार्थरूपसे आत्मवादी है, यह बात स्वयं सूत्रकार आगेके सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

ज्ञानावरणीय आदि कर्म से आवृत यह आत्मा अनंत काल से अज्ञान अंधकार में भटक रही है, संसार में इधर-उधर ठोकरें खा रही है और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान है । किन्तु जब आत्मा शुभ विचारों में परिणति करता है, सत्कार्य में प्रवृत होता है, अपने चिंतन को नया मोड़ देता है और साधना के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म के पर्दे को अनावृत्त करने का प्रयत्न करता है और जब फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब आत्मा में अपने स्वरूप को जानने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधना के द्वारा एक दिन वह अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करने में सफल भी हो जाता है और वह इन सभी बातों को जान लेता है कि- **मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? और कहां जाऊंगा ? इत्यादि।**

आत्मा के उक्त विकास में मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अंतरंग कारण है । उक्त घातिकर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा अपने आप को पहचान ही नहीं सकता। परंतु इस स्थिति तक पहुंचने में इस अंतरंग कारण के साथ देवगुरु आदि बहिरंग कारण भी सहायक हैं । उनका सहयोग भी आत्मविकास के लिए जरूरी है । अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंतरंग एवं बाह्य दोनों निमित्तों की अपेक्षा है । दोनों साधनों की प्राप्ति होने पर अज्ञान का पर्दा विनष्ट होने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है और उस उज्जवल-समुज्जवल ज्योति में आत्मा अपने पूर्व भव में किये हुए, पशु-पक्षी एवं देव-मनुष्य के भवों को देखने लगता है । वह भली भांति जान लेता है कि- **मैं पूर्व भव में कौन था ? किस योनि में था ? वहां से कब चला ? इत्यादि बातों का उसे परिज्ञान हो जाता है ।** ज्ञान प्राप्ति में कारणभूत अंतरंग एवं बहिरंग साधनों का ही प्रस्तुत सूत्र में वर्णन किया गया है । किंतु उक्त कारणों को अंतरंग और बहिरंग दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त नहीं किया गया है । फिर भी प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के जो साधन बताएं हैं; वे साधन अंतरंग एवं बहिरंग दोनों तरह के हैं ।

सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान प्राप्ति में तीन बातों को निमित्त माना है-१ सन्मति या स्वमति, २ पर-व्याकरण और ३ परेतर-उपदेश ।

सन्मति शब्द दो पदों के सुमेल से बना है-सद्-मति । सद् शब्द प्रशंसार्थक हैं और मति शब्द ज्ञान का बोधक है । साधारणतः ज्ञान प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है । क्योंकि वह आत्मा का लक्षण है, गुण है । उसके अभाव में आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अतः सामान्यतः ज्ञान का अस्तित्व समस्त आत्माओं में हैं, परंतु यह बात अलग है कि- कुछ आत्माओं में सम्यग् ज्ञान है और कुछ में मिथ्या ज्ञान है। मति-श्रुत ज्ञान भी ज्ञान के अवान्तर भेद हैं । ये यदि सम्यग् हों तो इनसे भी आत्मा के वास्तविक तत्त्वों का परिबोध होता है,

संसार एवं मोक्ष के मार्ग का परिज्ञान होता है । **यह मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते हैं । परंतु सामान्य मति श्रुत से, मैं पूर्व भव में कौन था, इत्यादि बातों का बोध नहीं होता। इसलिए सामान्य मति-श्रुत ज्ञान को 'सन्मति' नहीं कहते, किन्तु जाति स्मरण, (पूर्व जन्मों को देखने वाला ज्ञान, मति श्रुत ज्ञान का विशिष्ट प्रकार), अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानों का संग्राहक है और यह विशिष्ट ज्ञान सभी जीवों को नहीं होते हैं ।**

*'**सन्मति**' ज्ञान प्राप्ति का अंतरंग कारण है, मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के* क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है या यों कहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है, उतना ही आत्मा में अस्तित्व रूप में स्थित ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता रहता है । जब पूर्णतः आवरण हट जाता है, तो आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। **इन विशिष्ट ज्ञानों के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को एवं पूर्व भव में वह किस योनि या गति में था ? यह बात जान लेता है । उक्त ज्ञान के द्वारा वह यह भलीभांति जान लेता है कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूं और मेरा यह आत्मा औपपातिक (उत्पत्तिशील) है तथा जो दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करता रहा है, वह मैं ही हूं ।**

'संमइयाए' पद के संस्कृत में दो रूप बनते है-१ सन्मत्या और २ स्वमत्या 'सन्मति' के विषय में उपर विचार कर चुके हैं । अब ज़रा 'स्वमति' के अर्थ पर सोच-विचार लें ।

'स्वमति' शब्द भी स्व+मति के संयोग से बना है । स्व का अर्थ आत्मा होता है और मति शब्द ज्ञान का परिचायक है । अतः 'स्वमति' का अर्थ हुआ आत्मज्ञान । साधारणतया सम्यग् ज्ञान को आत्मज्ञान कहते हैं । जो ज्ञान, आत्मा के ऊपर लगे कर्म रज को दर करने में सहायक है या यों कहिए कि जो ज्ञान मोक्ष मार्ग का पथ प्रदर्शक है, तत्त्व का सही निर्णय करने में सहायक है वह आत्मज्ञान है । इस तरह मतिज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक के सभी ज्ञान आत्मज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं । परन्तु सूत्रकार को यह सामान्य अर्थ इष्ट नहीं है। वह यहां आत्म ज्ञान से सामान्य मति एवं श्रुत ज्ञान को आत्म ज्ञान के रूप में नहीं स्वीकार करते । क्योंकि साधारणतः ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें परोक्ष ज्ञान माना है । परंतु विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखते । जहां इन्द्रिय की पहोंच नहीं है या उनमें जहां के रूप आदि को देखने-सुनने की शक्ति नहीं है, वहां जाति स्मरण, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान से उन पदार्थों को भी आत्मा जान-देख लेता है । जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा आंख आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना केवल आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अपने किए गए पूर्व भवों का बिना किसी अवरोधसे अवलोकन कर लेता है । इसलिए 'स्वमति' से विशिष्ट ज्ञानों को ही स्वीकार किया जाता है । उक्त ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थों का परिज्ञान करने में इन्द्रिय एवं

मन की सहायता नहीं लेनी पडती, इसी कारण इन विशिष्ट ज्ञानों को प्रत्यक्ष या आत्म-ज्ञान कहते हैं । **प्रस्तुत ज्ञान से ही आत्मा को अपने स्वरूप का एवं मैं किस गति एवं दिशा-विदिशा से आया हूं, इत्यादि बातों का बोध होता है ।**

'सह संमइयाए' इस वाक्य में व्यवहृत 'सह' शब्द संबंध का बोधक है । इस शब्द से आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य संबंध अभिव्यक्त किया गया है । ऐसे प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा में ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, परन्तु उसका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस मान्यता में सभी दार्शनिकों में एकमत नहीं है । **वैशेषिक दर्शन**-ज्ञान को आत्मा से सर्वथा पृथक् मानता है । वह कहता है कि 'आत्मा आधार है और ज्ञान आधेय है ।' ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है । अतः वह आत्मा में समवाय संबंध से रहता है । क्योंकि ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है । जैसे-घट के सामने आने पर हि आत्मा का घट से सम्बंध होता है, तब आत्मा को घट का ज्ञान होता है और घट के हटते ही ज्ञान भी चला जाता है । इस तरह ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है और समवाय संबंध से आत्मा के साथ सम्बन्धित होता है । इस तरह **वैशेषिक दर्शन** ज्ञान को आत्मा से पृथक् मानता है अर्थात् पर पदार्थ से उत्पन्न होनेवाला है ऐसा स्वीकार करता है ।

परन्तु जैन दर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है । और उसे आत्मा का अभिन्न स्वभाव या धर्म मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक आत्मा में अनंत ज्ञान अस्तित्व--सत्ता रूप से सदा विद्यमान रहता है । यद्यपि अनेक जीवों में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उसकी अनंत ज्ञान की शक्ति प्रच्छन्न रहती है, यह बात अलग है । भले ही आत्मा की ज्ञान शक्ति पर कितना भी गहरा आवरण क्यों न आ जाए, फिर भी वह ज्ञान सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सकता, **अनंत-अनंत काल के प्रवाह में कोइ एक भी समय ऐसा नहीं आता कि आत्मा का ज्ञान दीप सर्वथा बुझ गया हो या बुझ जायगा । वह सदा-सर्वदा प्रज्वलित रहता है, हां कभी उसका प्रकाश मंद, मंदतर और मंदतम हो सकता है, पर सर्वथा बुझ नहीं सकता। उसका अस्तित्व आत्मा में सदा बना रहता है** । वह ज्ञानगुण आत्मा में समवाय संबंध से नहीं, बल्कि तादात्म्य संबंध से है। समवाय सम्बंध से स्थित ज्ञान समवाय सम्बन्ध के हटते ही नाश को प्राप्त हो जाएगा । परंतु ऐसा होता नहीं है और वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान का आत्मा के साथ समवाय संबंध हो भी नहीं सकता । क्योंकि ज्ञान, पर स्वरूप नहीं, किंतु स्व स्वरूप है । पर पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानना अनुभव एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध है । यदि ज्ञान पर पदार्थ से ही पैदा होता है, तो फिर पर पदार्थ के हट जाने या सामने न होने पर उक्त पदार्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए । परंतु, ज्ञान होता तो है । घट के हटा लेने पर भी घट का बोध होता है । घट के साथ-साथ घट ज्ञान आत्मा में से नष्ट नहीं होता, किंतु उस की अनुभूति होती है । कई बार घट सामने नहीं रहता, फिर भी घट का ज्ञान तो

होता ही है । यदि वह ज्ञान पर पदार्थ से ही उत्पन्न होता है, तो फिर घट के अभाव में घट का ज्ञान नहीं होना चाहिए । और विशिष्ट साधकों को विशिष्ट ज्ञान से अप्रत्यक्ष में स्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह भी नहीं होना चाहिए। विशिष्ट ऋषि-महर्षियों को योगि-प्रत्यक्ष ज्ञान वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने भी माना है कि- जो उनके विचारानुसार गलत ठहरेगा। परंतु ज्ञान तो होता है और वैशेषिक स्वयं मानते भी है, अतः आत्मा से ज्ञान को सर्वथा पृथक् एवं उसमें समवाय संबंध को मानना युक्ति संगत नहीं है, **अतः ज्ञान आत्मा में तादात्म्य संबंध से सदा विद्यमान रहता है, इसी बात को 'सह' शब्द से अभिव्यक्त किया है ।**

२ - पर-व्याकरण

ज्ञान प्राप्ति का दूसरा कारण पर-व्याकरण है । प्रस्तुत में 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का बोधक है तथा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ **उपदेश** है । अतः कितनेक जीवों को ज्ञान की प्राप्ति में तीर्थंकर भगवान का उपदेश निमित्त कारण बनता है, इसलिए ऐसे ज्ञान की प्राप्ति में 'पर-व्याकरण' यह कारण माना गया है । वस्तुतः ज्ञान की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव ही है । फिर भी उस क्षयोपशम भाव की प्राप्त में जो सहायक सामग्री अपेक्षित होती है या जिस साधन के सहयोग से जीव ज्ञानवरणीय कर्म का क्षयोपशम करता है, उस साधन को भी ज्ञान प्राप्ति का कारण मान लिया जाता है । 'पर-व्याकरण' ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम में सहायक होता है, तीर्थंकरों का उपदेश सुनकर अपने स्वरूप को समझने की भावना प्रगट होती है, चिंतन में गहराई आती है, इससे अज्ञान का आवरण हटता है, आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती है और आत्मा ज्ञानके उज्जवल प्रकाश में अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करती है, अतः 'पर व्याकरण' को ज्ञान प्राप्ति का कारण माना गया है ।

'पर व्याकरण' ज्ञान प्राप्ति का बहिरंग साधन माना जाता है । तीर्थंकर भगवान के उपदेश के सहयोग से जीव अपनी पूर्व भव सम्बंधी बातों को जान लेता है और यह भी जान लेता है कि मैं पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूं, इत्यादि । पर व्याकरण-तीर्थंकर भगवान के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करके साधनापथ पर गतिशील हुए व्यक्तियों के संबंध में आगमों में अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं । ज्ञाता धर्मकथांग में श्री मेघ कुमार मुनि का वर्णन आता है । मेघ कुमार मुनि दीक्षा की प्रथम रात्रि को ही मुनियों के बार-बार ठोकरें लगने से आकुल-व्याकुल हो उठे और उस रात्रि में प्राप्त वेदना से घबराकर उन्होंने यह निर्णय भी कर लिया कि मैं प्रातः संयम का परित्याग करके अपने राज भवन में पुनः लौट जाऊंगा। सूर्योदय होते ही मुनि मेघ कुमार संयम साधना में सहायक भण्डोपकरण वापस लौटाने के लिए भगवान महावीर के चरणों में पहुंचे । सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभुजी ने मेघ मुनि के हृदय में मच रही उथल-पुथल को जान रहे थे, अतः उन्होंने, मेघमुनि कुछ कहे उसके

पूर्व ही उसके मन में चल रहे सारे विचारों को अनावृत करके उसके सामने रख दिया और उसे संयम पथ पर दृढ करने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तांत सुनाते हुए बताया कि हे मेघ ! तुमने हाथी के भव में जंगल में प्रज्वलित दावानल के समय अपने द्वारा तैयार किए मैदान में अपने पैर के नीचे आए हुए खरगोश की रक्षा करने के लिए, जब तक दावानल शांत नहीं हुआ, तब तक अपने पैर को उठाए रखा, तीन पैरों पर ही खड़ा रहा । जब दावानल बुझ गया, सब पशु-पक्षी जंगल में चले गए तब तुमने अपने पैर को नीचे रखा । पर वह पैर इतना अकड़ गया था कि- हाथी (तूं) धड़ाम से नीचे गिर पड़ा और थोड़ी देर में शुभ भावों के साथ जीवन को समाप्त करके श्रेणिक के घर जन्म पाया । हे मेघ ! कहां खरगोश की रक्षा-दया के लिए घंटों तक पैर को ऊंचे रखने के कष्ट ? कि-जिसके कारण तुम्हें अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा और कहां साधुओं के चरण स्पर्श से हुआ कष्ट ? तुम जरा सोचो, कि- क्या करने जा रहे हो ? भगवान के द्वारा अपना पूर्व भव जानकर मेघ मुनि की भावना परिवर्तित हो गई । वह चिन्तन-मनन में गोते लगाने लगा और विचारों में जरा गहरा उतरने पर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया । भगवान द्वारा बताया गया वर्णन साफ-साफ दिखाई देने लगा । इसी तरह भगवान का उपदेश सुनकर मेघमुनि को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया था, और वह मेघमुनि संयम मार्गमें स्थिर हुआ। इस तरह 'पर व्याकरण' से होने वाले ज्ञान के अनेकों उदाहरण शास्त्रों में उल्लिखित हैं ।

३-परेतर-उपदेश

ज्ञान प्राप्ति का तीसरा साधन 'परेतर उपदेश' है । वैसे 'पर' और 'इतर' समानार्थक शब्द समझे जाते हैं । परंतु प्रस्तुत सूत्र में 'पर' शब्द तीर्थंकर भगवान का परिचायक है और 'इतर' अन्य का परिबोधक है । **अतः इसका अर्थ हुआ-तीर्थंकर भगवान से अतिरिक्त अतिशय ज्ञान वाले अन्य निर्ग्रन्थ मुनि, यति, श्रमण आदि महापुरूष परेतर हैं** । तीर्थंकर पद से रहित केवल-ज्ञानी, मनः-पर्यव-ज्ञानी या अवधिज्ञानी आदि विशिष्ट ज्ञानी आप्त पुरुषों के उपदेश से भी अनेक संसारी जीवों को अपने पूर्वभव का भी परिबोध होता है । इस प्रकार के बोध में 'परेतर-उपदेश' कारण बनता है । इसलिए प्रस्तुत सूत्र में 'परेतर-उपदेश' को ज्ञान प्राप्ति के बाह्य साधनों में समाविष्ट किया गया है ।

'परेतर-उपदेश' ज्ञान प्राप्ति में बहिरंग कारण है । अतः इस साधन से कई जीवों को अपने पूर्व भव का एवं आत्म-स्वरूप का भलीभांति बोध हो जाता है । अ मों में इस तरह ज्ञान प्राप्त करने के कई उदाहरण आते हैं । ज्ञाताधर्मकथांग में लिखा है ।के- मल्लि राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिए ६ राजकुमार एक साथ चढ़कर आ जाते हैं और शहर को चारों तरफ से घेर लेते हैं । अन्त में उन्हें प्रतिबोध करने के लिए मल्लि राजकुमारी

ने अपने आकार की एक स्वर्णमयी पुतली बनवाई और छहों राजकुमारों को बुलाकर उन्हें संसार का स्वरूप समझाकर तथा अपनी पूर्व भव सम्बन्धी मित्रता का परिचय देकर प्रबोधित किया । राजकुमारी के उपदेश से छहों राजकुमार अपने स्वरूप का चिन्तन करने लगते हैं और फल स्वरूप उन्हें जाति-स्मरणज्ञान हो जाता है । इस तरह तीर्थंकर भगवान के अतिरिक्त अन्य अतिशय ज्ञानी के उपदेश से भी प्राप्त होनेवाले पूर्व भव के ज्ञान के अनेकों उदाहरण आगमों में मिलते हैं। अस्तु, यह साधन भी ज्ञान प्राप्ति में कारण है ।

'सोऽहम्' पद का अर्थ होता है – वह मैं हूं । पहले बताया जा चुका है कि सन्मति या स्वमति, पर-व्याकरण और परेतर-उपदेश इन तीनों कारणों से कई जीवों को यह बोध प्राप्त होता है कि द्रव्य एवं भाव दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करनेवाला यह मेरा आत्मा ही मैं हूं । 'सः' से पूर्वादि दिशाओं में भ्रमणशील, इस अर्थ का बोध होता है, और 'अहम्' पद, मैं अर्थ का परिचायक है । 'सः+अहम्' दोनों पदों का संयोग करने से 'सोऽहम्' बनता है और उसका अर्थ होता है-दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील वह मैं ही हूं । इसी भाव को सूत्रकार ने 'सोऽहम्' शब्द से अभिव्यक्त किया है ।

'सोऽहम्' में पठित 'सः और अहम्' दोनों पदों को आगे-पीछे करने से एक अभिनव अर्थ का भी बोध होता है । वह इस प्रकार है – "अहं सः" का अर्थ है मैं वह हूं और 'सोऽहम्' शब्द का अर्थ है वह मैं हूं । दोनों अर्थों को संकलित करने पर फलितार्थ यह निकलता है कि '**जो मैं हूं वही वह आत्मा है और जो वह आत्मा है वही मैं हूं ।**' इस फलितार्थ से आत्मा और परमात्मा के अभेद का बोध होता है । प्रस्तुत प्रसंग में 'सः' शब्द से समस्त कर्म बन्धन से रहित, स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित सिद्ध भगवान की आत्मा का ग्रहण किया गया है और 'अहम्' पद कर्मों से आबद्ध संसारी आत्मा का परिचायक है । शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा दोनों एक समान गुणवाले हैं । अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक तो (सिद्ध भगवान) सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्कट साधना से समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर जन्म-जरा और मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गए हैं, कर्म एवं कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा पा चूके हैं और दूसरे (संसारी जीव) कर्म बन्धन से आबद्ध हैं, ऊर्ध्व एवं अधोगति में परिभ्रमणशील हैं । एक शब्द में यों कह सकते हैं कि- सिद्ध, कर्म मल से रहित है और दूसरा संसारी आत्मा, अभी तक कर्ममल युक्त है । परंतु कर्मबन्ध से रहित और कर्मबन्ध सहित जीवों के आत्म-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है । क्योंकि सभी जीव, आत्मा से ही परमात्मा बनते हैं । परमात्मा, यह कोई आत्मा से अलग शक्ति नहीं है । इस संसार में परिभ्रमण करनेवाली आत्माओं ने ही विशिष्ट साधना के पथ पर गतिशील होकर आत्मा से परमात्म-पद को प्राप्त किया है और प्रत्येक आत्मा में उस पद को प्राप्त करने की सत्ता है । परंतु, वही आत्मा, परमात्मा बन सकती है, जो साधना के महापथ पर गतिशील होकर राग-द्वेष एवं कर्म बन्धन को तोड़ डालती

है । प्रत्येक आत्मा सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना-साधना करके सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है ।

यहां निष्कर्ष यह निकला कि 'सः' और 'अहं' में कोई मौलिक एवं तात्त्विक भेद नहीं है । 'अहं' से ही विकास करके व्यक्ति 'सः' बनता है, या यों कहिए कि आत्मा ही अपने जीवन का विकास करके परमात्म पद को प्राप्त करता है । इसलिए कहा गया कि- 'मैं सिर्फ मैं नहीं हूं' प्रत्युत्त मैं 'वह' हूं जो 'वह परमात्मा है' अर्थात् मेरा स्वरूप परमात्मा के स्वरूप से भिन्न नहीं है । कुछ दार्शनिकों-विचारकों ने यह माना है कि आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व हैं और दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं । एक भक्त और दूसरा भगवान् है, एक उपासक है और दूसरा उपास्य है । एक सेवक है और दूसरा स्वामी है और यह भेद सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा । आत्मा सदा आत्मा ही बना रहेगा, वह भक्त बन सकता है परन्तु भगवान् नहीं बन सकता । वह भगवान् की भक्ति करके उसकी कृपा होने पर स्वर्ग के सुख एवं ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईश्वरत्व को नहीं पा सकता । कुछ वैदिक विचारकों ने यह तो माना है कि- वह आत्मा ब्रह्म में समा सकता है और ब्रह्म की इच्छा होने पर फिर से संसार में परिभ्रमण कर सकता है। परन्तु स्वतन्त्र रूप से आत्मा में ईश्वर बनने की सत्ता किसी भी वैदिक परम्परा के विचारक ने स्वीकार नहीं की। उन्हों ने सदा यही कहा कि 'तू तू है और वह वह है' तथा यह 'तू और वह या मैं और वह या आत्मा और परमात्मा' का भेद सदा बना रहेगा । परन्तु जैन दर्शन ने इस बात पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन-मनन किया है । जैनों ने स्पष्ट रूप से कहा कि आत्मा का स्वरूप न तो परमात्म स्वरूप से सर्वथा भिन्न ही है और न वह परमात्मा या ब्रह्म का अंश ही है । उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है । कर्म से आबद्ध होने के कारण वह परमात्मा से भिन्न प्रतीत होती है, परन्तु उसमें भी परमात्मा बनने की शक्ति है । **इसलिए जैनों ने स्पष्ट भाषा में कहा कि आत्मन् !- 'तू तू नहीं, किन्तु तू वह है' अर्थात् 'तू' केवल संसार में परिभ्रमण करनेवाली आत्मा ही नहीं है, बल्कि पुरुषार्थ के द्वारा कर्म बन्धन को तोड़ कर परमात्मा भी बन सकती है । इसलिए तू अपने को उस रूप में देख । यही 'अहम्' से 'सः' बनने को या आत्मा से परमात्मा बनने की साधना का या 'सोऽहम्' का चिन्तन मनन एवं आराधना करने का एक मार्ग है ।**

जैन दर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। यथोचित साधन-सामग्री के उपलब्ध होने पर आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्म पद को पा सकता है । आगमों में बड़े विस्तार के साथ साधनों का वर्णन किया गया है । साधना के लिए अनेक साधन बताए गए हैं । उन साधनों में 'सोऽहं' का ध्यान, चिन्तन-मनन, अर्थ-विचारणा एवं मन्त्र जाप भी एक साधन है । साधना के पथ पर गतिशील साधक को आत्म

विकास का प्रशस्त पथ दिखाने के लिए 'सोऽहं' का चिन्तन एवं ध्यान उज्जवल प्रकाश स्तम्भ है । जिसके ज्योतिर्मय आलोक में साधक आत्म विकास के पथ में साधक एवं बाधक तथा हेय एवं उपादेय सभी पदार्थों को भली-भांति जान लेता है और हेय-उपादेय के परिज्ञान के अनुसार हेय पदार्थों से निवृत्त होकर, उपादेय स्वरूप साधना में, संयम में प्रवृत्त होता है, संयम में सहायक पदार्थों एवं क्रियाओं को स्वीकार करके सदा आगे बढ़ता है । **इस प्रकार यथायोग्य विधि से 'सोऽहं' की विशिष्ट भावना का चिन्तन करता हुआ साधक निरन्तर आगे बढ़ता है, ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता चलता है और एक दिन जाति-स्मरण ज्ञान, अवधि ज्ञान या मन: पर्यवज्ञान को प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का समूलत: क्षय करके अपनी आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान-केवल ज्ञान को प्रकट कर लेता है । जाति स्मरण ज्ञान से पूर्व भव में निरन्तर किए गए संख्यात भवों को, अवधि एवं मन:पर्यव ज्ञान से संख्यात और असंख्यात भवों को तथा केवल ज्ञान से अनन्त-अनन्त भवों को देख-जान लेता है ।**

प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान प्राप्ति के तीन कारणों का निर्देश किया गया है - १-सन्मति या स्वमति, २-पर-व्याकरण और ३-परेतर-उपदेश । उक्त साधनों से मनुष्य अपने पूर्वभव की स्थिति को भली-भांति जान लेता है और उसे यह भी बोध हो जाता है कि इन योनियों में एवं दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील मैं आत्मा ही हूं । इससे उसकी साधना में दृढता आती है, चिन्तन, मनन में विशुद्धता आती है ।

उपर्युक्त त्रिविध साधनों से जो जीव-आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह आत्मवादी कहा गया है । जो आत्मवादी है, वही लोकवादी है और जो लोकवादी होता है वही कर्म-वादी कहा जाता है । और जो कर्म-वादी है वही क्रिया-वादी कहलाता है । आगे के सूत्र में इन्हीं भावों का विवेचन, सूत्रकार महर्षि कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥

से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी... ॥ ५ ॥

II संस्कृत-छाया :

स आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी ॥ ५ ॥

III शब्दार्थ :

से-वह अर्थात् आत्मा के उक्त स्वरूप को जानने वाला । **आयावादी**-आत्मवादी, आस्तिक है, वही **लोयावादी**-लोकवादी है, वही **कम्मावादी**-कर्मवादी है, वही **किरियावादी**-क्रियावादी है ।

IV सूत्रार्थ :

(पुनर्जन्मको जो जानता है) वह हि जीव आत्मवादी लोकवादी कर्मवादी और क्रियावादी है ॥५॥

V टीका-अनुवाद :

पूर्वकालमें जो आत्मा, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि अठारह भावदिशा तथा पूर्व आदि १८ प्रज्ञापक दिशाओमें भटका है, ऐसे उस अक्षणिक, अमूर्त्त, अविनाशी आदि लक्षणवाले आत्माको जो कोइ जानता है, वह इस प्रकारसे आत्मवादी है... और जो इस प्रकारके आत्माको नहिं मानता है वह नास्तिक=अनात्मवादी है...

जो लोग, आत्माको सर्वव्यापी, नित्य, अथवा तो क्षणिक मानते हैं, वे भी अनात्मवादी है... क्योंकि- जो सर्वव्यापी होगा, वह निष्क्रिय होनेके कारणसे उस आत्मा का भवांतर संक्रमण नहिं होगा... और सर्वथा नित्य मानने पर भी मरण न होने के कारणसे भी भवांतर संक्रमण नहि होता है... क्योंकि- नित्यका लक्षण- जो नाश न हो, उत्पन्न भी न हो और सदैव हि स्थिर एक स्वभाववाला जो है वह नित्य है... और आत्माको क्षणिक माननेमें आत्माका क्षणांतरमें निर्मूलविनाश होनेके कारणसे 'वह मैं हूं' ऐसा पूर्वोत्तरानुसंधान कभी भी नहिं हो शकता...

जो आत्मवादी है वह हि परमार्थसे लोकवादी है, क्योंकि- जो देखता है वह लोक है, और उसको जो कहता है वह लोकवादी है... ऐसा कहनेसे अद्वैतवादीओंका निरास करके आत्मा अनेक हैं यह बात सिद्ध करी... अथवा तो लोकापाती = लोक याने १४ राजलोक क्षेत्र, अथवा उसमें रहे हुए प्राणीगण... ऐसा कहने से विशिष्ट आकाश खंड को 'लोक' कहा, और वहां जीवास्तिकायका होना है, अतः लोकमें जीवोंका गमन-आगमनका भी निर्देश कीया है...

अब जो दिशा आदिमें गमनागमनके ज्ञानसे आत्मवादी और लोकवादी सिद्ध हुए हैं, वे हि प्राणिगण कर्मवादी भी है... "जो ज्ञानावरणीयादि कर्मको कहता है वह कर्मवादी" क्योंकि- **प्राणिगण** सर्व प्रथम मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से मनुष्य गति आदि योग्य कर्मोंको ग्रहण करता है, और बादमें उन उन विरूप स्वरूपवाली योनिओंमें उत्पन्न होता है... "प्रकृति-स्थिति-रस और प्रदेश स्वरूप कर्म होता है..." **ऐसा कहनेसे काल, यदृच्छा, नियति, ईश्वर और आत्मवादीओंका निराश कीया यह समझीयेगा...**

अब जो कर्मवादी है वह हि क्रियावादी है, क्योंकि- योगके निमित्तसे कर्मबंध होता है, और योग व्यापार स्वरूप है, और वह व्यापार क्रिया स्वरूप है, इसीलीये कार्यस्वरूप कर्मको कहने से उसके कारणभूत क्रियाका भी वह वास्तवमें वादी (कथन करनेवाला) है हि, क्योंकि

आगममें भी यह बात प्रसिद्ध है कि- क्रियाके कारणसे हि कर्मबंध होती है... आगम-पाठका अर्थ इस प्रकार है- जब तक यह जीव कंपित होता है, चलता है, स्पंदित होता है, संघट्टित होता है, यावत् उन उन भावोंमें परिणत होता है, तब तक यह जीव आठ प्रकारके, सात प्रकारके, छह प्रकारके या एक प्रकार का कर्मबंध करता है, और अयोगी होकर अबंधक भी बनता है... **ऐसा कहने से यह सिद्ध हुआ कि- जो कर्मवादी है वह हि क्रियावादी है... अतः ऐसा कहनेसे सांख्यमतको मान्य ऐसा आत्माका अक्रियावादित्वका निराश कीया है...**

अब पूर्वोक्त आत्मा के परिणाम स्वरूप क्रियाको विशिष्ट कालसे कहनेवाले, 'अहं' पदसे निर्दिष्ट आत्मा को उसी हि भवमें अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान केवलज्ञान एवं जातिस्मरणज्ञानसे भिन्न किंतु तीनों कालको ग्रहण करनेवाले मतिज्ञानसे भी वस्तु स्वभाव का बोध होता हैं, यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

पूर्व सूत्र में बताए गये साधनों से जब किन्हीं जीवों को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है, और उन्हें आत्म-स्वरूप का भी भलीभांति ज्ञान हो जाता है । तब वह आत्मा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है । आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से विवेचन करने वाले व्यक्ति को ही आगमिक भाषा में आत्मवादी कहा है । आचार्य शीलांकाचार्यजी ने टीका में लिखा है कि-

"आत्मवादीति आत्मानं वदितुं शीलमस्येति"

अर्थात्-आत्मतत्त्व के स्वरूप को प्रतिपादन करनेवाला व्यक्ति आत्मवादी कहलाता है।

जो व्यक्ति आत्म स्वरूप का ज्ञाता है, वही लोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है, और इस क्रम से लोक स्वरूप को भलीभांति जानता है, वही कर्म और क्रिया का परिज्ञाता होता है । इस तरह एक का ज्ञान दूसरे पदार्थ को जानने में सहायक है । जब आत्मा एक तत्त्व को भलीभांति जान लेता है, तो वह दूसरे तत्त्व के स्वरूप को भी सुगमता से समझ सकता है, क्योंकि लोक में स्थित सभी तत्त्व एक दूसरे से सम्बंधित हैं । आत्मा भी तो लोक में ही स्थित है, लोक के बाहर उसका अस्तित्व ही नहीं है, इसी तरह आत्मा में लोक एवं कर्म का संबन्ध रहा हुआ है । कर्म भी, लोक-संसार में रहे हुए जीवों को हि बन्धते हैं । कर्म और क्रिया का संबन्ध तो स्पष्ट ही है । **इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्वरूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचारांग सूत्र में आगे बताया है कि 'जो व्यक्ति एक को जानता है वह सब को जानता है और जो सब को जानता है वह एक को जानता है-'**

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ"

वस्तु का विवेचन करने के लिए सब से पहले ज्ञान की आवश्यकता है । जब तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, तब तक उसके संबन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करनेवाली आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी आदि कथनवाला सूत्र कहा। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, **व्यक्ति** उतना ही अधिक, आत्मा आदि द्रव्यों को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता-समझता है, एवं परिज्ञान विषय का विवेचन एवं प्रतिपादन भी कर सकता है ।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एवं कर्म जन्य अच्छे-बुरे फलों का भोक्ता, असंख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी, अखण्ड, चैतन्य रूप एक एवं स्वतन्त्र द्रव्य है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है । वह पर्यायों की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप में स्थित रहने से नित्य भी है । वास्तव में देखा जाए तो वह आत्मा न सांख्य मत के अनुसार एकांत-कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धों द्वारा मान्य एकान्त अनित्य-क्षणिक ही है । जैन दर्शन के अनुसार दुनिया का कोई भी पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है । प्रत्येक पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म युगपत् स्थित हैं । किसी भी द्रव्य में एकान्तता को अवकाश ही नहीं है । क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुणयुक्त है । अतः जैन दर्शन ने पदार्थ में अनुभव सिद्ध परिणामी नित्यता का स्वीकार किया है । क्योंकि ज्ञान-दर्शन आत्मा का गुण है और उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञान-दर्शन की पर्यायें बदलती रहती है तथा कर्म से बद्ध आत्मा के शरीर में, मानसिक चिन्तन में, विचारों की परिणति में, परिणामों में तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहेता है, परन्तु इन सब पर्यायिक परिवर्तनों में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है, उसके असंख्यात प्रदेशों तथा शुद्ध स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आता, इस दृष्टि से आत्मा नित्य भी है, और अनित्य भी, अर्थात्-परिणामी नित्य आत्मा, नित्यानित्य है ।

यही सापेक्ष दृष्टि, आत्मा को एक और अनेक मानने में तथा उसके आकार परिणाम के संबन्ध में भी रही हुई है । जैन दर्शन, वेदान्त सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिकों द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर, वह जैनदर्शन, उन दोनों के आंशिक सत्य को स्वीकार करता है । **आत्म-द्रव्य की अपेक्षा से लोक में स्थित अनन्त-अनन्त आत्माएं समानगुण वाली हैं, सत्ता की दृष्टि से सब में समानता है, क्योंकि- सभी आत्माएं असंख्यात**

प्रदेशी हैं, उपयोग गुण से युक्त हैं, परिणामी नित्य है । इसी अपेक्षा से स्थानांग सूत्र में कहा गया है-"एगे आया" अर्थात् आत्मा एक है । यह हुइ समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा सभी आत्माएं अलग-अलग हैं, सब का ज्ञान-दर्शन एवं उसकी अनुभूति अलग-अलग है सब का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है । और संसार में परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओं का सुख-दुःख का संवेदन अलग-अलग है, सबका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है-किसी में ज्ञान का उत्कर्ष है, तो किसी में अपकर्ष है । **इस अपेक्षा को सामने रखकर आगम में कहा गया है कि आत्माएं अनन्त हैं । और दोनों अपेक्षाएं सत्य हैं, अनुभव गम्य है । अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है । उसे एकान्ततः एक या अनेक न कह कर 'एकानेक' कहना एवं मानना चाहिए ।**

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध में भी सभी दर्शनों में एकरूपता नहीं है । कुछ लोग, आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कुछ विचारक-अणुपरिमाण वाला मानते हैं । जैनों को दोनों मान्यताएं स्वीकार नहीं है, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं । अर्थात् अनियत परिमाण वाला । क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण-आकार, रूपी पदार्थों के होते हैं और आत्मा अरूपी है । फिर भी आत्म प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान भी अवश्य चाहिए । इस अपेक्षा से आत्म प्रदेश जितने स्थान को घेरते हैं । वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है । **आत्माएं अनन्त हैं और प्रत्येक आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं अर्थात् प्रदेशों की दृष्टि से सब आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली हैं । और आत्मप्रदेश स्वभाव से संकोच विस्तार वाले है । जैसा छोटा या बड़ा शरीर मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशों को संकोच भी कर लेती हैं । और फैला भी देती हैं** । जैसे-विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जब छोटे से कमरे में रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट प्रकाश छोटे से कमरे में समा जाता है । यों कहना चाहिए कि दीपक को छोटे-से कमरे से उठाकर विशाल महल में ले जाते हैं तो कमरे के थोड़े से आकाश प्रदेशों पर स्थित प्रकाश महल के विस्तृत आकाश प्रदेशों पर फैल जाता है, और महल से कमरे में आते ही अपने प्रकाश को संकोच लेता है । यही स्थिति आत्म प्रदेशों की है । जैसा-छोटा या बड़ा शरीर मिलता है उसी में असंख्यात आत्म-प्रदेश स्थित हो जाते है । **सिद्ध अवस्था में शरीर नहीं है, वहां आत्मा का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए- जिस शरीर में से आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त होती है, उस शरीर के तीन भाग में से, दो भाग जितने आकाश प्रदेशों को वह आत्मा घेरता है । शरीर की दृष्टि से देखें, तब अनन्त आत्माओं के विभिन्न आकार वाले संस्थान हैं, क्योंकि- विभिन्न आकार युक्त शरीरों में से हि अनंत आत्माएं सिद्ध हुए हैं, अतः सभी आत्माओं का परिमाण-आकार एक एवं, नियत नहीं हो सकता । इसी अपेक्षा से जैन दर्शन ने आत्मा का मध्यम अर्थात् अनियत या शरीर प्रमाण आकार माना**

है और यह अनुभवगम्य भी है ।

प्रश्न - आत्मा को शरीर परिमाण या मध्यम परिमाण वाला मानने से आत्मा में अनित्यता का दोष आ जाएगा ।

उत्तर - ठीक है, किंतु, अनित्यता से बचने के लिए वास्तविकता को ठुकराना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता । वास्तव में आत्मा एकांत नित्य भी तो नहीं है । यह हम पहले बता चुके हैं कि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है । अतः अनित्यता कोई दोष नहीं है। क्योंकि- एक अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप अनित्य भी है । अस्तु, आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानना चाहिए । यदि आत्मा को अणु मानते हैं, तो शरीर में होनेवाले सुख-दुःख की अनुभूति नहीं हो सकेगी । क्योंकि- यदि आत्मा अणुरूप होगा, तो फिर वह शरीर के एक प्रदेश में रहेगा, सारे शरीर में नहीं रह सकता । अतः शरीर के जिस भाग में वह नहीं होगा उस भाग में सुख-दुःख का संवेदन नहीं होगा । परन्तु, ऐसा होता नहीं, क्योंकि- सभी व्यक्तियों को पूरे शरीर में सुख-दुःख का संवेदन होता है । और यदि आत्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानते हैं तो उसमें; क्रिया नहीं होगी, स्वर्ग-नरक एवं बन्ध-मुक्ति नहीं घट सकेगी । इस लिए आत्मा को अणु एवं व्यापक मानना किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है । अतः उसे मध्यम-शरीर परिमाण वाला मानना चाहिए ।

जैसे अनुभूति एवं स्मृति का आधार एक ही है । उसी तरह कर्तृत्व और भोक्तृत्व का आधार भी एक है । अनुभव करने वाला और अपने कृत अनुभवों को स्मृति में संजोए रखने वाला भिन्न नहीं है । ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव कोई करे और उन अनुभूतियों को स्मृति में कोई और ही रखे । उसी तरह कर्म का कर्त्ता एवं कृत कर्म का भोक्ता एक ही होता है । या यों कहना चाहिए कि जो कर्म करता है, वह उसका फल भी भोगता है और जो फल भोगता है वह अपने कृत कर्म का ही फल भोगता है । अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों एक व्यक्ति-आत्मा में घटित होते हैं । सांख्य का यह मानना है, कि- आत्मा स्वयं कर्म नहीं करता है, कर्म प्रकृति करती है और प्रकृति द्वारा कृतकर्म का फल पुरुष-आत्मा भोगती है तथा बौद्ध दर्शन का यह मानना है, कि- कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो जाती है, उस विनष्ट आत्मा द्वारा कृत कर्म का फल उसके स्थान में उत्पन्न दूसरी आत्मा या उक्त आत्मा की सन्तति भोगती है, किन्तु यह बात किसी भी तरह युक्ति संगत नहीं है । व्यवहार में भी हम सदा देखते हैं कि जो कर्म करता है उसका फल दूसरे को या उसकी सन्तान को नहीं मिलता, यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसका स्वाद उसे ही मिलता है, न कि उसके किसी दूसरे साथी को या उसकी सन्तान को आम का स्वाद आता हो । **अस्तु, कर्तृत्व आत्मा में ही है और उसका फल भी उसकी सन्तान को न मिल कर उसी आत्मा को मिलता है ।**

इससे आत्मा की परिणामी नित्यता भी सिद्ध एवं परिपुष्ट होती है ।

जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वह लोक के स्वरूप का भी भली-भांति विवेचन कर सकता है । क्योंकि आत्मा की गति लोक में ही है और वह आत्मा, लोक में ही स्थित है । धर्म और अधर्म, यह दो द्रव्य आत्मा को गति देने एवं ठहरने में सहायक होते हैं अर्थात् जहां धर्मास्तिकाय हैं, वहीं आत्मा गति कर सकती है, और जहां अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व है, वहीं ठहर भी सकती है । तथा एक गति से दूसरी गति में परिभ्रमणशील आत्मा कर्म पुद्गलों से आबद्ध है । इससे पुद्गलों के साथ भी उसका संबन्ध जुड़ा हुआ है । **अतः यों कह सकते हैं कि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल चारों द्रव्य लोकाकाश में स्थित हैं, या उक्त चारों द्रव्यों का जहां अस्तित्व है, उसे लोक कहते हैं । इस तरह लोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान के साथ लोक के स्वरूप का परिबोध हो जाता है और जिसे लोक के स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह उसका विवेचन भी कर सकता है। इस दृष्टि से आत्मवादी के पश्चात् लोकवादी का उल्लेख किया गया ।**

आत्मा का लोक में परिभ्रमण कर्म सापेक्ष है । वही आत्मा, संसार-लोक में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिभ्रमण करती है, कि-जो आत्मा कर्म शृंखला से आबद्ध है । अस्तु, लोक के ज्ञान के साथ कर्म का भी परिज्ञान हो जाता है और कर्म को जानने वाला आत्मा उसके स्वरूप का सम्यक्तया प्रतिपादन भी कर सकता है । इसी कारण लोकवादी के पश्चात् कर्मवादी का उल्लेख किया गया ।

कर्म, क्रिया से निष्पन्न होता है । मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति विशेष को क्रिया कहते हैं । इस मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति से आत्मा के साथ कर्म का संबन्ध होता है । इस तरह कर्म और क्रिया का विशिष्ट सम्बन्ध होने से, कर्म का ज्ञाता क्रिया को भली-भांति जान लेता है और उसका अच्छी तरह वर्णन भी कर सकता है । इस लिए कर्मवादी के पश्चात् क्रियावादी को बताया गया ।

मुमुक्षु के लिए आत्मा, लोक, कर्म एवं क्रिया का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। इन सबका यथार्थ स्वरूप जाने बिना साधक, मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता और उसकी साधना में भी तेजस्विता नहीं आ पाती । इन सबमें आत्मतत्त्व मुख्य है । उसका सम्यक्तया बोध हो जाने पर, अवशेष तीनों का ज्ञान होने में देर नहीं लगती, उसमें फिर अधिक श्रम नहीं करना पड़ता । क्योंकि लोक, कर्म एवं क्रिया का आत्मा के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ है । **अतः शास्त्रकार का यह कथन पूर्णांशतया सत्य है कि जो एक को भली-भांति जान लेता है वह सबका ज्ञान कर लेता है । और यह लोक कहावत भी सत्य है – 'एक साधे सब सधे।'**

कर्म बन्धन से आबद्ध आत्मा ही संसार में परिभ्रमण करती है । और कर्म का कारण क्रिया है अर्थात् क्रिया से कर्म का प्रवाह प्रवहमान रहता है । अतः अब सूत्रकार महर्षि स्वयं, क्रिया के संबन्ध में विशेष बात आगे के सूत्र से कहेगें...

I सूत्र ॥ ६ ॥

अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं, करओ आवि समणुण्णे भविस्सामि ॥ ६ ॥

II संस्कृत-छाया :

अकार्षं चाऽहं, कारयामि चाऽहं, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि ॥ ६ ॥

III शब्दार्थ :

अकरिस्सं चऽहं – मैं ने किया । **कारवेसु चऽहं** – मैं कराता हूं । **करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि** – करने वाले व्यक्तियों का मैं अनुमोदन-समर्थन करुंगा ।

IV सूत्रार्थ :

मैंने कीया है, मैंने करवाया है, और करनेवाले अन्यका अनुमोदक होउंगा ॥६॥

V टीका-अनुवाद :

यहां भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्यकाल की अपेक्षासे करना, करवाना, एवं अनुमतिके द्वारा नव (९) विकल्प हुए... वे इस प्रकार-

भूतकालके तीन भेद...

१. मैंने कीया
२. मैंने करवाया
3. स्वयं करते हुए अन्यके कार्यमें संमति दी...

वर्तमान कालके तीन भेद...

४. मैं करता हुं
५. मैं करवाता हुं
६. स्वयं करते हुए अन्यको संमति देता हुं...

भविष्यत्कालके तीन भेद...

७. मैं करूंगा
८. मैं करवाउंगा
९. स्वयं करते हुए अन्यको संमति दुंगा...

इन नव विकल्पोंमें से प्रथम और अंतिम विकल्पका सूत्रसे हि निर्देश कीया है, अतः शेष बीचके सात विकल्पोंका भी ग्रहण कीया गया है प्रथम और अंतिम विकल्पका सूत्रसे हि निर्देश कीया है, अतः शेष बीचके सात विकल्पोंका भी ग्रहण कीया गया है ऐसा समझ लीजीयेगा... यह बातको स्पष्ट करने के लिये हि द्वितीय विकल्पका सूत्रसे हि निर्देश कीया है... और यहां जो दो बार 'च' का प्रयोग किया है, और 'अपि' शब्दका भी ग्रहण किया है, इससे मन, वचन और काया से चिन्तन करने पर ९ × ३ = २७ भेद होते है...

यहां यह भावार्थ है कि- 'मैंने किया' इस वाक्यमें 'मैं' पदसे विशिष्ट क्रियाको करनेवाला आत्माका निर्देश किया है... इससे यह भावार्थ निकलता है कि- वह हि मैं हुं कि- जिसने (मैंने) पूर्वकालमें यौवन अवस्थामें इंद्रियोके अधीन होकर विषय सुख के लिये विवेक शून्य चित्तसे उन उन अकार्य कार्योमें तत्पर होकर इस शरीरकी अनुकूलताके लिये चेष्टा की... कहा भी है कि- धन-वैभवके मदसे प्रेरित जीवात्मा यौवनके अभिमानसे जो कुछ अकार्य करता है, वह अकार्य वृद्धावस्थामें, हृदयमें शल्यकी भांति खटकता है...

तथा "मैंने करवाया" इस वाक्यसे अकार्य में प्रवर्त्तमान अन्य जीव को मैंने अकार्यमें प्रवृत्ति करवाइ... इसी प्रकार स्वयं हि अकार्य में प्रवृत्ति करनेवालेकी मैंने अनुमोदना की... इस प्रकार यहां भूतकालके करण, करावण एवं अनुमोदन रूप तीन विकल्प हुए...

तथा 'मैं करता हुं' इत्यादि तीन वाक्यों (विकल्पों) से वर्त्तमानकालका उल्लेख हुआ... इसी प्रकार "मैं करुंगा, करवाउंगा और स्वयं करनेवाले अन्यकी अनुमोदन करुंगा" तीन वाक्यसे भविष्यत्कालका कथन हुआ...

इस प्रकार तीनों कालको स्पर्शनेवाला शरीर तथा इंद्रियोसे भिन्न भूत-वर्त्तमान-एवं भविष्यत्कालमें परिणाम पानेवाले आत्माके अस्तित्वका ज्ञान दिखलाया... ऐसा ज्ञान एकांत क्षणिकवादी, एवं एकांत नित्यवादीओं को नहि हो शकता, अतः इस बातसे उनका निरास हुआ... क्रियाओंके परिणामसे आत्माका परिणामीपने का स्वीकार हो जाता है, और इसी हि प्रकारसे अनुमानके द्वारा भूतकालके और भविष्यत्कालके भवोंमें आत्माका होना निश्चित जाना जा शकता है...

अथवा तो इस क्रियाओंके प्रबंध (भेद-प्रभेद) को कहने से कर्मबंधके उपादानकारण ऐसी क्रियाका स्वरूप कह दीया है...

अब क्या इतनी हि क्रियाएं है ? या इसके अलावा अन्य भी क्रियाएं है ? इस प्रश्न का उत्तर, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

व्यक्ति के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया कार्य के करने, कराने और समर्थन-अनुमोदन करने की अपेक्षा से तीन प्रकार की है, और संसार का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी तीनों कालों में क्रियाशील रहता है । इसलिए क्रिया के उक्त भेदों का तीनों कालों के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और इस अपेक्षा से क्रिया के ९ भेद होते हैं । क्योंकि भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल हैं और प्रत्येक काल के करण, करावण एवं अनुमोदन प्रकार से तीन-तीन भेद होने से कुल नव भेद बनते हैं । भूत काल के तीन भेद इस प्रकार बनते हैं-

१-मैंने अमुक क्रिया का अनुष्ठान किया था ।
२-मैंने अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करवाया था ।
३-मैंने अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन किया था ।

वर्तमान काल में की जाने वाली क्रिया के तीन रूप इस प्रकार बनते हैं-

१-मैं अमुक क्रिया या कार्य कर रहा हूं ।
२-मैं अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करवा रहा हूं ।
३-मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करता हूं ।

अनागत-भविष्य काल में की जाने वाली क्रिया के भी तीन रूप बनते हैं, वे इस प्रकार हैं-

१-मैं अमुक दिन अमुक कार्य करूंगा ।
२-मैं दूसरे व्यक्ति से अमुक कार्य कराऊंगा ।
३-मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करूंगा ।

इस तरह क्रिया के ९ भेद बनते हैं, और वे नव भेद भी मन, वचन और शरीर से सम्बन्धित भी होते हैं । अतः तीनों योगों के साथ इनका सम्बन्ध होने से, क्रिया के ९×३=२७ भेद हो जाते हैं ।

"अकरिस्सं चऽहं... ...." आदि प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सर्व प्रथम "मैंने किया" भूतकालीन कृत क्रिया का, तदनन्तर "मैं कराता हूं" वर्तमान कालिन कारित क्रिया का और अन्त में "मैं क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूंगा" इस भविष्यत् कालीन अनुमोदित क्रिया का उल्लेख किया है । प्रस्तुत सूत्र में क्रिया के नव भेदों में से-मैंने किया, मैं कराता हूं और मैं अनुमोदन करूंगा । इन तीन भेदों का ही प्रतिपादन किया है । प्रश्न हो सकता है कि जब सूत्रकार ने क्रिया के तीन भेदों की ओर ही इशारा किया है, तब आप को क्रिया के नव भेद मानने के पीछे क्या आधार है ? यदि क्रिया के नव भेद होते हैं तो सूत्रकार ने उन नव का उल्लेख न करके तीन का ही उल्लेख क्यों किया ?

इस का समाधान यह है कि- प्रस्तुत सूत्र में तीन **च-कार** और एक **अपि** शब्द का प्रयोग किया गया है । इन च-कार एवं अपि शब्दों से तीनों कालों की प्रयुक्त क्रिया में अवशिष्ट क्रियाओं का बोध हो जाता है । सूत्र को अधिक लम्बा एवं शब्दों से अधिक बोजिल न बनाने के लिए क्रिया के मुख्य ३ – कृत, कारित और अनुमोदित भेदों का उल्लेख करके, शेष भेदों को च एवं अपि शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है । **यह हम पहले बता चुके है कि आचारांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र रूप रचा गया है; थोड़े शब्दों में अधिक भाव एवं अर्थ व्यक्त किया गया है । वस्तुतः सूत्र का तात्पर्य ही यह है कि थोड़े से थोड़े शब्दों में अधिक बात कही जाए। आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग न किया जाए । इसी दृष्टि को सामने रखकर सूत्रकार ने च एवं अपि शब्द से स्पष्ट होने वाले ६ क्रिया भेदों के लिए शब्द रचना न करके उसे तीन भेदों के द्वारा अभिव्यक्त किया है । हां, यह समझ लेना आवश्यक है कि किस च-कार से किस क्रिया का ग्रहण करना चाहिए ।**

"अकरिस्सं चऽहं" में प्रयुक्त 'च-कार' भूतकालीन 'कारित और अनुमोदित' क्रिया का परिबोधक है । "कारवेसु चऽहं" यहां व्यवहृत 'चकार' वर्तमान कालिन 'कृत और अनुमोदित' क्रिया का परिचायक है । और "करओ आवि (चापि)" इस पद में प्रयोग किया गया 'चकार' भविष्यत कालीन 'कृत और कारित' क्रिया का संसूचक है । और प्रस्तुत सूत्र में दिये गये 'अपि' शब्द से मन, वचन और काया- शरीर इन तीन योगों के साथ क्रिया के नव भेदों के सम्बन्ध का परिबोध होता है । इस तरह थोड़े से शब्दों में सूत्रकार ने क्रिया के २७ भेदों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है और इसी आधार पर हि क्रिया के ३×३×३=२७ भेद माने गए हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में भूत, वर्तमान एवं भविष्य काल सम्बन्धी क्रमशः कृत, कारित और अनुमोदित एक-एक क्रिया का वर्णन करके चकार एवं अपि शब्द से अन्य क्रियाओं का निर्देश कर दिया है । परन्तु शीलांकाचार्यजी को यह अभिमत है कि- प्रस्तुत सूत्र में भूत और भविष्यत् दो कालों की और निर्देश किया है । उन्होंने प्रस्तुत सूत्र की संस्कृत छाया इस प्रकार बनाई है-

"अकार्षं चाऽहं, अचीकरम् चाऽहं, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि"

शीलांकाचार्यजी के विचार से "अकरिस्सं-अकार्षम्" यह भूतकालिक कृत क्रिया है और 'कारवेसुं-अचीकरम्' यह भूतकालीन कारित क्रिया है । और 'करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि' यह भविष्यत् कालीन अनुमोदित क्रिया है । इस तरह सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दो कालों का निर्देश किया है, तीसरे वर्तमान काल का ग्रहण उन्होंने इस न्याय से किया है कि आदि और अन्त का ग्रहण करने पर मध्यमवर्ती का ग्रहण हो जाता है ।

प्रश्न हो सकता है कि जब आदि और अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण हो जाता है, तो फिर सूत्रकार ने "कारवेसुं चऽहं" इस भूतकालिक कारित क्रिया का निर्देश क्यों किया ? उक्त न्याय से इस भूतकालिक कारित क्रिया भेद का भी ग्रहण किया जा सकता था । इस प्रश्न का समाधान करते हुए शीलांकाचार्यजी ने कहा है कि–

"अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्पः 'कारवेसुं चऽहं' इति सूत्रेणोपात्तः ।"

अर्थात्–आदि और अन्त के ग्रहण करने पर मध्यवर्ती पदों का ग्रहण हो जाता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'कारवेसुं चऽहं' पद का प्रयोग किया है । यदि उक्त पद का प्रयोग न किया होता तो इस न्याय की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती थी ? अतः उक्त न्याय का यथार्थ रूप समझ में आ सके, इसलिए इस पद का प्रयोग किया गया। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि- मूल सूत्र में प्रयुक्त तीन च-कार से क्रियाओं का और अपि शब्द से मन, वचन और काया-शरीर का ग्रहण किया गया है ।

प्रस्तुत सूत्र में यह समझने एवं ध्यान देने की बात है कि- मन, वचन और शरीर के द्वारा तीनों कालों में होने वाली कृत, कारित और अनुमोदित सभी क्रियाएं आत्मा में होती है। उक्त सभी क्रियाओं में आत्मा की परिणति स्पष्ट परिलक्षित हो रही है । क्यों कि- धर्मी में परिवर्तन हुए बिना धर्मो में परिवर्तन नहीं होता । इसी अपेक्षा से पहले आत्मा में परिणमन होता है, बाद में क्रिया में परिणमन होता है । अतः क्रिया के परिणमन को आत्म परिणति पर आधारित मानना उचित एवं युक्ति संगत है । निष्कर्ष यह निकला कि- अहं पद से अभिव्यक्त जो आत्मा है, उस का परिणमन ही विशिष्ट क्रिया के रूप में सामने आता है । अतः विभिन्न कालवर्ती क्रियाओं में कर्तृत्व रूप से अभिव्यक्त होने वाला आत्मा एक ही है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं, अनुभव करते हैं कि तीनों कालों की कृत, कारित एवं अनुमोदित क्रियाएं पृथक् हैं और इन सब का पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है । तीनों कालों की क्रियाओं में कालगत भेद होने से अर्थात् विभिन्न काल स्पर्शी होने के कारण ये समस्त क्रियाएं एक दूसरे से पृथक् हैं, परन्तु इन विभिन्न समयवर्ती क्रियाओं में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होने वाला 'मैं' अर्थात् 'अहं' पद एक ही है । और इन विभिन्न समयवर्ती विभिन्न क्रियाओं में जो एक शृंखला-बद्ध संबंध परिलक्षित हो रहा है, वह आत्मा की एक रूपता के आधार पर ही अवलम्बित है । क्योंकि प्रत्येक क्रिया एक-एक काल-स्पर्शी है, जब कि आत्मा तीनों काल को स्पर्श करती है । यदि आत्मा को त्रिकाल-स्पर्शी न माना जाए तो उ में त्रिकाल में होने वाली पृथक्-पृथक् क्रियाओं की अनुभूति घटित नहीं हो सकती । और न उसमें भूत काल की स्मृति एवं भविष्य के लिए सोचने-विचारने की शक्ति ही रह शकती । अतीत की स्मृति एवं अनागत काल के लिए एक रूपरेखा तैयार करने की चिन्तन-शक्ति आत्मा में देखी

जाती है । इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामी नित्य है, और त्रिकाल को स्पर्श करती है।

यह स्पष्ट देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति शक्ति और धन के मद में आसक्त होकर यौवनकाल में दुष्कृत्य एवं अपने से दुर्बल व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार करते हैं । परन्तु वृद्ध अवस्था में शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण वे अपने द्वारा कृत दुष्कृत्यों का स्मरण करके दुःखी होते हैं और पश्चात्ताप करते हुए एवं आंसू बहाते हुये भी नज़र आते है । और उनकी दुर्दशा को देखकर आस-पास में रहनेवाले लोग भी कहने से नहीं चूकते कि- **इस भले आदमी ने धन, यौवन और अधिकार के नशे में कभी नहीं सोचा कि- मुझे इन दुष्कृत्यों का फल भी भुगतना पड़ेगा, उसने यह भी कभी नहीं विचारा कि यह क्षणिक शक्तियां नष्ट हो जाएंगी, तब मेरी क्या दशा होगी, उसी का यह परिणाम है । इस से विभिन्न समय में होने वाली त्रिकालवर्ती क्रियाओं का एक-दूसरे काल के साथ स्पष्ट सबन्ध दिखाई देता है । प्रथम समय में वर्तने वाला वर्तमान दूसरे समय में अतीत की स्मृति में बदल जाता है और भविष्य के क्षण धीरे-धीरे क्रमशः वर्तमान के रूप में आकर अतीत की स्मृति में विलीन हो जाते हैं । इसी कारण वर्तमान में अतीत की मधुर एवं दुःखद स्मृतियों तथा अनागत काल की योजनाएं बनती हैं; और इन त्रिकालवर्ती क्रियाओं की शृंखला को जोड़ने वाली आत्मा सदा एकरूप रहती है । वह पर्यायों की दृष्टि से प्रत्येक काल में परिवर्तित होती हुई भी द्रव्य की दृष्टि से एक रूप है । उसकी एक रूपता प्रत्येक काल में स्पष्ट प्रतीत होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि त्रिकाल वर्ती क्रियाओं में एकीकरण स्थापित करने वाली आत्मा है और वह परिणामी नित्य है** । जैसे एक भव में अतीत, वर्तमान एवं अनागत की क्रियाओं के साथ आत्मा का संबन्ध है, उसी तरह अनन्त भवों की क्रियाओं के साथ भी आत्मा का एवं वर्तमान भव से संबन्धित क्रियाओं का संबन्ध है । क्योंकि वर्तमान काल एक समय का है, दूसरे समय ही वह भूत काल हो जाता है, इस तरह अनन्त-अनन्त काल, वर्तमान पर्याय में से अतीत काल की संज्ञा में परिवर्तित हो चुका है और अनागत काल का आने वाला प्रत्येक समय क्रमशः वर्तमान काल की पर्याय को स्पर्श करता हुआ अतीत की स्मृति में विलीन हो रहा है । संसार में अनन्त-अनन्त काल से ऐसा होता रहा है और आगे भी होता रहेगा । क्योंकि अतीत और अनागत काल अनन्त हैं और अनन्त का कभी अन्त नहीं आता । अतः अनन्त भवों के अनन्त काल का भी संसार में परिभ्रमणशील आत्मा से संबन्ध रहा है । जैसे शरीर की बदलती हुई बाल, यौवन एवं वृद्ध अवस्थाओं में उसी एक ही आत्मा का अस्तित्व बना रहता है । उसी तरह अनेक योनियों में परिवर्तित विभिन्न शरीरों की स्थिति में भी उसी एक ही आत्मा का अस्तित्व बना रहा है ।

वर्तमान की स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त काल में किए हुए अनन्त भवों में आत्मा का अस्तित्व रहा है । इससे अनन्त-२ काल के साथ एक धारा-

प्रवाह के रूप में एक रूपता स्पष्ट प्रतीत होती है । हम यह देखते हैं कि वर्तमान भव में आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ है । इस से हम यह भली-भांति जान सकते हैं कि इस भव के पूर्व भी आत्मा का किसी अन्य शरीर के साथ संबन्ध था और भविष्य में भी जब तक यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहेगी, तब तक किसी न किसी योनि के शरीर के साथ इस का संबन्ध रहेगा ही । इससे त्रिकालवर्ती अनन्त काल एवं अनन्त भवों के धारा प्रवाहिक संबन्ध तथा विभिन्न काल एवं भवों में परिवर्तित अवस्थाओं में भी, आत्मा का एक ही शुद्ध स्वरूप स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है । इस तरह सूत्रकार ने त्रिकालवर्ती क्रियाओं और आत्मा के घनिष्ट संबन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से क्रियावाद के द्वारा आत्मवाद की स्थापना की है ।

प्रस्तुत सूत्र में क्रिया के २७ भेदों का विवेचन किया गया है, ये क्रियाएं इतनी ही हैं, न इनसे कम हैं और न अधिक हैं, और वे क्रियाएं कर्म-बन्धन का कारण भी हैं । अतः इस बात को सम्यक्तया जान कर इनसे बचना चाहिए या इनका परित्याग करना चाहिए । इसी बात का निर्देश, सूत्रकार महर्षि स्वयं हि आगे के सूत्र से करेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥ ७ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भा परिज्ञातव्या भवन्ति ॥ ७ ॥

III शब्दार्थ :

एयावंती सव्वावन्ती – इतने ही सब । **लोगंसि** – लोक में । **कम्मसमारंभा** – कर्म बन्धन की हेतु-भूत क्रियायें । **परिजाणियव्वा भवन्ति** – जाननी चाहियें ।

IV सूत्रार्थ :

लोकमें इतने हि, यह सभी कर्म-समारंभ जानने चाहिये... ॥ ७ ॥

V टीका-अनुवाद :

विश्वके सभी जीवोंमें पूर्व निर्दिष्ट 3 × 3 = ९ तीन काल और तीन कारणके भेदसे नव (९) प्रकारकी हि क्रियाएं होती है, क्योंकि- कोइ भी क्रियाके अंतमें कृ-धातुका प्रयोग होता हि है, इसीलीये इन नव प्रकारकी क्रियाओंमें शेष सभी क्रियाओंका संग्रह हो जाता है, इनके अलावा और कोइ भी क्रिया नहिं है...

परिज्ञा के दो भेद है १. ज्ञ परिज्ञा २. प्रत्याख्यान परिज्ञा...

ज्ञ परिज्ञा से आत्माका और कर्मबंधका अस्तित्व इन सभी कर्म-क्रियाओंसे जाना जा शकता है... और प्रत्याख्यान परिज्ञा से पाप के हेतु ऐसे सभी कर्म-क्रियाओंका त्याग होता है... इस प्रकार यहां सामान्यसे जीवका अस्तित्व सिद्ध कीया... अब उसी आत्माका दिशाओं एवं विदिशाओं में भटकने का हेतु दिखाने के साथ अपाय = कष्टोंको बताते हुए कहते हैं कि- जो जीव आत्म-कर्मादिवादी है, और वह दिशा एवं विदिशाओं में भटकनेसे छुटने योग्य है... और जो जीव आत्म-कर्मादिवादी नहिं है उसको होनेवाला कर्मफल (विपाक) सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

पूर्व सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया था कि तीनों काल में कृत, कारित एवं अनुमोदित की अपेक्षा से क्रिया के नव भेद बनते हैं और इन सब का मन, वचन और काया- शरीर के साथ संबन्ध जुड़ा हुआ होने से, इनके २७ भेद होते हैं । प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि सारे लोक में २७ तरह की क्रियाएं हैं, इस से अधिक या कम नहीं है, और वे क्रियाएं कर्म-बन्धन के लिए कारणभूत है । क्योंकि जब आत्मा में क्रियाओं के रूप में परिणति होती हैं तो उसके आस-पास में स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में संग्रह होता है। इस तरह वे क्रियाएं कर्मबन्ध का कारण-भूत मानी जाती हैं । इनके अभाव में आत्मा कर्मों से सर्वथा अलिप्त रहती है । क्योंकि कृत, कारित आदि क्रियाओं के कारण आत्मा में चंचलता होती है और आत्म परिणामों की परिणति के अनुरूप आस-पास के क्षेत्र में स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में गति होती है और उनका आत्म-प्रदेशों के साथ संबन्ध होता है । अतः जब तक आत्मा में क्रियाओं का प्रवाह प्रवहमान है, तब तक कर्म का आगमन भी होता रहता है। हां, यह बात अवश्य समझने की है कि क्रिया से कर्मों का संग्रह होता है, और कषायों के अनुसार आत्म-प्रदेशों के साथ उनका संबन्ध होता है परन्तु जब तक क्रिया के साथ राग-द्वेष एवं कषाय की परिणति नहीं होती तब तक कर्मो में तीव्र रस एवं दीर्घस्थिति का बन्ध नहीं होता, **या यों कहना चाहिए कि- क्रिया से प्रकृति और प्रदेश बन्ध अर्थात् कर्मों का संग्रह मात्र होता है और राग-द्वेष एवं काषायिक परिणति से अनुभाग-रस बन्ध और स्थिति बन्ध होता है और यही बन्ध आत्मा को संसार में परिभ्रमण करने की स्थिति में ले आता है ।**

क्रिया या योगों की प्रवृत्ति से कर्म का संग्रह होता है, अतः योग, कर्म-बन्ध में कारणभूत है । परंतु राग-द्वेष रहित योग प्रवृत्ति कर्म संग्रह अवश्य करती है परंतु बन्ध का कारण नहीं बनती । जैसे तेरहवें गुणस्थान में क्रियाएं अर्थात् योगों की प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से कर्म प्रवाह का आगमन भी होता है, परन्तु राग-द्वेष की परिणति के अभाव

में कर्म का बन्ध न के बराबर होता है । वे कर्म-पुद्गल आते हैं और तुरन्त झड़ जाते हैं, आत्मा के साथ दीर्घकाल तक नहीं रह पाते। **अस्तु, हम यों कह सकते हैं कि राग-द्वेष की परिणति से युक्त क्रियाएं कर्म-बन्ध के कारणभूत मानी है, ओर वे २७ ही हैं, इस बात को भली-भांति जान-समझ लेना चाहिए ।**

यह सत्य है कि- क्रियाओं से शुभ एवं अशुभ दोनों तरह के कर्म पुद्गलों का आगमन होता है । शुभ कर्म पुद्गल आत्म विकास में सहायक होते हैं, फिर भी वे हैं तो त्याज्य ही। क्योंकि- उनका सहयोग, विकास अवस्था में या यों कहिए कि- साधना काल में उपयोगी होने से साधक अवस्था में आदरणीय भी है, परन्तु सिद्ध अवस्था में उनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, अतः उस अवस्था में क्रिया मात्र ही त्याज्य है । और इस निश्चयनय की दृष्टि से शुभ क्रिया भी कर्म-बन्ध का अर्थात् संसार में (भले ही स्वर्ग में ही ले जाए फिर भी है तो संसार ही, बंधन ही) परिभ्रमण कराने का कारण होने से निश्चय दृष्टि से सदोष एवं त्याज्य है ।

निश्चय दृष्टि से क्रिया सदोष है, फिर भी आत्म-विकास के लिए उस का ज्ञान करना आवश्यक है । दोष को दोष कहकर उस क्रिया की सर्वथा उपेक्षा कर देना या उसके स्वरूप को समझना ही नहीं, यह जैन धर्म को मान्य नहीं है । वह दोषों का परिज्ञान करने की बात भी कहता है । क्योंकि- जब तक दोषों का एवं उन के कार्य का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक साधक उससे बच नहीं सकता । इसलिए कर्मबन्ध की कारण भूत क्रियाओं के स्वरूप एवं उनसे होने वाले संसार परिभ्रमण के चक्र को समझना-जानना भी ज़रूरी है । यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि मुमुक्षु को इनके स्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि- जीवन में ज्ञान का विशेष महत्त्व है, उसके बिना जीवन का विकास होना कठिन ही नहीं असंभव भी है। ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए भगवान महावीर ने यह कहकर ज्ञान की उपयोगिता एवं महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ज्ञान-सम्पन्न आत्मा जीवादि नव तत्त्वों को जान लेने के बाद, दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण नहिं करता... **वस्तुतः ज्ञान के बिना हेय-उपादेय का बोध नहीं होता । इसलिए सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है, उसके बाद अन्य साधना या क्रियाओं की । इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कर्म-बन्ध की हेतुभूत क्रियाओं की जानकारी कराई है ।**

जब तक साधक को क्रिया संबन्धी जानकारी नहीं हो जाती, तब तक वह साधना के क्षेत्र में विकास नहीं कर सकता, मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता । संसार-सागर को पार करने के लिए क्रियाओं के हेयोपादेयता का परिज्ञान करना ज़रूरी है । क्योंकि- सभी क्रियाएं एक समान नहीं है । **हिंसा करना, जूठ बोलना, छल-कपट करना आदि भी क्रिया है और दया करना, मरते हुए प्राणी को बचाना, सत्य बोलना आदि भी क्रिया है । किन्तु दोनों में परिणामगत अन्तर है और उसी अन्तर के कारण एक हेय है, तो दूसरी उपादेय है**

और उसकी उपादेयता भी संसार सागर से पार होने तक है, उसके बाद वह भी उपादेय नहीं है । अतः ऐसा कहना चाहिए कि- शुभ परिणामों से की जाने वाली शुभ क्रियाएं साधक अवस्था तक उपादेय है और सिद्ध अवस्था को पहुंचने पर वह भी हेय है। क्योंकि- उसकी आवश्यकता साध्य की सिद्धि के लिए है; अतः साध्य के सिद्ध हो जाने पर, फिर उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । अतः इस हेयोपादेयता को समझने के लिए क्रिया संबन्धी ज्ञान की आवश्यकता है । और इसी कारण ज्ञान का जीवन में विशेष महत्व माना गया है ।

इससे तीन बातें स्पष्ट होती है- १-ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है, आत्मा क्रिया के हेय-उपादेय के स्वरूप को भली-भांति समझ लेता है, २-साध्य सिद्धि में सहायक क्रियाओं का अनुष्ठान करता है और ३-ज्ञान एवं क्रिया दोनों की सम्यक् साधना-आराधना करके आत्मा एक दिन सिद्धि को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् समस्त क्रियाओं से मुक्त हो जाती है, जन्म, जरा और मृत्यु से सदा के लिए छुटकारा पा जाती है । अतः मुमुक्षु के लिए क्रियाओं का परिज्ञान करना आवश्यक है ।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म-बन्धन के हेतुभूत क्रियाओं की इयत्ता-परिमितता का वर्णन किया गया है । और साथ में यह प्रेरणा भी दी गई है, कि- साधक को क्रिया के स्वरूप का बोध करना चाहिए और उन क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न भी करना चाहिए । क्योंकि- इनसे निवृत्त होकर ही साधक कर्म-बन्धन एवं संसार-परिभ्रमण के दुःखों से छुटकारा पा सकता है *। अब जो व्यक्ति कर्म-बन्धन की कारण भूत इन क्रियाओं से विरत नहीं होता है, उसे* जिस फल की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेगें...

I सूत्र ॥ ८ ॥

अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति ॥ ८ ॥

II संस्कृत-छाया :

अपरिज्ञातकर्मा खल्वयं पुरुषो यः, इमा दिशा, अनुदिशा अनुसंचरति, सर्वा दिशाः, सर्वा अनुदिशाः साधयति ॥ ८ ॥

III शब्दार्थ :

जो पुरिसे-जो पुरुष । **अपरिण्णायकम्मा**-अपरिज्ञात-कर्मा होता है । **खलु**-निश्चय से । **अयं**-यह पुरुष । **इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ**-इन दिशा-विदिशाओं में। **अणुसंचरइ**-परिभ्रमण करता है । **सव्वाओ दिसाओ**-सभी दिशाओं में । **सव्वाओ अणु दिसाओ**-सभी

विदिशाओं में । साहेति = संचरण करता है...

IV सूत्रार्थ :

कर्म-समारंभोंको नहि जाननेवाला यह वह पुरुष है, कि- जो इन दिशा एवं विदिशाओंमे वारंवार संचरण (आवागमन) करता है... सभी दिशा और सभी विदिशाओंको प्राप्त करता है॥ ८ ॥

V टीका-अनुवाद :

जो इस शरीरमें रहनेवाला है अथवा तो सुख और दुःखसे पूर्ण है वह पुरुष है... प्राणी, जंतु या मनुष्य कहलाता है... व्यवहार नीतिमें पुरुषकी प्रधानता है, अतः पुरुष कहा है... इस कथनसे चारों गतिके सभी जीवोंका कथन समझ लीजीयेगा... ऐसा प्राणी दिशाओंमे अथवा विदिशाओंमें संचरण करता है...

कर्मोंकी परिज्ञा जीसने नहिं करी है वह जीव अपरिज्ञातकर्मा कहलाता है... ऐसा अपरिज्ञात-क्रर्मा जीव हि दिशा आदिमें भटकता है, अन्य जीव नहिं भटकतें...

ऐसा कहनेसे अपरिज्ञातात्मा और परिज्ञात क्रिया स्वरूप जीवका कथन हो जाता है... अब जो अपरिज्ञातकर्मा-जीव है वह सभी दिशाएं और सभी अनुदिशाओंमें अपने कीये हुए कर्मोके साथ संचरण करता है... यहां 'सर्व' शब्दके कथनसे सभी प्रज्ञापक दिशाएं एवं सभी भावदिशाओं का संग्रह कर लीजीयेगा...

वह अपरिज्ञातकर्मा-जीव, जो कुछ सुख एवं दुःख पाता है, वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संसार-परिभ्रमण एवं दुःख-प्राप्ति की कारणभूत सामग्री का उल्लेख करके सुखाभिलाषी मुमुक्षु को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है ।

"अपरिण्णायकम्मा" अर्थ है – अपरिज्ञात - कर्मा । जो प्राणी कर्म बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप से तथा उसकी हेय-उपादेयता से अपरिचित है, उसे अपरिज्ञात-कर्मा कहा है । क्योंकि उसमें, उसे ज्ञान के द्वारा संभवित कर्म और क्रिया के स्वरूप का सम्यग् बोध नहीं है, और सम्यग् बोध नहीं होने के कारण वह अज्ञानी व्यक्ति न हेय क्रिया का परित्याग कर सकता है और न उपादेय को स्वीकार कर सकता है । क्योंकि हेय और उपादेय क्रियाका त्याग एवं स्वीकार वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है । ज्ञान में जानना और त्यागना दोनों का समावेश हो जाता है । **इसी**

कारण ज्ञान को परिज्ञा कहा है और परिज्ञा के ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, ये दो भेद करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान का महत्त्व हेय वस्तु का अर्थात् आत्मविकास में बाधक पदार्थों का त्याग करने में है ।

जो व्यक्ति कर्म एवं क्रिया के यथार्थ ज्ञान से रहित है, अपरिचित है वह स्वकृत कर्म के अनुरूप द्रव्य और भाव दिशाओं में परिभ्रमण करता है । जब तक आत्मा कर्मों से संबद्ध है, तब तक वह संसार के प्रवाह में प्रवहमान रहेगा । एक गति से दूसरी गति में या एक योनि से दूसरी योनि में भटकता फिरेगा । इस भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए कर्म एवं क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना तथा उसके अनुरूप आचरण बनाना मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक है । **इसलिए आगमों में सम्यग् ज्ञान पूर्वक सम्यग् क्रिया करने का आदेश दिया गया है ।**

"अयं पुरिसे जो........." प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'पुरिसे' यह पद 'पुरुष' इस अर्थ का बोधक है । पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए शीलांकाचार्यजी ने लिखा है कि-

"पुरि शयनात्पूर्णः सुख-दुःखानां वा पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा"

वृत्तिकार ने पुरुष शब्द के दो अर्थ किए है- १-सामान्य जीव और २-मनुष्य । इसकी निरुक्ति भी दो प्रकार की है । जब पुरुष शब्द की "पुरिशयनादिति पुरुषः" यह निरूक्ति की जाती है तो इसका अर्थ होता है- शरीर में शयन करने से यह जीव पुरुष कहा जाता है । किन्तु जब इसकी यह निरूक्ति होती है कि- "सुख-दुःखानां पूर्णः इति पुरुषः" तब इसका अर्थ होता है- "जो सुखों और दुःखों से व्याप्त रहता है, वह पुरुष है" । इस तरह पुरुष शब्द से जीव एवं मनुष्य दोनों का बोध होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में "इमाओ दिसाओ" ऐसा कह कर पुनः जो "सव्वाओ दिसाओ" का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम पाठ में पठित दिशा शब्द सामान्य रूप से पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं का परिबोधक है तथा दूसरे पाठ में व्यवहृत दिशा शब्द, द्रव्य दिशा और भाव दिशा रूप इन सभी दिशाओं का परिचायक है ।

I सूत्र ॥ ९ ॥

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ ॥ ९ ॥

II संस्कृत-छाया :

अनेकरूपा योनीः सन्धयति, विरूपरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति ॥ ९ ॥

III शब्दार्थ :

अणेगरूवाओ जोणीओ–नाना प्रकार की योनियों को । **सन्धेइ**–प्राप्त करता है । **विरूवरूवे फासे**–अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का । **पडिसंवेदेइ**–संवेदन करता है, अनुभव करता है ।

IV सूत्रार्थ :

अनेक प्रकारकी योनीओंका अनुसंधान करता है, और विरूप प्रकारके स्पर्शोका संवेदन करता है ॥ ९ ॥

V टीका-अनुवाद :

अनेक प्रकारके संकट एवं विकट आदि स्वरूप वाली और जहां जीव औदारिक आदि शरीरकी वर्गणाओंके पुद्गलोंसे मिश्रित होता है वह योनि है, प्राणीओंके उत्पत्तिस्थनको योनि कहते हैं, इन योनिओंके अनेक प्रकार हैं... वे इस प्रकार- संवृत, विवृत और उभयरूप... तथा शीत उष्ण और शीतोष्ण-उभयरूप... अथवा योनिओंके ८४ लाख प्रकार है... वे इस प्रकार...

पृथ्वीकाय की सात लाख योनीयां है...
जल की भी " " "
अग्नि की भी " " "
वायुकाय की भी " " "
प्रत्येक वनस्पतिकायकी दश लाख योनीयां है
साधारण वनस्पतिकायकी चौदह लाख योनीयां है...
बेइंद्रिय की दो लाख योनियां है
तेइंद्रिय की " "
चउरिंद्रियकी " "
नारक की चार लाख योनीयां है
देवों की " "
तिर्यंच पंचेंद्रियोंकी भी चार लाख योनीयां है और
मनुष्यकी चौदह लाख योनीयां है...

तथा शुभ और अशुभ के भेदसे योनीयां अनेक प्रकारसे कही गइ है... वे इस प्रकार है- शीत, उष्ण आदि योनीयां ८४ लाख है, इसी प्रकार शुभ और अशुभ योनीयां भी ८४ लाख हि होती है...

उनमें से शुभ योनीयां जो हैं, वह कहते हैं-

१. असंख्य वर्ष आयुष्यवाले मनुष्योंकी योनीयां शुभ है...
२. राजेश्वर वासुदेव चक्रवर्ती आदि... संख्यात वर्ष आयुष्यवाले मनुष्य...
३. तीर्थंकर नामगोत्रवाले जीवोंकी योनीयां शुभ है...

उनमें भी जो जातिसंपन्नतादि गुणवाले हैं वे शुभ है शेष सभी मनुष्योंकी योनीयां अशुभ है

४. देवोंमें किल्बिषिक को छोडकर सभी योनीयां शुभ है...
५. तिर्यंच पंचेंद्रियमें गजरत्न और अश्वरत्न की योनीयां शुभ है, शेष सभी योनीयां अशुभ है...
६. एकेंद्रियजीवोंमें शुभवर्णादिवाले जीवोंकी योनीयां शुभ है...

इस संसारमें सभी जीवों ने देवेंद्र, चक्रवर्ती, तीर्थंकर तथा भाव-यतिपनेको छोडकर शेष सभी प्रकारके जन्म (भव) अनंत बार प्राप्त कीया है...

दिशा-विदिशाओंमें भटकनेवाला, अपरिज्ञातकर्मा यह जीव, इन अनेक प्रकारकी ८४ लाख योनीयों में उत्पन्न होता है वहां उन जीवोंको बिभत्स-जुगुप्सनीय (अशुभ) स्पर्शकी वेदना (पीडा) होती है, उपलक्षणसे मानसिक वेदना-पीडा भी होती है... अर्थात् सभी संसारी जीवोंको योनीयोंमें यह पीडा-वेदना होती हि है... यहां 'स्पर्श' पदके ग्रहणसे सभी संसारी जीवोंका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि- स्पर्शेंद्रिय तो सभी संसारी जीवोंको होती हि है... **यहां विशेष यह भी कहना है कि- सभी प्रकारके विरूप (अशुभ) रस गंध रूप और शब्दोंकी भी वेदना-पीडा होती है... विचित्र प्रकारके कर्मो के उदयसे विरूप स्पर्शादि होते हैं... अतः विचित्र कर्मोंके उदयसे अपरिज्ञातकर्मा = जीव उन उन योनीयोंमें विरूप स्पर्शादिकी पीडा = वेदना को पाता है...**

कहा भी है कि- उन कर्मोंसे पराधीन यह जीव संसार चक्रमें अनेकबार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेदवाले पुद्गलपरावर्तकाल तक भटकता है... नरकमें देवमें तिर्यंचयोनीमें और मनुष्य योनीमें यह जीव अरघट्ट-घटी यंत्रकी तरह शरीरको धारण करता हुआ भटकता है...

नरकमें निरंतर तीव्र दुःख हि दुःख होता है... तिर्यंचगतिमें भय, भूख, तृषा और वध आदि दुःख अधिक होता है और सुख थोडा हि होता है... मनुष्योंको अनेक प्रकारके मानसिक एवं शारीरिक सुख तथा दुःख होता है... और देवोंको शरीरमें तो सुख हि सुख है किंतु मनमें कभी कभी थोडा सा दुःख होता है...

कर्मोंके प्रभावसे दुःखी यह जीव मोहरूप अंधकारसे अतिशय गहन इस संसार- वनके, कठिन मार्गमें अंध की तरह, भटकता हि रहता है... मोहाधीन यह जीव दुःखोंको दूर करनेके लिये और सुखोंको पानेके लिये प्राणिवध (हिंसा) आदि दोषोंका आसेवन करता है...

इस स्थितिमें यह जीव बहुत प्रकारके **बहोत सारे** कर्मोंको बांधता है, उन कर्मोंके उदयमें यह जीव पुनः अग्निमें प्रविष्ट जंतुकी तरह अग्निसे पकता है, शेका जाता है... **इस प्रकार विषय सुखको चाहनेवाला यह जीव अज्ञानतासे बार बार कर्म बांधता है और भुगतता है तथा बहोत दुःखवाले अनादिके इस संसारमें भटकता है...** इस प्रकार संसार समुद्रमें भटकते हुए इस जीवको मनुष्य जन्म दुर्लभ है क्योंकि- संसार बहुत बडा है, जीवमें अधार्मिकताका संचय है, और कर्म भी ढेर सारे आत्मामें रहे हुए है...

आर्यदेश, उत्तम कुल, अच्छा रूप, समृद्धि तथा दीर्घ आयुष्य और आरोग्य तथा साधुओंका समागम, श्रद्धा, धर्मका श्रवण और मतिकी तीक्ष्णता इत्यादि उत्तरोत्तर दुर्लभ दुर्लभतर है... दुर्लभ ऐसे यह सभी प्राप्त होने पर भी मोहनीयकर्मके अधीन इस जीवको कुमतोंसे भरे हुए इस जगतमें जिनोक्त मोक्षमार्ग (श्रमणत्व) दुर्लभ है...

अथवा तो जो यह जीव = पुरुष सभी दिशा और विदिशाओंमे संचरण करता है तथा अनेक प्रकारकी योनीओंमें उत्पन्न होता है और वहां विरूप रूपवाले कठोर स्पर्शोंका संवेदन करता है... वह अविज्ञातकर्मा याने मन-वचन-कायाके व्यापार = क्रियाओंको नहि जाननेवाला जीव, जीवोंको पीडा देनेके कारणसे सावद्ययोगसे ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकारके कर्मोंको बांधता है, और उन कर्मोंके उदयसे अनेक प्रकारकी योनीयोंमें विरूप प्रकारके कठोर स्पर्शका अनुभव करता है... यदि ऐसा है, तो अब क्या करना ? इस बातके अनुसंधानमें सूत्रकार महर्षि आगेका सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

"अनेगरूवाओ जोणीओ" इस पाठ में प्रयुक्त "जोणीओ" पद योनि का बोधक है । टीकाकार ने योनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है–

"यौति मिश्रीभवत्यौदारिकादिशरीरवर्गणापुद्गलैरसुमान् यासु ता योनयः प्राणिनामुत्पत्तिस्थानानि ।"

अर्थात्– यह जीव औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर वर्गणा के पुद्गलों को लेकर जिसमें मिश्रित होता है, संबन्ध करता है, उस स्थान को योनि कहते हैं । दूसरे शब्दों में योनि उत्पत्ति स्थान का नाम है । प्रज्ञापना सूत्र के योनिपद में नव प्रकार की योनि बताई गई है– १-शीत, २-ऊष्ण, ३-शीतोष्ण, ४-सचित्त, ५-अचित्त, ६-सचित्ताचित्त (मिश्रित), ७-संवृत, ८-विवृत्त और ९-संवृत्तविवृत्त ।

इन की अर्थ-विचारणा इस प्रकार है–

१-शीत योनि- जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श पाया जाए उसे शीत योनि कहते हैं ।

२-उष्ण योनि- जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श ऊष्ण हो उसे ऊष्ण योनि कहा है ।

३-शीतोष्ण योनि- जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श कुछ शीत और कुछ ऊष्ण है, उसे शीतोष्ण योनि कहा है ।

४-सचित्त योनि- जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से अधिष्ठित है, संयुक्त है, उसे सचित्त योनि कहते हैं ।

५-अचित्त-योनि- जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशों से युक्त नहीं है, उसे अचित्त योनि कहा है।

६-सचित्ताचित्त योनि- जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग आत्म प्रदेशों से युक्त है और कुछ भाग आत्म प्रदेशों से रहित हो, उसे सचित्ताचित्त योनि कहते हैं ।

७-संवृत्त योनि- जो उत्पत्ति स्थान प्रच्छन्न हो, अप्रकट हो, आंखों द्वारा दिखाई नहीं देता हो, उसे संवृत्त योनि कहते हैं ।

८-विवृत्त योनि- जो उत्पत्ति स्थान अनावृत्त हो, खुला हो उसे विवृत्त योनि कहते हैं।

९-संवृत्तविवृत्तयोनि- जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग प्रच्छन्न हो, आवृत्त हो और कुछ भाग अनावृत्त हो, उसे संवृत्त - विवृत्त योनि कहते हैं ।

गर्भज मनुष्य, तिर्यंच और देवों की शीतोष्ण योनि होती है । तेजस्कायिक- अग्नि के जीवों की योनि ऊष्ण है, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रय जीवों की तथा संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं सम्मूर्च्छिम मनुष्य और नरक के जीवों की शीत, ऊष्ण और शीतोष्ण तीनों तरह की योनियां होती हैं ।

देव और नारक जीवों की योनि अचित्त होती है । गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि सचित्ताचित्त होती है । पांच स्थावर, तीन विकेलन्द्रिय, संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य, इन भी जीवों की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त तीनों तरह की योनियां होती है ।

नारक, देव और एकेन्द्रिय जीवों की योनि संवृत्त होती है । गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यों की योनि संवृत्त-विवृत्त होती है । तीन विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य आदि जीवों की योनि विवृत्त होती है ।

इस तरह योनियों के नव भेद होते हैं । इनका उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र में मिलता है ।

इसके अतिरिक्त योनि के और भी अनेक भेद मिलते हैं । उनकी संख्या ८४ लाख बताई गई है । वह इस प्रकार है-

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इन में से प्रत्येक काय की सात-सात लाख योनियां होती है । प्रत्येक वनस्पति काय की १० लाख योनियां है, साधारण वनस्पति (अनन्त काय) की १४ लाख, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में से प्रत्येक की दो-दो लाख, नारक, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की चार-चार लाख और मनुष्य की १४ लाख योनियां होती हैं । **इस प्रकार संसार के समस्त जीवों की ७ + ७ + ७ + ७ + १० + १४ + २ + २ + २ + ४ + ४ + ४ + १४ = ८४ लाख योनियां होती है** । इन सभी योनियों में संसारी जीव जन्म-मरण करते हैं और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहने के कारण ही जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक संक्लेश एवं दुःखों का संवेदन एवं सामना करना पड़ता है ।

"विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ" प्रस्तुत वाक्य में व्यवहृत 'विरूपरूप' 'स्पर्श' शब्द का विशेषण है । 'विरूपरूप' शब्द 'विरूप+रूप' इन दो शब्दों के संयोग से बना है । विरूप बीभत्स और अमनोज्ञ को कहते हैं और रूप शब्द से स्वरूप का बोध होता है । अतः 'विरूपरूप' शब्द का अर्थ हुआ- बीभत्स और अमनोज्ञ स्वरूप वाला । 'स्पर्श' शब्द स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दुःखों का परिबोधक है स्पर्श को उपलक्ष्य मान लेने पर वह स्पर्श शारीरिक एवं मानसिक दोनों दुःखों का परिचायक बन जाता है ।

यहां यह प्रश्न पुछा जा सकता है, कि- सूत्रकार ने "फासे" शब्द का उल्लेख करके केवल स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दुःखों की और संकेत किया है, किन्तु हम यह देखते हैं कि- घ्राण, रसना आदि अन्य इन्द्रियों के आश्रित दुःखों का भी संवेदन होता है, पर सूत्रकार ने उन का उल्लेख नहीं किया, इसका क्या कारण है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि- स्पर्श इन्द्रिय आश्रित दुःख का उल्लेख करके सूत्रकार ने अन्य इन्द्रियों द्वारा संवेदित दुःखों को स्पर्श इन्द्रिय द्वारा संवेदित दुःखों में ही समाविष्ट कर दिया है । अन्य इन्द्रियों के नाम का उल्लेख न करके स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख करने का यह कारण रहा है कि- स्पर्श इन्द्रिय संसार के सभी प्राणियों को होती है । अन्य इन्द्रियें कुछ ही प्राणिओं को होती हैं । जैसे-नारक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य और देवों को श्रोत्र इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और स्पर्श इन्द्रिय होती है । परन्तु, चतुरिन्द्रिय जीवों को श्रोत्र इन्द्रिय नहीं होती, त्रीन्द्रिय जीवों को श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय नहीं होती, द्वीन्द्रिय जीवों को श्रोत्र, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय नहीं होती, और एकेन्द्रिय जीवों को केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है । अन्य इन्द्रियें नहीं होती । **इससे स्पष्ट हो गया कि- अन्य इन्द्रियें कई जीवों में**

होती हैं और कई जीवों में नहीं भी पाई जाती, परन्तु स्पर्श इन्द्रिय संसार के सभी जीवों को प्राप्त है । और अन्य इन्द्रियां भी स्पर्श के आश्रित ही हैं इसलिए स्पर्श इन्द्रिय के आश्रित दुःखों एवं संक्लेशों के संवेदन का उल्लेख किया गया है, और इससे सभी इन्द्रियों के द्वारा संवेदित दुःखों को समझ लेना चाहिए ।

'संधेइ' इस पाठ के स्थान पर कई प्रतियों में 'संधावइ' (संधावति) पाठ भी उपलब्ध होता है । 'संधेइ' का अर्थ है – प्राप्त करना है और 'संधावइ' का अर्थ होता है – बार-बार गमन करता है ।

प्रस्तुत सूत्र में इस बात का उल्लेख किया गया है कि अपरिज्ञात कर्मा पुरुष (आत्मा) अनेक योनियों में परिभ्रमण करता है, और विविध दुःखों का संवेदन करता है । योनि-भ्रमण और दुःखों से छुटकारा पाने के लिए जिस प्रकार के विवेक एवं साधना की आवश्यकता होती है, वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेगें...

I सूत्र ॥ १० ॥

तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइआ ॥ १० ॥

II संस्कृत-छाया :

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ॥ १० ॥

III शब्दार्थ :

तत्थ–इन कर्म समारम्भों के विषय में । **खलु**–निश्चय ही । **भगवता**–भगवान ने । **परिण्णा**–परिज्ञा, विवेक का । **पवेइया**–उपदेश दिया है ।

IV सूत्रार्थ :

इन कर्म-समारंभके विषयमें परमात्माने परिज्ञा कही है ॥ १० ॥

V टीका-अनुवाद :

तत्र याने उन उन कार्योंमें 'मैंने कीया, मैं करता हुं, मैं करुंगा' इस प्रकारके आत्मपरिणामके स्वभावसे मन-वचन-काया स्वरूप कार्योंमें भगवान श्री वर्धमान स्वामीजीने परिज्ञान स्वरूप परिज्ञा कही है... यह बात सुधर्मस्वामीजी जंबूस्वामजीको कहते हैं...

वह परिज्ञा दो प्रकारकी है... १. ज्ञ परिज्ञा २. प्रत्याख्यानपरिज्ञा...

ज्ञ परिज्ञा से जीव यह जानता है कि- सावद्य योगसे कर्मबंध होता है, ऐसा वीरप्रभुने

कहा है... प्रत्याख्यान परिज्ञासे जीव कर्मबंधके कारण ऐसे सावद्ययोगोंका पच्चक्खाण (त्याग) करता है... इसी अर्थको हि निर्युक्तिकार कहते हैं...

नि. ६७

यहां क्रियाके विषयमें "मैंने कीया और मैं करुंगा" ऐसा कहनेसे भूतकाल और भविष्यत्काल का ग्रहण कीया है, अतः उन दोनो के बीचमें रहे हुए वर्त्तमानकालका और 'कीया' कहनेसे करवाना और अनुमोदन का संग्रह करने पर नव (९) भेद आत्माके परिणामसे योग स्वरूप माना है... यहां आत्म परिणाम स्वरूप इन नव क्रियाओंसे कर्मबंधका विचार कीया है... कहा भी है कि- "योगोंके कारणसे हि कर्मबंध होता है" यह बात अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान या जातिस्मरण-ज्ञान स्वरूप सन्मति (स्वमति) के द्वारा कोइक जीव, प्रत्यक्ष हि जानता है, और कोइक जीव पक्ष, धर्म, अन्वय और व्यतिरेक लक्षणवाले हेतुओंकी युक्तिसे अनुमान-प्रमाण के द्वारा जानता है...

अब प्रश्न होता है कि- यह जीव कटुकविपाक वाले कर्मोंके आश्रवहेतुभूत क्रियाओंमें क्यों प्रवृत्त होता है ? इस प्रश्नका उत्तर, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

यह हम पहले बता चुके हैं कि- जीवन में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि ज्ञान प्रकाश है, आलोक है । उसके उज्ज्वल, समुज्ज्ल एवं महोज्ज्वल प्रकाश में मनुष्य वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता को भली-भांति समझ सकता है । साधक को हेय और उपादेय वस्तुओं का तथा उन्हें त्यागने एवं स्वीकार करने का बोध भी सम्यग् ज्ञान से ही होता है। अतः ज्ञान का उपयोग एवं महत्त्व ज्ञानी पुरुष ही जान सकता, अन्य नहीं।

एक अबोध बालक ज्ञान के सही एवं वास्तविक मूल्य को नहीं समझता । उसे इस बात का पता ही नहीं है कि ज्ञान जीवन के कण-कण को प्रकाश से जगमगा देता है, उज्ज्वल आलोक से भर देता है । वह यह नहीं जानता कि ज्ञान मनुष्य का अन्तर्चक्षु है, जिसके अभाव में बाह्य चक्षु होते हुए भी वह अंधा समझा जाता है । और विना शृंग-पूंछ का पशु माना जाता है । ज्ञान के इस महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही वह दिन भर खेलता-कूदता एवं आमोद-प्रमोद करता रहता है । परन्तु ज्ञान का महत्त्व समझने के बाद उसका जीवन बदल जाता है । खेल-कूद का स्थान शिक्षा ले लेती है । वह दिन-रात ज्ञान की साधना में संलग्न रहने लगता है । यही स्थिति अज्ञ एवं ज्ञानी पुरुष की है । अज्ञ व्यक्ति जहां दिन-रात विषय-वासना में निमज्जित रहता है, भौतिक सुखों के पीछे निरन्तर दौड़ता फिरता है, वहां ज्ञानी पुरुष दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते ज्ञान की साधना में संलग्न रहता

है । प्रत्येक समय प्रत्येक क्रिया में विवेक एवं ज्ञान के प्रकाश को सामने रखकर गति करता है । वह जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ की बातों में नहीं खोता । क्योंकि वह ज्ञान के, विवेक के मूल्य को जानता है और वह यह भी जानता है कि ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में गति करके ही आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है, अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है ।

वस्तुतः ज्ञान से जीवन ज्योतिर्मय बनता है । आत्मा ज्ञान के प्रकाश में ही अपने संसार परिभ्रमण एवं उससे मुक्त होने के कारण को जान सकती है । संसार में परिभ्रमण करने का कारण कर्म है । कर्म से आबद्ध आत्मा ही विभिन्न क्रियाओं में प्रवृत्त होती है और क्रिया से फिर कर्म का संग्रह होता है । इस तरह जब तक कर्म का अस्तित्व रहता है, तब तक संसार का प्रवाह प्रवहमान रहता है । इसलिए सूत्रकार ने पिछले सूत्र में कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं का परिज्ञान कराया है । क्योंकि उन क्रियाओं एवं उनके परिणामों का सम्यक्तया बोध होने पर साधक उनका परित्याग कर सकता है । इसलिए प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि संसार परिभ्रमणा के दुःखों से बचने के लिए साधक को कर्म बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के संबन्ध में परिज्ञा-विवेक रखना चाहिए । प्रस्तुत सूत्र में विवेक का तात्पर्य है- सर्व प्रथम कर्म बन्धन की हेतुभूतक्रियाओं के स्वरूप को समझना और तदनन्तर उनका परित्याग करना ।

'तत्थ' इस पद की व्याख्या करते हुए शीलांकाचार्यजी कहते हैं कि-

"तत्र कर्मणि व्यापारे अकार्षमहं, करोमि करिष्यामीत्यात्मपरिणतिस्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे ।"

अर्थात्- 'तत्र' शब्द- मैंने किया, मैं कर रहा हूं और मैं करुंगा, इस प्रकार की आत्म परिणति के स्वभाव से होने वाला मन, वचन और काया के व्यापार का बोधक है । सामान्यतया यह व्यापार त्रिविध होता है, किन्तु यह कृत, कारित और अनुमोदित से संबद्ध होने के कारण नव प्रकार का बन जाता है और उक्त भेदों को भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों से संबन्धित कर लेने पर इनकी संख्या २७ हो जाती है । इन सभी भेदों का वर्णन पिछले सूत्र में किया जा चुका है । अस्तु 'तत्र' शब्द को क्रिया के २७ भेदों का परिचायक समझना चाहिए । और मुमुक्षु को इन सभी क्रिया-भेदों के व्यापारों में विवेक रखना चाहिए ।

'भगवता परिण्णा पवेइया' प्रस्तुत वाक्य में प्रयुक्त 'परिण्णा' शब्द परिज्ञा का परिबोधक परिष्कृत है, और प्रशस्त ज्ञान का नाम परिज्ञा है । यह परिज्ञा ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा के भेद से दो प्रकार की है । ज्ञ परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतभूत क्रिया का बोध होता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से आत्मा उस पाप-क्रिया का परित्याग करता है।

ज्ञ परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है । इस तरह परिज्ञा से कर्मबन्ध के हेतुभूत क्रिया के स्वरूप को जान समझ कर एवं त्यागकर साधक संसार से मुक्त होने का प्रयत्न करता है । यहां एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि- जब व्यक्ति परिज्ञा द्वारा संसार परिभ्रमण के कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप को जान लेता है तब फिर वह कर्माश्रव के कारण रूप क्रियाओं के व्यापार में क्यों प्रवृत्त होता है ? पाप एवं दुष्कृत्य करने को क्यों तत्पर होता है ? इस प्रश्न का समाधान, सूत्रकार महर्षि स्वयं हि आगे के सूत्र में करेंगे...

I सूत्र ॥ ११ ॥

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिधायहेउं ॥ ११ ॥

II संस्कृत-छाया :

अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुम् ॥ ११ ॥

III शब्दार्थ :

इमस्स चेव जीवियस्स-इस जीवन के लिए । **परिवंदण-माणाण-पूयणाए**-परिवन्दन-प्रशंसा, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा के लिए । **जाइ-मरण-मोयणाए**-जन्म, मरण से मुक्ति पाने के लिए । **दुक्ख-पडिघायहेउं**-दुःखों से छुटकारा पाने के लिए अज्ञानी जीव पाप क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

इस जीवित का वंदन, सन्मान एवं पूजनके लिये तथा जन्म एवं मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये... ॥ ११ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां पर जीवित का अर्थ है- आयुष्य कर्मके उदयसे जीना याने प्राणधारण करना... और वह जीवन, सभी जीवोंको स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष हि है... 'इदम्' सर्वनाम प्रत्यक्ष या निकटताका निर्देश करता है... और "च" शब्द जिनका अब कथन होगा, ऐसी जाति आदिके समुच्चयके लिये है... तथा 'एव' पद अवधारण-निश्चित रूप अर्थका निर्देश करता है... अब कहते हैं कि- अस्सार एवं, बिजलीके विलास जैसे चंचल और बहुत कष्ट दायक इस जीवनके लिये और दीर्घ कालीन विषय-सुखके लिये यह जीव क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है... वह इस प्रकार... आरोग्यवाला मैं जीऊंगा और सुखसे भोगोंको भोगुंगा, इस कारणसे वह जीव रोगोंको दूर करनेके लिये

मांसभक्षण आदि क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है... और अल्प याने क्षणिक सुखके लिये अभिमानसे घेरे हुए चित्तवाला यह जीव बहुत आरंभ एवं परिग्रहसे बहोत हि अशुभ कर्मोको ग्रहण करता है...

कहा भी है कि- सर्व संगके त्यागी, निर्भय एवं शम-सुख में लीन साधु लोगों को निरस एवं लुखे सुके भिक्षा-भोजन में जो स्वाद-मधुरता प्राप्त होती है, वैसी मधुरता सेवक लोग, मंत्री वर्ग, पुत्र परिवार एवं सौंदर्य-लावण्यवाली नारीओंसे घेरे हुए राजाको बत्तीस पक्वान्न एवं तैंतीस प्रकार के शाकवाले भोजनमें भी स्वाद-मधुरता नहि मीलती... क्योंकि- राजाको सदैव भय आकुलता एवं आर्त्त-रौद्र ध्यान चलता रहता है, जब कि- साधु लोग सदैव निर्भय स्वस्थ आत्मदृष्टिवाले हैं, एवं धर्मध्यान में रहतें हैं...

जब कि- संसारी अज्ञानी लोग, तरूण कुंपल एवं पलाश पत्रके जैसे चंचल जीवितमें आसक्त होकर, जीववध आदि पापस्थानकोंमें प्रवृत्त होते हैं, और इसी जीवितकी परिवंदन, मानन और पूजनके लिये व्याकुल होने से हिंसा आदिमें भी प्रवृत्त होता है...

परिवंदन याने स्तवना, प्रशंसा पाने के लिये चेष्टा करता है, वह इस प्रकार- मैं मयूर आदिके मांसको खानेसे बलवान, तेजसे देदीप्यमान राजकुमारकी तरह लोगोंसें प्रशंसाका पात्र बनुंगा... मानन याने अन्य लोगों का, मेरे स्वागतके लिये खडे होना, बैठनेके लिये आसन देना और हाथ जोडकर वंदन करना, इत्यादि पाने के लिये चेष्टा करनेवाला जीव कर्म बांधता है... पूजन याने धन, वस्त्र, आहार, पानी, सत्कार, प्रणाम सेवा आदि पाने के लिये क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला जीव कर्मोसे बद्ध होता है... वह इस प्रकार- "यह पृथ्वी वीरभोग्या है" ऐसा मानकर पराक्रम करता है, और दंडके भयसे सभी प्रजा उससे डरती है... इस प्रकार राजाओंमें और अन्य लोगोंमें भी यथासंभव समझ लें... सारांश यह रहा कि- परिवंदन, मानन और पूजनको पाने के लिये राजा आदि प्रधान मनुष्य जीवनमें कर्मबंधन करतें हैं...

केवल अपने हि परिवंदन आदिके लिये हि कर्म नहिं बांधतें, किंतु दूसरोंके लिये भी... वह इस प्रकार- जन्म और मरणसे छुटनेके लिये, क्रौंचारिवंदनादि क्रियाएं करता है, तथा अन्य जन्ममें इच्छित मनोज्ञ वैषयिक सुख समृद्धि पाने के लिये वह मनुष्य, ब्राह्मणादि लोगों को इच्छित वस्तुएं देता है... मनु ऋषिने भी कहा है कि- जल का दान करनेवाला तृप्तिको पाता है, अन्न का दान देनेवाला अक्षयसुख पाता है, तिल का दान देनेवाला इष्ट प्रजा-पुत्र परिवार प्राप्त करता है, और अभयदान देनेवाला दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करता है। इसी प्रकार मरणसे छूटने के लिये भी पितृपिंडदान आदि क्रियाओंमें प्रवृत्त होता है, अथवा तो इन्होंने "मेरे संबंधीको मार डाला है" ऐसा याद करके वैरका बदला लेनेके लिये वध एवं बंधन आदिमें प्रवृत्त होता है... अथवा तो जीव अपने आपके मरणसे छुटनेके लिये दुर्गा आदि देवीओंके आगे अपनी

याचनाको पूर्ण करने लिये अजः बकरा आदिकी बलि देता है... जिस प्रकार यशोधर राजाने गेहुं के आटेसे बनाये हुए कुकडे का बलि दीया था... ऐसा करने से वे, मरण से छूटने के बजाय अनेक मरणोंको पानेवाले हुए, तथा मुक्तिके लिये... अज्ञानी जीव, जीवोंका वध करनेवाले पंचाग्नि तपके अनुष्ठानादिमें प्रवृत्त होते हुए कर्म बांधते है...

अथवा तो जन्म और मरणको दूर करनेके लिये हिंसा आदि क्रियाएं करता है... यहां पाठांतरमें "भोजनके लिये" इस पदका भावार्थ- इस प्रकार है- कृषि (खेती) आदि कार्योंमें प्रवृत्ति करनेवाला वह मनुष्य पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय और पंचेंद्रियके वधमें प्रवृत्त होता है...

तथा दुःखको दूर करनेके लिये एवं आत्माके रक्षणके लिये जीवों का वध-आरंभ करता है... वे इस प्रकार- व्याधि-रोगोंसे पीडित जीव लावक का मांस और मदिरा का पान करता है, और वनस्पति, मूल, छाल, पत्ते और रस आदिसे सिद्ध शतपाक आदि तैलोंके लिये अग्नि आदिके समारंभसे स्वयं पाप करते हैं, दुसरोंसे पाप करवाता है, और स्वयं पापोंको करनेवाले अन्य लोगोंकी अनुमोदना करते हैं... इसी प्रकार- भूतकाल तथा भविष्यत्कालमें भी मन-वचन-काययोगोसें कर्मोका ग्रहण करता है...

तथा दुःखके विनाशके लिये और सुखको पानेके लिये स्त्री, पुत्र और घरकी छोटी-बडी सभी चीज-वस्तुओका संग्रह करता है...

इन वस्तुओंकी प्राप्ति एवं सुरक्षाके लिये उन उन क्रियाओंमें प्रवृत्त होनेवाला यह जीव पाप कर्मोका आसेवन करता है...

कहा भी है कि- गृहस्थोंको सर्व प्रथम प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिये प्रयास होता है, और बादमें पत्नीको पानेके लिये, और इसके बाद पुत्र प्राप्तिके लिये प्रयास होता है... इसके बाद उन पुत्रोंमें गुण-प्रकर्ष तथा शिक्षाके लिये प्रयास होता है और अंत में उंचे पदकी प्राप्तिके लिये प्रयास होता है...

इस प्रकारके अनेक क्रियाओंसे विविध कर्मोका बंध करके अनेक दिशाओंमें संचरण करता है, अनेक प्रकारकी योनीओंमें उत्पन्न होता है और वहां विरूप (कठोर) स्पर्शोकी पीडाओंको भुगतता है... इस प्रकार यह बात जानकर विविध पाप-क्रियाओंसे निवृत्ति करना चाहिये... इतनी हि क्रियाएं है, यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के **सूत्र से कहेंगे...**

VI सूत्रसार :

प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मरना कोई नहीं चाहता । सभी प्राणीयों को जीवन प्रिय है । प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को बना रखने का यथासंभव प्रयत्न करता है । अपने आपको

लम्बे समय तक जीवित रखने के लिए वह जीव, उचित एवं अनुचित कार्य का तथा पाप-पुण्य का थोडा भी ध्यान नहीं रखता । इस तरह जीवन को स्थायी बनाए रखने की झूठी लालसा या मृगतृष्णा के पीछे वह अनेक पाप कार्यो में प्रवृत्त होता है । और इसका मुख्य कारण है- नश्वर जीवन के प्रति प्राणी की मोह जन्य आसक्ति, ममता एवं मूर्च्छा ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि- प्राणी अपनी कामनाओं या अभिलाषाओं के वशीभूत होकर पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है । जब उसे क्रिया के हेय एवं उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया बोध हो जाता है, तब वह परिज्ञा याने विवेक युक्त होकर साधना में प्रवृत्त होता है, इस प्रकार वह मनुष्य (साधु), संसार में अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पाप कर्मों से सहज ही बच जाता है । क्योंकि- जब तक क्रिया में विवेक जागृत नहीं होता तब तक पाप कर्म का बन्ध होता है । विवेक जागृत होने के बाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता । और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनैः-शनैः क्रियाओं का परित्याग करता हुआ, एक दिन संसार के कारणभूत क्रिया मात्र से मुक्त हो जाता है । साधना की चरम सीमा को लांघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है । इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि- वह पहले क्रिया संबन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमें विवेक पूर्वक गति करे । इससे साधक संसार सागर को पार करके एक दिन कर्म बन्धन की कारणभूत क्रियाओं से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा ।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार महर्षि क्रियाओं की इयत्ता-परिमितता का स्वरूप आगे के सूत्र से कहेंगे...

I **सूत्र ॥ १२ ॥**

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥ १२ ॥

II **संस्कृत-छाया :**

एतावन्तः सर्वे लोके कर्म-समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति ॥ १२ ॥

III **शब्दार्थ :**

लोगंसि-लोक में । **एयावंती**-इतने ही । **सव्वावंती**-सर्व । **कम्मसमारम्भा**-कर्म समारम्भ-क्रिया विशेष । **परिजाणियव्वा**-परिज्ञातव्य-जानने योग्य । **भवंति**-होते हैं।

IV **सूत्रार्थ :**

लोकमें यह सभी कर्मसमारंभ जानने योग्य होते हैं ॥ १२ ॥

V टीका-अनुवाद :

संपूर्ण धर्मास्तिकायवाले आकाशप्रदेशों (लोकाकाश) में पूर्वोक्त 3 × 3 = ९ × 3 = २७ प्रकारकी क्रियाएं होती है... इनसे अधिक कोइ भी क्रिया नहिं है... वे इस प्रकार- स्व, पर, उभय (दोनों) तथा इस जन्म, आगामी जन्म तथा भूतकाल भविष्यत्काल वर्त्तमानकाल, कृत कारित और अनुमोदन द्वारा आरंभ कीये जाते है... वे सभी पूर्व कहे हुए है, वे सभी यहां स्वयं समझ लीजीयेगा...

इस प्रकार सामान्यसे जीवका अस्तित्व सिद्ध करके, उनका मर्दन (पीडा) वध करनेवाली क्रियाओंसे कर्म-बंध होता है, ऐसा कहकर उपसंहार द्वारा विरतिका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

क्रिया के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है । प्रस्तुत सूत्र में दृढ़ता के साथ पूर्व सूत्रों में वर्णित विषय का समर्थन किया गया है और साधक को प्रेरित किया गया है कि वह क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसमें विवेक पूर्वक गति करे अर्थात् पहले हेय एवं उपादेय का भेद करके हेय को सर्वथा त्यागकर साधना में तेजस्विता लाने वाली, साध्य के निकट पहुंचाने वाली उपादेय क्रियाओं को स्वीकार करें । इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है कि- कर्म-बन्ध की हेतुभूत इतनी ही क्रियाएं हैं । साधक को इनका परिज्ञान होना चाहिए । क्योंकि- ज्ञान होने पर ही साधक उनसे विरत हो सकेगा, अतः उनके स्वरूप आदि का वर्णन करके, सूत्रकार महर्षि, अब उन सावद्य क्रियाओं से विरत होने की बात, इस उद्देशक के अंतिम सूत्र में कहेगें...

I सूत्र ॥ १३ ॥

जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्तिबेमि ॥ १३ ॥

II संस्कृत-छाया :

यस्य एते लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञात-कर्मा । इति ब्रवीमि ॥ १३ ॥

III शब्दार्थ :

जस्स-जिस मुमुक्षु को । **एते**-ये (पूर्वोक्त) । **कम्मसभारम्भा**-कर्म समारम्भ-क्रिया विशेष । **परिण्णाया**-परिज्ञात । **भवंति**-होते हैं । **से**-वह । **मुणी**-मुनि । **परिण्णाय कम्मे**-

परिज्ञात कर्मा होता है । **त्तिबेमि**-एसा मैं करता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

लोकमें जिन्होंको यह सभी कर्म समारंभ परिज्ञात हुए हैं, वे हि परिज्ञातकर्मवाले सच्चे मुनी है... इस प्रकार मैं (सुधर्मस्वामी) कहता हुं ॥ १३ ॥

V टीका-अनुवाद :

समस्त वस्तुओंको जाननेवाले भगवान् वर्धमान स्वामीजी केवलज्ञानसे संपूर्ण विश्वको प्रत्यक्ष पाकर कहते हैं कि- जो साधु पूर्व कहे हुए ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोके बंधके कारणभूत क्रियाओंको जानता है, वह हि साधु जगतकी तीनो कालकी अवस्थाओंको जाननेके कारणसे मुनि है, और यह मुनि ज्ञ परिज्ञासे पाप क्रियाओंको जानता है और प्रत्याख्यान परिज्ञासे कर्मबंधके कारणभूत ऐसे सभी मन-वचन और कायाके व्यापारोंको त्याग करता है... ऐसा करनेसे हि मोक्षके कारणभूत ज्ञान और क्रिया का स्वीकार होता है... ज्ञान और क्रियाके विना मोक्ष नहिं होता है... कहा भी है कि- **"ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः"**

यहां 'इति' शब्दसे यह कहते हैं कि- इस प्रथम उद्देशकमें "इतना हि यह आत्म पदार्थका विचार और कर्मबंधके कारणोंका विचार" बतलाया है अथवा तो "इति" याने यह जो मैं कहता हुं, जो मैं पहले कह चूका हुं और जो कुछ भी आगे कहुगां वह सभी बातें भगवान् वर्धमान स्वामीजी के मुखसे साक्षात् सुनकर हि कहता हूं और कहूंगा...

VI सूत्रसार :

ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के बन्ध का कारण क्रिया विशेष है, और उन्हीं क्रियाओं को कर्म समारंभ कहते हैं । उनका भली-भांति ज्ञाता अर्थात् कर्मबन्ध के कारणभूत क्रियाओं के सम्यक्तया जानने तथा तदनुसार उनका परित्याग करने वाला, जो मुनि है वह परिज्ञातकर्मा कहलाता है । परिज्ञातकर्मा का तात्पर्य है- **वह मुनि है, कि- जो ज्ञ परिज्ञा से पापक्रियाओं के वास्तविक स्वरूप को जानता, समझता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उन पापक्रियाओं का परित्याग करता है।** इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि- वह मुनि ज्ञान पूर्वक आचरण में प्रवृत्त होता है । उसका ज्ञान, आचरण से समन्वित है और आचरण ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिर्मय है । उसके जीवन में ज्ञान और क्रिया का या यों कहिए कि विचार और आचार में विरोध नहीं, किन्तु समन्वय है । और इन दोनों का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है, अतः आत्मा को क्रिया से सर्वथा निवृत्त करने वाला है । किसी भी गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वित प्रयत्न की आवश्यकता होती है । मनुष्य को जिस स्थान पर पहुंचना हो, उस स्थान का एवं उसके रास्ते का ज्ञान होना ज़रूरी है और फिर तदनुरूप क्रिया की आवश्यकता है । ज्ञान और क्रिया के सुमेल से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुंच

सकता है- चाहे वह गन्तव्य स्थान लौकिक हो या लोकोत्तर ।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए आगम में कहा गया है कि "वन में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपितु ज्ञान से मुनि होता है।" जिस साधु के जीवन में ज्ञान का प्रकाश है, आलोक है वह मुनि है, भले ही वह जंगल में रहे, पर्वतों की गुफाओं में रहे या गांव एवं शहेर में रहे । स्थान के भेद से उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ता यदि उसके जीवन में ज्ञान है । **टीकाकार शीलांकाचार्यजी ने मुनि शब्द की यही परिभाषा की है । उन्होंने लिखा है कि 'जो मननशील है या लोक की, जगत की त्रिकालवर्ती अवस्था को जानने वाला है, वह मुनि है ।'** इससे यह स्पष्ट हो गया कि जिस साधक को क्रिया की हेय-उपादेयता का सम्यक्तया परिबोध है और जो परिज्ञा-विवेक के साथ संयमसाधना में प्रवृत्त है, वह मुनि है और वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है ।

क्रिया संबन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि साधक कर्म बन्धन की हेतु भूत क्रिया के स्वरूप का सम्यक्तया बोध करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे । क्यों कि प्रत्येक साधक का मुख्य उद्देश्य क्रिया मात्र से सर्वथा निवृत्त होना है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है या सीधी-सी भाषा में कहें तो निर्वाण पद को प्राप्त करना है । इसलिए साधक की साधना में तेजस्विता एवं गति पाने के लिए प्रस्तुत प्रकरण में संसार में परिभ्रमण कराने की कारणभूत क्रिया के स्वरूप को जान-समझ कर त्यागने की प्रेरणा दी गई है ।

'इति ब्रवीमि' का अर्थ है-इस प्रकार मैं तुम से कहता हूं । इसका तात्पर्य स्पष्ट रूप से यह है कि- आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कह रहे हैं कि-**हे जम्बू ! मैंने जो कुछ तुम्हें कहा है, वह जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है वैसा ही कहा है, मैं अपनी तरफ से कुछ नहीं कह रहा हूं ।** 'इति ब्रवीमि' शब्द में यही रहस्य अन्तर्निहित है । और इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि- आगम के अर्थ रूप से उपदेष्टा तीर्थंकर ही होते हैं, गणधर केवल उनके उपदेश को सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं । यही बात सूत्रकार ने 'तिबेमि' शब्द से अभिव्यक्त की है ।

॥ शस्त्रपरिज्ञायां प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी**, एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान**

राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिए **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **"शिवमस्तु सर्वजगतः"**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - १   उद्देशक - २

卐 पृथ्वीकाय 卐

पहला उद्देशक कहा, अब दुसरे उद्देशक का कथन कीया जा रहा है- इसका यह परस्पर संबंध है कि- पहले उद्देशकमें सामान्यसे जीवका अस्तित्व सिद्ध कीया... अब इसी जीवके एकेंद्रियादि भेद तथा पृथ्वीकाय आदि प्रभेदोंका अस्तित्व प्रतिपादन करनेकी इच्छासे कहते हैं कि- पहेले उद्देशक में कहा कि- परिज्ञातकर्मत्व हि मुनित्वका कारण है, अतः जो अपरिज्ञातकर्मा है, वह मुनि नहिं है, जो जीव, विरतिको स्वीकारता नहिं है... इससे वह पृथ्वीकाय आदिमें भटकता है...

अब यह पृथ्वीकाय आदि कौन है ? इस प्रश्नके अनुसंधानमें पृथ्वीकायका अस्तित्व दिखाते हुए यह द्वितीय उद्देशक कहते हैं... इस संबंधसे आये हुए इस दुसरे उद्देशकके चार अनुयोग द्वार कहना है, किंतु यह सभी पूर्व कहे जा चूके है अतः जो विशेष है वह कहते हैं...

नाम निष्पन्न निक्षेपमें पृथ्वी-उद्देशक... इसमें उद्देशक के निक्षेपे भी कहे जा चूके हैं... अतः यहां नहिं कहते हैं किंतु "पृथ्वी" के जो कुछ निक्षेपे होते हैं वह निर्युक्तिकार स्वयं हि नियुक्तिकी गाथाओंसे कहते हैं...

नि. ६८

पृथ्वी निक्षेप, प्ररूपणा, लक्षण, परिमाण, उपभोग, शस्त्र, वेदना, वध और निवृत्ति... जीवके उद्देशकमें जीवकी प्ररूपणा क्यों नहिं की ? ऐसी शंका न करें क्योंकि- जीव-सामान्यका आधार जीव विशेष है और वे पृथ्वी आदि स्वरूप है... और जीवसामान्यका उपभोग हो हि नहिं शकता, अतः पृथ्वी आदिके भेद-प्रभेदसे विचार कीया जाता है...

पृथ्वी के... नाम आदि निक्षेप...

सूक्ष्म बादर आदि भेदसे प्ररूपणा... साकार-अनाकार उपयोग तथा काय योगादि लक्षण... घनीकृत लोकाकाशके प्रतरके असंख्येयभाग मात्र परिमाण... शयन आसन और आवागमन से उपभोग... स्नेह, अम्ल और क्षार आदि शस्त्र... अपने शरीरमें अव्यक्त चेतना स्वरूप सुख और दुःखका अनुभव... वेदना... करना, करवाना और अनुमोदनसे जीवोंका उपमर्दन याने वध-पीडा... वध... तथा मन-वचन और काय गुप्तिसे अपमत्त साधु जो जीवोंको दुःख नहिं पहुंचाता... वह निवृत्ति...

इन्हीं पदोंका विस्तारसे अर्थ स्वयं निर्युक्तिकार कहते हैं, कि-

नि. ६९

१. नाम पृथ्वी २. स्थापना पृथ्वी
३. द्रव्य पृथ्वी ४. भाव पृथ्वी

इस प्रकार 'पृथ्वी' का चार निक्षेपे होते हैं...

नि. ७०

द्रव्य पृथ्वी - आगमसे और नो आगमसे...
आगमसे... ज्ञाता किंतु अनुपयुक्त...
नो आगमसे... ज्ञ शरीर भव्य शरीर तद्व्यतिरिक्त...
ज्ञ शरीर... पृथ्वी को जाननेवालेका शरीर - कलेवर...
भव्य शरीर - पृथ्वी पदार्थको भविष्यमें जो जानेगा वह बालक...
तद्व्यतिरिक्त - एक भववाला जीव, कि- जिसने पृथ्वीका आयुष्य बंधा हुआ है...
अर्थात् पृथ्वीमें उत्पन्न होने के लिये उदयाभिमुख है नाम और गोत्र कर्म जीसको...
भाव पृथ्वी - पृथ्वी योग्य नामकर्मके उदयवाला जीव...
निक्षेप द्वार पूर्ण हुआ... अब प्ररूपणा द्वार...

नि. ७१

लोकमें पृथ्वीकाय के दो भेद है १. सूक्ष्म... २. बादर... सूक्ष्म पृथ्वीकाय संपूर्ण लोकमें है और बादर पृथ्वीकाय, लोक के कितनेक विभागोंमें है, सर्वत्र नहि...

पृथ्वीके जीवके दो प्रकार है - सूक्ष्म और बादर...
सूक्ष्म नाम कर्मके उदयवाले सूक्ष्म पृथ्वीकाय...
बादर नाम कर्मके उदयवाले बादर पृथ्वीकाय...

पृथ्वीके सूक्ष्म और बादरपनेमें कर्मोका उदय हि कारण है... यहां अन्य कोइ, बोर-आंवलेकी तरह, सूक्ष्म-बादर की बात नहि है... सूक्ष्म पृथ्वीकाय संपूर्ण लोकमें रहे हुए है,

अब बादर पृथ्वीकायके मूलसे हि दो भेद बताते हैं...

नि. ७२

बादर पृथ्वी के दो भेद श्लक्ष्ण और खर... श्लक्ष्ण पृथ्वीके काला नीला पीला लाल और सफेद इन पांच वर्णके भेद-कारणसे पांच भेद... खर पृथ्वीके छत्तीस भेद है... यहां गुणके भेदसे गुणवान् में भेद माना है...

नि. ७३

पृथ्वी, शर्करा (कंकर) रेत, पत्थर, शिला, नमक, क्षार, लोहा, तांबा, त्रपु, सीसा, रूपा, सोना और वज्र... ये पृथ्वीके १४ भेद ७३ वी गाथामें कहा है...

नि. ७४

हरताल हिंगलोक, मनःशीला, सासक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटलाभ्र वालुका ये ८ भेद द्वितीय (७४ वीं) गाथामें कहे गये है...

नि. ७५

गोमेद, रुचक, अंक, स्फटिक, लोहिताक्ष मरकत मसारगल्ल भूतमोचक और इंद्रनील इस (७५ वीं) गाथामें दश भेद बताये है...

नि. ७६

चंद्रकांत वैडुर्य जलकांत और सूर्यकांत यह चार विशिष्ट रत्नोंके भेद कहे गये है...

यहां पूर्वकी दो गाथामें सामान्य पृथ्वीके भेद बताये है और अंतिम दो गाथामें मणि-रत्नोंके भेद कहे है इस प्रकार १४+८+१०+४=३६ भेद बादर-खर पृथ्वीकायके हुए...

सूक्ष्म एवं बादर भेदसे पृथ्वीकायको कहकर अब वर्णादि भेदसे पृथ्वीके और अधिक भेद कहते हैं...

नि. ७७

वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्शके विभागसे संख्यात योनीयां होती है, और एक एक विभागमें पुनः अनेक सहस्र (लाखों) योनियां होती है...

शुक्ल आदि पांच वर्ण, तिक्त आदि पांच रस, सुरभि और दुर्गंध ये दो गंध तथा मृदु कर्कश आदि आठ स्पर्श... अब इन एक एक वर्णादिमें भी संख्यात योनीयां होती है... अब संख्यातके अनेक प्रकार होते हैं अतः उन सभीके भिन्न भिन्न संख्या जो हैं वह कहते हैं... जैसे कि-पृथ्वीकायकी सात लाख योनीयां होती है...

पन्नवणा सूत्रमें भी कहा है कि- पर्याप्त पृथ्वीकायके वर्ण गंध रस एवं स्पर्शके भेदसे लाखों योनीयां होती है... पर्याप्त के आधारमें (निश्रामें) अपर्याप्त जीव उत्पन्न होते हैं... जहां एक पृथ्वीकाय है वहां नियमसे असंख्य पृथ्वीकाय जीव होते हैं... यह बात बादर खर पृथ्वीकायकी हुइ... यहां संवृत योनीवाले पृथ्वीकाय कहे है... वह संवृत योनी भी सचित्त अचित्त

और मिश्र भेदवाली होती है, तथा उनमें भी शीत उष्ण और शीतोष्ण इत्यादि अनेक भेद होते हैं...

इसी बातको पुनः निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं...

नि. ७८

एक एक वर्ण गंध रस स्पर्शमें विविध प्रकारसे अनेक भेद होते हैं... वे इस प्रकार... जैसे कि- काला वर्ण-भंवरा, कोयला, कोकिलपक्षी, गवल और काजलमें भिन्न भिन्न प्रकारका होता है... इस प्रकार कृष्ण, कृष्णतर, कृष्णतम वगैरह... इस प्रकार नील आदि वर्णोंमें भी समझ लीजीयेगा... इसी प्रकार रस गंध एवं स्पर्शमें भी सभी प्रकारके संभवित भेद समझ लें... और वर्ण आदिके परस्पर संयोगसे भी धूसर, केशर, कर्बूरित (काबरचितरुं) आदि वर्णोंतरोंकी उत्पत्ति होती है... इस प्रकारकी उत्प्रेक्षासे प्रत्येक वर्णादिका प्रकर्ष अप्रकर्ष और संमिश्रणसे बहोत भेद होते हैं...

अब पृथ्वीकाय के और भी प्रर्याप्तक आदि प्रकारसे भेद प्रभेद कहते हैं...

नि. ७९

बादर पृथ्वीकायके दो भेद- पर्याप्त और अपर्याप्त
सूक्ष्म पृथ्वीकायके भी दो भेद- पर्याप्त और अपर्याप्त

यहां दो दो भेद जरूर है परंतु वे जीव स्वरूप से परस्पर समान नहि हैं क्योंकि- बादर एक पर्याप्त जीवका आश्रय लेकर असंख्य अपर्याप्त बादर जीव होते हैं और एक सूक्ष्म अपर्याप्त जीवको आश्रय करके असंख्य सूक्ष्म पर्याप्त जीव होते हैं...

आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनका निर्माण करनेवाली छ पर्याप्तियां होती है... जन्मांतरसे आकर योनिस्थानमें उत्पन्न होनेवाला जीव सर्व प्रथम पुद्गलोंका ग्रहण करनेसे करण बनाता है, और उस करण से हि आहार लेकर खल-रस आदि स्वरूप परिणाम उत्पन्न करता है... इस करण विशेषको आहार पर्याप्ति कहते हैं... इसी प्रकार शेष पांच पर्याप्तिओंमें भी स्वयं समझ लीजीयेगा...

एकेंद्रिय जीवोंको आहार, शरीर, इंद्रिय और श्वासोच्छ्वास नामकी चार पर्याप्तियां होती है... इनको जीव अंतमुहूर्त कालमें हि बनाता है... जो चारों पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं वे पर्याप्तक... और जो पूर्ण नहिं करते वे अपर्याप्तक जीव है... पृथ्वी हि शरीर है जिन्हें वे पृथ्वीकाय हैं... जिस प्रकार सूक्ष्म-बादर भेद कहे, वैसे हि प्रसिद्ध प्रकारसे भेद-प्रभेद कहते हैं...

नि. ८०

जिस प्रकार वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, वलय आदिमें विभिन्नता दिखाइ देती है वैसे हि पृथ्वीकायमें भी विविधता होती है...

वृक्ष	-	आम वगैरह
गुच्छ	-	वेंगण, सल्लकी, कपास आदि-
गुल्म	-	नवमालिका कोरंटक आदि-
लता	-	पुन्नाग अशोकलता वगैरह-
वल्ली	-	त्रपुषी, वालुंको, कोशातकी आदि-
वलय	-	केतकी कदली (केले) आदि-

और भी वनस्पतिके भेदके दृष्टांत से पृथ्वीकायके भेद बतातें हैं...

नि. ८१

जिस प्रकार वनस्पतिकायमें औषधि-तृण, सेवाल, पनक (लीलफुल-निगोद) कंद, मूल, आदि भेद होते हैं वैसे हि पृथ्वीकायमें भी विविध भेद-प्रभेद होते हैं...

औषधि... शालि (चावल) गेहूं वगैरह-

तृण	-	दर्भ (घास) आदि
सेवाल	-	पानीमें उपर जो तैरती है वह...
पनक	-	लकडी आदिमें उत्पन्न होनेवाले निगोद स्वरूप जो पांचो वर्णमें दिखाइ देते हैं...
कंद	-	सूरणकंद आदि मूले, गाजर, वगैरह-
मूल	-	उशीर, आदि-

ये सभी सूक्ष्म होनेके कारणसे एक दो दिखाइ नहि देतें किंतु जो दिखाइ देतें हैं वे कितने होते हैं यह बात अब कहते हैं...

नि. ८२

एक-दो-तीन यावत् संख्यात जीव जहां एकसाथ होते हैं वे दीखाइ नहिं देते... किंतु जहां पृथ्वीकायके असंख्य जीव इकट्ठे होते हैं वे हि चर्मचक्षुवाले प्राणीको देखे जा शकते हैं... अब यहां प्रश्न होता हैं कि- यह पृथ्वीकाय जीव है ऐसा कैसे जान शकेंगे ? उत्तरमें कहते हैं कि- पृथ्वीकाय जीवोंने जीस शरीरमें निवास कीया है, उन शरीरोंको देखने से हि जीवोंको

देखे जा शकते है... जैसे कि- गाय, घोडा, हाथी आदिमें जीवोंको देख शकतें है...

नि. ८3

उनके शरीरसे हि वे बादर जीव प्रत्यक्ष होते हैं ऐसा सूत्रमें कहा है, और जो सूक्ष्म जीव हैं वे तो आंखोसे देखे भी नहिं जा शकतें, किंतु केवल आज्ञासे हि जाना जाता है...

असंख्य पृथ्वी कंकर आदि बादर शरीरवाले पृथ्वीकाय जीव शरीरके द्वारा हि प्रत्यक्ष होते है... शेष सूक्ष्म शरीरवाले पृथ्वीकाय जीव जगतमें तो है किंतु वे मात्र जिनवचनसे हि ग्राह्य होते हैं... क्योंकि वे चक्षुके विषयमें कभी नहिं आ शकतें...

प्ररूपणा द्वारके बाद अब लक्षण द्वार कहते हैं...

नि. ८४

उपयोग, योग, अध्यवसाय, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, आठ कर्मोके उदय, लेश्या, संज्ञा, उच्छ्‌वास और कषाय पृथ्वीकायमें होते हैं...

१.	उपयोग-	पृथ्वीकाय आदि जीवोंमें थिणद्धी निद्राके कारणसे ज्ञान दर्शन स्वरूप अव्यक्त उपयोग शक्ति होती है...
२.	योग-	औदारिक, औदारिक मिश्र तथा कार्मण काययोग पृथ्वीकायमें होता है कि जो कर्मवाले जीवको वृद्ध-दंडके समान आलंबन रूप बनता है...
3.	अध्यवसाय-	जीवके परिणाम स्वरूप अध्यवसाय है, कि- जो मूर्च्छित मनुष्यके मनमें होनेवाले चिंतन-विचार स्वरूप है किंतु उन्हें छद्मस्थ जीवों समझ नहि पातें...
४/५.	मति-श्रुतज्ञान-	पृथ्वीकाय जीवोंको साकारोपयोग स्वरूप मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है...
६.	अचक्षुदर्शन-	पृथ्वीकाय जीवोंको स्पर्शेंद्रिय होती हैं, अतः उन्हे अचक्षुदर्शन होता है...
७.	आठ कर्म-	पृथ्वीकाय जीवोंको आठों कर्मोका उदय होता है, और आठों कर्मोका बंध भी होता है...
८.	लेश्या-	पृथ्वीकाय जीवोंको अध्यवसाय स्वरूप कृष्ण नील कापोत और तेजोलेश्या होती है...

९. संज्ञा- आहार आदि दश प्रकारकी संज्ञा भी होती है...

१०. श्वासोच्छ्वास- पृथ्वीकाय जीवोंको सूक्ष्म उच्छ्वास निःश्वास भी होता है...

आगममें कहा है कि... हे भगवन् ! क्या पृथ्वीकाय जीव उच्छ्वास निःश्वास करते हैं ? हे गौतम ! पृथ्वीकाय जीव निरंतर उच्छ्वास एवं निःश्वास करते हैं...

११. कषाय- पृथ्वीकाय जीवोंको सूक्ष्म क्रोध आदि कषाय भी होता है

इस प्रकारसे पृथ्वीकाय जीवोंको जीवके लक्षण स्वरूप उपयोगसे लेकर कषाय तकके सभी भाव होते हैं... इस प्रकार जीवोंके लक्षण समूहसे युक्त होनेके कारणसे मनुष्यकी तरह पृथ्वीकाय सचित्त याने जीवंत होते हैं...

प्रश्न- यह तो आपने प्रसिद्ध से ही असिद्ध को सिद्ध किया... जैसे कि- पृथ्वीकायमें उपयोग आदि लक्षण व्यक्त नहिं जाने जा शकतें...

उत्तर- आपकी बात सत्य है, किंतु पृथ्वीकायको अव्यक्त तो होते हि हैं... जैसे कि- हृत्-पूरकसे मिश्रित मदिराको अतिशय पीनेसे पीत्तके कारण आकुल-व्याकुल मनवाले पुरुषको अव्यक्त चेतना होती है, ऐसा होने मात्रसे हि वह ज्ञानवाला नहिं है ऐसा नहिं होता... बस इसी प्रकार पृथ्वीकायमें भी अव्यक्त चेतना की संभावना माननी चाहिये...

प्रश्न- पृथ्वीकायमें तो श्वासोच्छ्वास आदि अव्यक्त चेतनावाले होते हैं, यहां मनुष्यकी तरह कोइ ऐसा चेतना का चिह्न दीखइ नहिं देता...

उत्तर- नहिं, ऐसा नहिं है, मनुष्यमें अर्श-मांसांकुरकी तरह यहां पृथ्वीकायमें भी समान जातवाले लता का उद्भेद (प्रकटन) आदि स्वरूप चेतनाके चिह्न पाये जाते हैं... अव्यक्त चेतनावाली वनस्पतिमें जिस प्रकार चेतनाके चिह्न पाये जाते हैं वैसे हि यहां पृथ्वीकायमें भी चेतना-चिह्नका स्वीकार करना चाहिये...

वनस्पतिमें तो विशिष्ट ऋतुओंमें पुष्प, फल उत्पन्न होनेसे स्पष्ट हि चैतन्य पाया जाता है... इसलिये पृथ्वीकायमें अव्यक्त उपयोग लक्षण चैतन्य प्राप्त होनेसे पृथ्वीकाय सचित्त हि है...

प्रश्न- कठिन पुद्गलात्मक चारम-लता आदिमें चेतनत्व कैसे हो शकता है ?

नि. ८५

उत्तर- जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें कठिन ऐसी भी हड्डी सचेतन मानी जाती है, वैसे हि कठिन पृथ्वीकायके शरीरमें भी जीव रहा हुआ है... अब लक्षण द्वारके बाद परिमाण द्वार कहते हैं...

नि. ८६

बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय घनीकृत लोकाकाशके प्रतरके असंख्यातवे भागके प्रदेश राशि प्रमाण है, और शेष (तीन) बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त और सूक्ष्म पर्याप्त यह तीनों पृथ्वीकायकी प्रत्येक राशिकी संख्या असंख्य लोकाकाशके प्रदेश प्रमाण होती है, और निर्दिष्ट क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक अधिक होती है...

कहा भी है कि-

पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय -	सभी से थोडा
अपर्याप्त बादर पृथ्वीकाय -	असंख्यगुण अधिक
अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय -	असंख्यगुण अधिक
पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय -	संख्यातगुण अधिक

अब प्रकारांतरसे पृथ्वीकायकी तीन राशिका प्रमाण कहते हैं...

नि. ८७

जिस प्रकार प्रस्थसे कोइक मनुष्य सभी धान्यको मापे, इसी प्रकार असद्भाव प्रज्ञापनाको स्वीकार करके लोकको कुडवी करके मध्यम अवगाहनावाले पृथ्वीकाय जीवोंकी यदि कोइ स्थापना करता है तब असंख्य लोक पृथ्वीकाय से भरपुर बनेंगे।

और भी प्रकारांतरसे परिमाण कहते हैं...

नि. ८८

लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें यदि पृथ्वीकायकी तीनों राशिमेंसे कोइ एक राशिके जीवोंको एक एक स्थापित करें तब असंख्य लोकमें समाएंगे...

अब कालसे पृथ्वीकाय का प्रमाण बताते हुए क्षेत्र और कालके सूक्ष्म और बादर स्वरूपको कहते हैं...

नि. ८९

समय स्वरूप काल सूक्ष्म है, और क्षेत्र तो कालसे भी अधिक सूक्ष्म है... वह इस प्रकार- एक अंगुल प्रमाण क्षेत्रके आकाश प्रदेशोंको यदि एक एक समयमें एक एक प्रदेशका अपहार (ग्रहण) करें तब असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल पसार हो जाय... इस कारणसे कहते हैं कि- कालसे क्षेत्र सूक्ष्मतर है...

अब कालसे पृथ्वीकायका परिमाण कहते हैं...

नि. १०

पृथ्वीकायमें प्रति समय जीवोंका १. प्रवेश और २. निर्गमन... विवक्षित समयमें पृथ्वीकाय जीवोंकी संख्या ३. और पृथ्वीकाय जीवोंकी स्वकाय स्थिति... ४. इन चार विकल्पोंको कालके माध्यम से कहते हैं... वे इस प्रकार- प्रति समय असंख्य लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्या प्रमाण असंख्य पृथ्वीकाय जीव प्रति समय उत्पन्न होते हैं और मरते है... पृथ्वीकाय स्वरूप पाये हुए जीव भी असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है, और स्वकाय स्थिति याने पृथ्वीकाय जीव मरकर पुनः पुनः पृथ्वीकायमें असंख्य लोकाकाशके प्रदेश संख्या प्रमाण उत्पन्न होते हैं...

इस प्रकार क्षेत्र और कालसे पृथ्वीकायका परिमाण कहकर उनकी अवगाहना कहते हुए कहते हैं कि-

नि. ११

बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय जिस आकाश प्रदेशमें रहे हुए है उसी आकाश प्रदेशमें अन्य बादर पृथ्वीकायके शरीर भी रहे हुए है... शेष अपर्याप्त पृथ्वीकायके जीवों, पर्याप्त पृथ्वीकायको आश्रय करके पूर्वोक्त प्रक्रियासे वहीं पर्याप्त जीवके साथ रहे हुए हैं... और सूक्ष्म जीवों तो संपूर्ण लोकाकाशमें रहे हुए हैं...

अब उपभोग द्वार कहते हैं...

नि. १२/१३

पृथ्वीकायका उपभोग निम्न प्रकारसे मनुष्य करता है... जैसे कि- चलना, खडे रहना, बैठना, सोना, कृतक-पुतला (पुतक) करण, मल विसर्जन, मूत्र विसर्जन, वस्त्र-पात्रादिको रखना, लेप, शस्त्र, आभूषण, खरीदना-बेचना, कृषी-कर्म (खेती), पात्र-बर्त्तन बनाना इत्यादि प्रकार... जब ऐसा है तो अब क्या ? अतः कहते हैं कि-

नि. १४

यह पूर्वकी गाथामें कहे गये कारणोंसे पृथ्वीकाय जीवोंकी हिंसा करते हैं और साता (सुख) के लिये दूसरे जीवोंको दुःख देते हैं...

इन चलना-घूमना इत्यादि कारणोंसे पृथ्वीकायकी हिंसा करते हैं, और थोडे दिनके सुंदर भोगसुखोंकी आशामें इंद्रियोंके विकारोंसे परवश चित्तवाले लोग, पृथ्वीकायको दुःख देतें है... और पृथ्वीकायके आश्रित जीवोंकी अशाता स्वरूप दुःखोंकी उदीरणा करते हैं... इससे

यह कहना चाहतें हैं कि- भूमिके दानमें भी शुभफलकी प्राप्ति लोकव्यवहारमें मान्य है किंतु लोकोत्तर व्यवहारमें तो स्पष्ट हि पृथ्वीकायकी विराधना हि है...

अब शस्त्र द्वार कहते हैं... शस्त्रके दो प्रकार है

१. द्रव्य शस्त्र २. भावशस्त्र...

द्रव्यशस्त्र के भी दो भेद है...

१. समास द्रव्यशस्त्र २. विभाग द्रव्य शस्त्र...

अब समास द्रव्य-शस्त्र का स्वरूप कहतें है...

नि. ९५

हल, कुलिक, विष (जहर) कुद्दाली, आलित्रक, मृगशृंग, काष्ठ, अग्नि, मल-विष्टा, मूत्र, यह सभी समास (संक्षेप) से द्रव्य शस्त्र है...

नि. ९६

अब विभाग द्रव्य शस्त्रका स्वरूप कहते है...

स्वकायशस्त्र	-	पृथ्वीकाय का	पृथ्वीकाय शस्त्र-
परकायशस्त्र	-	पृथ्वीकाय का	जल, अग्नि आदि...
उभयकाय शस्त्र	-	पृथ्वीकाय का	पृथ्वी-जल मिश्रित शस्त्र...
		पृथ्वीकाय का	पृथ्वी-अग्नि मिश्रित शस्त्र...
		पृथ्वीकाय का	पृथ्वी-वायु मिश्रित शस्त्र...
		पृथ्वीकाय का	पृथ्वी-वनस्पति मिश्रित शस्त्र...
		पृथ्वीकाय का	पृथ्वी-त्रसकाय मिश्रित शस्त्र...

यह सभी द्रव्य शस्त्र है...

अब भाव-शस्त्र कहते हैं...

दुष्ट (अशुभ) मन-वचन तथा काया स्वरूप असंयम हि भाव शस्त्र है...

अब वेदना द्वार कहते हैं...

नि. ९७

जिस प्रकार मनुष्यके शरीरके पाउं-हाथ आदिके एक अंग या प्रत्यंगके छेदन-भेदनादिसे जीवको दुःख होता है, उसी हि प्रकार पृथ्वीकाय-जीवोंको भी वेदना-पीडा होती है... जो कि- पृथ्वीकाय जीवोंको मनुष्यकी तरह हाथ-पाउं, मस्तक, गरदन, पेट, पीठ, आंख, कान

आदि अंगोपांग नहिं होते हैं, तो भी उनको अंगोपांगादिके छेदन-भेदन स्वरूप वेदना-पीडा तो होती हि है... यही बात स्पष्ट समझाते हुए कहते हैं...

नि. ९८

पृथ्वीकायको मनुष्यकी तरह अंगोपांग नहिं है, फिर भी छेदन-भेदनादि स्वरूप वेदना तो होती हि है... पृथ्वीकायका आरंभ करनेवाला मनुष्य कितनेक पृथ्वीकायको दुःख देता है, और कितनेक पृथ्वीकायके प्राणोका नाश (वध) करता है... भगवती सूत्रमें दृष्टांत कहा है कि- कोइक चक्रवर्तीकी सुगंधीचूर्ण पीसनेवाली बलवती यौवना स्त्री आंवला प्रमाण पृथ्वीकायके गोले (पिंड) को इक्किस बार गंधपट्टकके उपर पत्थरसे पीसे (घीसे) तब कितनेक पृथ्वीकायसे संघट्टन हुआ, कितनेक को परिताप (पीडा) हुइ और कितनेक मर गये... जब कि बाकी के जीवोंको उस पत्थरने स्पर्श भी नहिं कीया है...

अब वध द्वार कहते हैं...

नि. ९९

इस जगतमें कीतनेक कुमतवाले साधुके वेष (कपडे) को पहनकर कहते हैं कि- हम साधु हैं... किंतु वे निर्दोष क्रिया स्वरूप साधु-जीवन नहिं जीते हैं... वे इस प्रकार- रात-दिन पृथ्वीकाय जीवोंको पीडा दायक "हाथ-पाउं गुदा इत्यादि धोना" इत्यादि क्रियांओके द्वारा रात-दिन पृथ्वीकाय जीवोंको पीडा-दुःख देतें है... कि जो शुद्धि अन्य प्रकारसे भी हो शकती है... इस प्रकार साधु-गुणसे शून्य वे लोग सच्चे साधुपनेको धारण नहिं करतें... गाथाके इस पूर्वार्धसे प्रतिज्ञा कही है, अब उत्तरार्धसे हेतु कहते हैं... जैसे कि- अपने को साधु माननेवाले कुमतवाले वे लोग साधु योग्य जीवन नहिं जीते किंतु पृथ्वीकायकी हिंसा करते हैं... जो जो लोग पृथ्वीकायकी हिंसा करते हैं वे साधु नहिं है किंतु गृहस्थ हि है... अब दृष्टांत के साथ निगमन करते हैं...

नि. १००

"हम साधु हैं" ऐसा बोलनेवाले पृथ्वीकायकी हिंसा करते हैं, अतः वे गृहस्थके समान हि है... "पृथ्वी सजीव है" ऐसा ज्ञान न होने के कारणसे पृथ्वीकायकी विराधना करनेवाले दोषयुक्त हि है, फिर भी हम दोष रहित हैं ऐसे मानते हुए अपने दोषको **नहि देख पाते... और** मलीन हृदयवाले अपनी कुमतिकी चतुराइसे निर्दोष अनुष्ठान स्वरूप **विरति-चारित्रधर्मकी** निंदा करनेके कारणसे अतिशय मलीन बनते हैं... इस प्रकार सच्चे साधुओंकी निंदा करनेसे वे अनंत संसारमें परिभ्रमण करनेवाले होते हैं...

यह दो गाथा सूत्रके अर्थको हि कहती है फिर भी वध द्वार के प्रसंगमें निर्युक्तिकारने कही है... अतः इन दो गाथाकी व्याख्या करनी जरूरी है, अतः यहां लिखी गइ है... यह सूत्र आगे क्रमांक पंद्रह (१५) में है...

अब इस पृथ्वीकायका वध, करण करावण और अनुमोदनके द्वारा होता है... वह बात अब कहते हैं...

नि. १०१

कितनेक लोग स्वयं पृथ्वीकायका वध करते हैं, कितनेक लोग अन्यके द्वारा पृथ्वीकायका वध करवाते हैं, और कितनेक लोग पृथ्वीकायके वधकी अनुमोदना करते हैं...

अब जो लोग पृथ्वीकायका वध करते हैं वे लोग पृथ्वीकायके आश्रित अन्य जल-अग्नि आदि जीवों का भी वध करते हैं... यह बात अब बताते हैं...

नि. १०२

जो लोग पृथ्वीकाय जीवोंका वध करते है वे पृथ्वीकायके आश्रित जल-अग्नि-वायु-वनस्पति-बेइंद्रिय तेइंद्रिय चउरिंद्रेय-पचेंद्रिय जीवोंका भी वध करते हैं... वे इस प्रकार... जैसे कि- उदुंबर-वड-पीपलेके फलको खानेवाला मनुष्य उन फलोंमें रहे हुए त्रस (चलते फिरते) जीवोंका भी वध करता है... तथा सकारण या निष्कारण अथवा तो जान बुझकर या अनजानसे पृथ्वीकाय जीवोंका वध करनेवाला मनुष्य स्पष्ट दीखाइ देनेवाले मेंढक आदि तथा स्पष्ट नहिं दीखाइ देनेवाले पनक (लील-फुल-निगोद) आदि जीवों का भी वध करता है...

इसी बातको स्पष्ट रूपसे कहते हैं...

नि. १०३

पृथ्वीकायका वध करनेवाला मनुष्य पृथ्वीकायके आश्रित अन्य बहोत सारे जीवोंका भी वध करता है... वे जीव सूक्ष्म होते है, बादर भी होते हैं... तथा पर्याप्त और अपर्याप्त भी होते हैं... यहां सूक्ष्म जीवोंका वध मन-वचन-कायासे असंभव है फिर भी आत्माके अशुभ अध्यवसाय-परिणामके कारणसे विरतिके अभावमें उनकी हिंसा-वध होता है... ऐसा सर्वज्ञ प्रभुजी कहते हैं...

अब विरति द्वार कहते हैं...

नि. १०४/१०५

इस प्रकार पृथ्वीकाय जीवोंको पहचानकर और उनके वध तथा कर्मबंधको जानकर

जो साधु-लोग मन-वचन एवं काया यह तीन गुप्तिसे गुप्त होकर तथा ईर्यासमिति आदि पांच समितिओंसे युक्त होकर पृथ्वीकायका वध स्वयं नहिं करते, नहि करवातें और अनुमोदन भी नहिं करतें वे हि सच्चे साधु हैं... वे साधु लोग सावधानीसे उठना-बैठना-सोना-आना-जाना इत्यादि क्रियाएं करतें हैं... इस प्रकार जिनकी क्रियाएं सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे युक्त होती हैं वे हि अनगार-साधु है... किंतु पृथ्वीकायका वध करनेवाले शाक्य आदि मतवाले साधु सच्चे साधु नहिं हैं...

नाम निष्पन्न निक्षेप पूर्ण हुआ... अब सूत्रके अनुगममें अस्खलित पदोंका उच्चारण करना चाहिये और वह सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १४ ॥

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए, तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति ॥ १४ ॥

II संस्कृत-छाया :

आर्तः लोकः परिद्यूनः (परिजीर्णः) दुस्संबोधः अविज्ञायकः अस्मिन् लोके प्रव्यथिते तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति ।

III शब्दार्थ :

अट्टे–आर्त-पीड़ित । **परिजुण्णे**–प्रशस्त ज्ञानादि से हीन । **दुस्संबोहे**–कठिनता से बोध प्राप्त करने वाले । **अविजाणए**–विशिष्ट बोध रहित । **पव्वहिए**–विशेष पीड़ित । **अस्सिं लोए**–इस पृथ्वीकाय लोक में । **तत्थ-तत्थ**–खनन आदि उन-उन । **पुढो**–भिन्न २ कारणों के उत्पन्न होने पर । **परितावेंति**–पृथ्वीकाय के जीवों को परिताप देते हैं । **पास**–हे शिष्य ! तू देख ।

IV सूत्रार्थ :

आर्त्त परिद्युन दुःसंबोध और अविज्ञात ऐसे यह जीव इस लोकमें बहुत हि व्यथित हैं, हे शिष्य ! देखो उन उन स्थानोमें (विषयोंसे) आतुर लोग (पृथ्वीकाय जीवोंको) दुःख देतें है... ॥ १४ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां पूर्वके सूत्रमें कहा कि- मुनि परिज्ञातकर्मा होता है... और जो मुनि अपरिज्ञातकर्मा होता है वह भवार्त्त याने संसारसे पीडित होता है... एवं यह बात सूत्र नं. १ से संबंधित है, अतः पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने शिष्य जंबूस्वामीजी को कहते हैं कि- श्री वर्धमान स्वामीजीके मुखसे मैंने जो सुना है, वह मैं तुम्हे कहता हुं...

पहले अध्ययनका पहला उद्देशक कहनेके बाद अब दुसरा उद्देशक कहते हैं...

अट्टे याने आर्त्त पदके नामादि चार निक्षेप होते हैं उनमें नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम है... अब ज्ञ शरीर - भव्य शरीर और तद्व्यतिरिक्त नो आगमसे द्रव्य आर्त्त - बैलगाडी आदिके चक्रोंके उद्धके मूलमें लोहेका पट्ट होता है वह द्रव्य आर्त्त-

अब भाव आर्त्त - वह दो प्रकार से-

१. आगमसे... २. नो आगमसे...

१. आगमसे भावआर्त्त- ज्ञाता और उपयुक्त- आर्त्त पदके अर्थको जाननेवाला और उपयोगी...

२. नो आगमसे भाव आर्त्त- औदयिक के इक्कीस (२१) भाववाले, राग-द्वेषवाले, प्रिय वियोगादि आर्त्त ध्यानके दुःखवाले मनुष्य-जीव भावार्त्त कहलाता है... अथवा विष (जहर) जैसे शब्द आदि विषयोंमें आकांक्षा-इच्छा होनेसे हित एवं अहितके विचारसे शून्य मनवाला मनुष्य-जीव भावार्त्त है... और वह आठों कर्मोंका बंध करता है... आगम सूत्रमें कहा भी है कि- हे भगवन् ! श्रोत्रेंद्रिय के अधीन (परवश) जीव क्या बांधता है ? हे गौतम ! शिथिल बंधी हुइ आठों कर्मोंकी प्रकृतिओंको दृढ बंधनवाली करता है, यावत् अनादि अनंत स्थितिवाले इस चार गतिवाले संसार-वनमें दीर्घ (लंबे) काल तक परिभ्रमण करता रहता है... इस प्रकार स्पर्शेंद्रिय आदिमें भी समझ लीजीयेगा... और इसी हि प्रकार क्रोध-मान-माया-लोभ तथा दर्शन मोहनीय, चारित्र-मोहनीय आदिसे संसारी जीव भावार्त्त हि है... कहा भी है कि- राग-द्वेष और कषाय तथा पांच इंद्रियां एवं दो प्रकारके मोहनीय कर्मसे संसारी जीव आर्त्त (पीडित) हैं...

अथवा तो शुभ और अशुभ ऐसे ज्ञानावरणीयादि आठों प्रकारके कर्मोंसे संपूर्ण लोक याने एकेंद्रियादि सकल जीवराशि आर्त्त है-पीडित है... लोक पदके नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव एवं पर्याय यह आठ निक्षेप कहकर अप्रशस्त भाव-उदयवाले लोक (जीवों) का यहां अधिकार है...

जितने भी जीव पीडित हैं वे सभी क्षीण एवं तुच्छ-असार हैं क्योंकि- ये सभी जीव मोक्षके साधन स्वरूप रत्नत्रयीसे हीन है याने औपशमिक आदि शुभ भावसे हीन है... वह परिघून=क्षीणता के दो प्रकार है... १. द्रव्य परिघून २. भाव परिघून. उनमें भी द्रव्य परिघून के दो प्रकार है... १. सचित्त द्रव्य परिघून २. अचित्त द्रव्य परिघून...

१. सचित परिघून... जीर्ण शरीरवाला स्थविर = वृद्ध... अथवा जीर्ण वृक्ष...

२. अचित्त परिघून... जीर्ण वस्त्र... मकान इत्यादि...

भाव परिद्यून... ज्ञानावरणीयादि कर्मोके उदयसे प्रशस्त ज्ञानादि गुणोसे विकल=हीन... यह विकलता अनंतगुण परिहाणीसे अनेक प्रकारसे है... वे इस प्रकार- पंचेंद्रिय जीव से चौरिंद्रिय जीव ज्ञानसे विकल = हीन है, चउरिंद्रियसे तेइंद्रिय जीव, तेइंद्रियसे बेइंद्रिय जीव, बेइंद्रियसे एकेंद्रिय जीव ज्ञान-विकल है, और एकेंद्रियमें भी अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद जीव उत्पत्तिके प्रथम समयमें सभी जीवोंसे अति अल्प ज्ञानगुणवाले होते हैं...

कहा भी है कि- सर्वज्ञ तीर्थंकर श्री महावीर प्रभुजीने केवलज्ञानके प्रकाशमें देखा है कि- सभी संसारी जीवोंमें सभी से अल्प ज्ञानोपयोग सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद (वनस्पति) जीवोंको होता है... उनसे क्रमशः अधिक अधिक ज्ञानकी वृद्धि, लब्धि निमित्तक करण स्वरूप शरीर इंद्रियां वाणी एवं मनोयोग वाले जीवोंको होती है...

अब प्रशस्तज्ञानद्युन जीव विषय-कषायोंसे पीडित हुआ किस प्रकारका होता है वह कहते हैं... मेतारज मुनि की तरह वह जीव बडी मुश्केलीसे धर्माचरणका स्वीकार करता है... अथवा तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह कोइ भी उपायसे समझाया जा नहिं शकता... क्योंकि- ऐसा जीव विशिष्ट ज्ञान-बोध से हीन होता है...

ऐसा जीव क्या करता है ? वह कहते हैं... सभी आरंभ समारंभका आश्रय-आधार पृथ्वी है, अतः कृषि = खेत-वाडीको खोदना तथा घर बनानेके लिये भूमीका खनन कार्य आदि भिन्न भिन्न प्रकारसे पृथ्वीकाय जीवोंको पीडा पहुंचाता है... हे शिष्य ! देखो ! इस जगतमें विषय एवं कषायोंसे व्याकुल जीव, पृथ्वीकायको अनेक प्रकारसे दुःख देते हैं...

कोइक जीव विषय-कषायसे पीडित हैं... कोइक जीव वृद्धावस्थासे पीडित है... कोइक जीव बहुत कठीनाइसे समझता है... कोइक जीव समझाने पर भी नहि समझता है...

अज्ञानी लोग, विषय-कषाय एवं वृद्धावस्थाके कारणसे अनेक प्रकारसे पृथ्वीकाय जीवोंको संताप देते हैं... पीडा पहुंचाते हैं... यावत् उनका वध करतें हैं...

प्रश्न- एक देवता (जीव) विशेष स्वरूप पृथ्वी है ऐसा मान शकतें हैं किंतु असंख्य जीवोंका पिंड-समूह स्वरूप पृथ्वी कैसे माना जाय ? इस प्रश्नका उत्तर, अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र का पिछले सूत्र के साथ क्या संबन्ध है, यह हम द्वितीय उद्देशक की भूमिका में स्पष्ट कर चूके हैं । वह इस प्रकार- प्रथम उद्देशक में सामान्य रूप से आत्मा के अस्तित्व का तथा आत्मा का लोक, कर्म और क्रिया के साथ किस तरह का संबन्ध है और यह आत्मा संसार में क्यों परिभ्रमण करती है, इस बात को समझाया गया है । कर्मबन्धन की कारणभूत

क्रिया एवं उससे प्राप्त होने वाले दुःखों का वर्णन करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो साधक परिज्ञातकर्मा होता है अर्थात् ज्ञ परिज्ञा (ज्ञान) के द्वारा कर्म बन्ध एवं संसार परिभ्रमण के कारण को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा (आचरण) के द्वारा उनका परित्याग करता है, वही मुनि है । क्योंकि मुनि पद को वही पा सकता है, जो संसार परिभ्रमण एवं कर्म बन्ध की कारणभूत क्रियाओं से विरक्त हो जाता है और इस विरक्ति के लिए पहले ज्ञान का होना जरूरी है । अतः ज्ञान और आचार से युक्त साधक ही मुनि होता है । जो व्यक्ति क्रियाओं के स्वरूप का बोध भी नहीं करता है और न उन्हें त्यागने का प्रयत्न करता है वह मुनि नहीं बन सकता और न कर्म बन्ध से मुक्त ही हो सकता है । क्रिया में आसक्त व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध करता रहता है और परिणाम स्वरूप पृथ्व्यादि छः काय रूप योनियों में परिभ्रमण करता फिरता है । इस लिए यह आवश्यक हैं कि पृथ्व्यादि योनियों के स्वरूप को भी समझ लिया जाए, जिससे साधक उनकी हिंसा एवं पाप कर्म के बन्ध से सहज ही बच सके... इत्यादि ।

अब इस उद्देशक का पिछले उद्देशक के साथ परंपरागत संबन्ध भी है। वह इस प्रकार है- आचारांग सूत्र के आरंभ में कहा गया है कि इस संसार में किन्ही जीवों को संज्ञा-ज्ञान या सम्यग् बोध नहीं होता । क्यों नहीं होता ? इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। "अट्टे लोए...." इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि- **आर्त** याने आर्त शब्द का सामान्य अर्थ पीड़ित होता है या बाह्य दुःखों एवं आपत्तियों से आवेष्टित व्यक्ति को भी आर्त कहते हैं । परन्तु यहां राग-द्वेष एवं कषायों से आवृत, विषय-वासना के दलदल में फंसे हुए व्यक्ति को, प्राणी को आर्त कहा है । क्योंकि- विषय-सुख एवं राग-द्वेष के वशीभूत हुआ जीव, अपने हिताहित को भूल जाता है और नानाविध पाप कार्यों में प्रवृत्त होकर कर्मों का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप जन्म-जरा और मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता हुआ दुःख एवं पीड़ा का संवेदन करता है । इस लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषय-विकार तथा दर्शन मोह और चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त समस्त संसारी जीव आर्त कहे जाते हैं । क्योंकि- वे इन दुष्कर्मों से युक्त होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं, रात-दिन जन्म-मरण के जाल में उलझे रहते हैं ।

लोक याने लोक क्या है ? एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक की समस्त जाति, चार गति एवं ८४ लाख योनिवाले जीवों के समूह को लोक कहते हैं ।

परिद्यून याने जो जीव औपशमिक आदि प्रशस्त परिणामों से रहित हैं और मोक्ष मार्ग में सहायक साधनों से दूर हैं, उन अज्ञानी जीवों को "परिजुण्णे-परिद्यून" शब्द से अभिव्यक्त किया है। परिद्यून के भी द्रव्य और भाव दो भेद किए गए हैं । द्रव्य परिद्यून के सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार हैं । जीर्ण-शीर्ण शरीर या परिजीर्ण वृक्ष को सचित्त परिद्यून और

पुराने वस्त्र आदि को अचित्त परिघून कहा है । और औदयिक भाव से युक्त प्राणी में प्रशस्त ज्ञान याने सम्यग्ज्ञान के अभाव को भाव परिघून कहा है ।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा उपयोग लक्षण वाला है । उसमें ज्ञान का कभी भी सर्वथा लोप नहीं होता । अतः प्रस्तुत प्रकरण में जो ज्ञान का अभाव कहा गया है, वह प्रशस्त सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए, न कि ज्ञान मात्र की अपेक्षा से । क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों में ज्ञान का अस्तित्व रहता ही है । यह बात अलग है कि कुछ जीवों में उसका अपकर्ष दिखाई देता है, तो कुछ में उत्कर्ष। क्योंकि ज्ञान का विकास क्षयोपशम पर आधारित है । ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा आत्मा में उतना ही ज्ञान का उत्कर्ष दिखाई देगा । और ज्ञानावरणीय कर्म जितना अधिक उदयभाव में होगा उतना ही अधिक ज्ञान का अपकर्ष परिलक्षित होगा । इसलिए भाव परिघून शब्द के अर्थ में जो प्रशस्त ज्ञान का अभाव बताया गया हैं, वह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए ।

ज्ञान का सब से अधिक उत्कर्ष मनुष्य जीवन में परिलक्षित होता है और अधिक अपकर्ष एकेन्द्रिय जीवों में और उसमें भी सूक्ष्म निगोद के जीवों में दिखाई देता है । यों कहना चाहिए कि यहीं से ज्ञान का क्रमिक विकास होता है । जब आत्मा सूक्ष्म से बादर एकेन्द्रिय में आता है, तो उसके ज्ञान में कुछ उत्कर्ष होने लगता है । इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में और पञ्चेन्द्रिय में भी संज्ञी-असंज्ञी, पशु-पक्षी आदि की अनेक योनियों में परिभ्रमण करता हुआ आत्मा जब मनुष्य जीवन में पहुंचता है, तो उसके ज्ञान का अच्छा विकास हो जाता है । **मनुष्य** जीवन का केन्द्र बिन्दु है । शेष योनियों में विकास का क्रम रहा हुआ है, परन्तु पूर्ण विकास का अवसर मनुष्य के अतिरिक्त किसी योनि में भी नहीं है । यहां तक कि देव भी पूर्ण विकास करने में सर्वथा असमर्थ हैं । **मनुष्य** ज्ञान के चरम उत्कर्ष को भी छू सकता है और अपकर्ष की चरम सीमा पर भी जा पहुंचता है । वह उत्कर्ष और अपकर्ष के मध्य में खड़ा है । उसके एक और उदयाचल है, तो दूसरी और अस्ताचल । जब मानव उत्कर्ष की और गतिशील होता है तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर सिद्धत्व को पा लेता है और जब पतन की और लुढ़कने लगता है, तो ठेठ निगोद में और उसमें भी सूक्ष्म निगोद में जा पहुंचता है और अनन्त काल तक अज्ञान अंधकार में भटकता फिरता है, विकास, उत्कर्ष के अमूल्य अवसर को हाथ से खो देता है । अस्तु प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त परिघून शब्द औदयिक भावों की अधिकता की अपेक्षा से व्यवहृत हुआ है ।

''दुस्संबोध'' पद विषय-कषाय एवं मोह से युक्त तथा प्रशस्त ज्ञान से शून्य व्यक्तियों की अवस्था का परिसूचक है । 'दुस्संबोध' शब्द का सीधा सा अर्थ है- जिस व्यक्ति को धर्म मार्ग में या सत्कार्य में लगाना दुष्कर है अथवा जिसे प्रतिबोधित न किया जा सके । प्रश्न किया

जा सकता है कि आर्त्त को दुस्संबोध कहने का क्या अभिप्राय है ? वह सरलता से क्यों नहीं समझता ? इसका समाधान करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में "आवियाणाए–अविज्ञातकः" पद का प्रयोग किया है । "आवियाणाए" का अर्थ है– विशिष्ट बोध या ज्ञान से रहित और यह हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि व्यावहारिक बोध से रहित मूर्ख किसी भी बात को जल्दी नहीं समझता। क्योंकि जिसमें बोध नहीं है, विवेक नहीं है, वह अपने हठ को छोड़कर जल्दी से सन्मार्ग पर नहीं आ सकता । टेढ़े लोहे को आग में तपाकर सीधा-सरल बनाया जा सकता है, क्योंकि उसमें लचक है, नम्रता है । परन्तु टेढ़े-मेढ़े ठूंठ-लकड़ी के खम्भे को सीधा बनाना दुष्कर ही नहीं, अति दुष्कर है । यही स्थिति विशिष्ट बोध-ज्ञान एवं विवेक से विकल जीवों की है, इसलिए उन्हें दुर्बोधि जीव कहा है ।

इस तरह संसार में परिभ्रमणशील जीव आरंभ-समारंभ का आश्रयीभूत होने से संत्रस्त है, व्यथित है, आर्त है । इस आर्त्तता के कारण से हि जिसमें **मनुष्य** विषय-कषाय एवं भौतिक सुखों के वशीभूत होकर कृषि, कूप, गृहनिर्माण, एवं खान-पान आदि के लिए पृथ्वीकाय के जीवों को संताप एवं पीड़ा पहुंचाते हैं तथा उनकी हिंसा करते हैं । यों कहना चाहिए कि कर्मजन्य आवरण की विभिन्नता के कारण संसार में अनेक प्रकार के जीव होते हैं– कुछ विषय-कषाय से पीड़ित होते हैं, कुछ शरीर से जीर्ण होते हैं, कुछ प्रशस्त ज्ञान से रहित या विवेक-विकल होते हैं, अतः दुर्बोधि या विशिष्ट बोध से रहित होते हैं, और वे सभी अज्ञ लोग, अपने भौतिक सुख प्राप्ति के लिए अनेक साधनों को जुटाने में पृथ्वीकायिक आदि जीवों का संहार करते हैं । इसलिए **आर्य सुधर्मा स्वामी** अपने प्रिय शिष्य **जम्बू** से कहते हैं कि– "हे शिष्य ! इन अज्ञ जीवों की दुबोर्धता को देख-समझ ।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इन आर्त एवं अज्ञ जीवों की विवेक विकलता एवं दूसरे प्राणियों को संताप देने की बुरी भावना एवं सदोष कार्य पद्धति को देख-समझ कर, तुम सभी **साधुजन** ! पृथ्वीकाय के जीवों की रक्षा करो...

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया कि आर्त एवं दुर्बुद्धि युक्त जीव अपने विषयसुख के लिए पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं । इससे मन में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि- पृथ्वीकाय जीव कितने हैं अर्थात् एक है, या अनेक ? इसी बात का समाधान, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १५ ॥

संति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूव-रूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ १५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः, लज्जमानाः पृथक् पश्य अनगारा स्मः इति एके प्रवदमानाः यत् इदम् विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवी कर्म-समारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति ॥ १५ ॥

III शब्दार्थ :

पाणा-पाणी । **पुढो**-पृथक् रूप से । **सिया**-पृथ्वी के आश्रित हैं । **लज्जमाणा**-संयमानुष्ठान-परायण पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा से विरत । **पुढो**-प्रत्यक्ष-ज्ञानी-अवधि, मनःपर्यव या केवल ज्ञान से युक्त तथा परोक्ष ज्ञानी-मति और श्रुत ज्ञान से युक्त । **पास**-तू देख । **एगे**-कोई एक । **अणगारामो त्ति**-हम अणगार हैं इस प्रकार । **पवयमाणा**-बोलते हुए । **ज़मिणं**-इस पृथ्वीकाय को । **विरूवरूवेहिं**-अनेक तरह के **सत्थेहिं**-शस्त्रों के द्वारा। **पुढवि-कम्म-समारंभेण**-पृथ्वीकाय-संबन्धी आरम्भ-समारम्भ करने से । **पुढविसत्थं**-पृथ्वीकाय के शस्त्र का । **समारम्भेमाणा**-प्रयोग करते हुए । **अण्णे अणेग रूवे**-उस पृथ्वीकाय के आश्रित अन्य अनेक तरह के । **पाणे**-प्राणियों की । **विहिंसइ**-हिंसा करता है ।

IV सूत्रार्थ :

पृथ्वीकाय जीव भिन्न भिन्न शरीरवाले कर्मोके बंधनमें बंधे हुए हैं... हे शिष्य ! देखो इन ज्ञानी संयमीओंको... और जो शाक्य आदि मतवाले कहते हैं कि- हम साधु हैं किंतु वे हि विरूप प्रकारके शस्त्रोंसे पृथ्वीकायकर्मसमारंभके द्वारा पृथ्वीकायमें शस्त्रका समारंभ करते हुए अनेक प्रकारके जीवोंकी हिंसा करतें है ॥ १५ ॥

V टीका-अनुवाद :

पृथ्वीकाय जीव एक शरीरमें एक जीव होते हैं, अतः वे प्रत्येक कहलातें हैं... उनका देह = शरीर अंगुलके असंख्यातवे भाग प्रमाण बहुत हि छोटा सा है, अनेक (असंख्य) जीवोंका शरीर इक्कठ्ठा होने पर हि दिखाइ देते हैं... सचेतन ऐसी यह पृथ्वी अनेक पृथ्वीकाय जीवोंका पिंड है...

ऐसे पृथ्वीकायके स्वरूपको जाननेवाले लज्जाशील संयमी साधु पृथ्वीकायके वधके कारणभूत आरंभ-समारंभसे निवृत्त होकर सत्तरह (१७) भेदवाले संयमानुष्ठानमें तत्पर होते हैं...

लज्जा के दो प्रकार है... १. लौकिक लज्जा २. लोकोत्तर लज्जा.

१. लौकिक लज्जा - पुत्रवधुको श्वसुरकी लज्जा...
सुभट-सैनिक को संग्राम-युद्धकी लज्जा...

लोकोत्तर लज्जा - सत्तरह (१७) प्रकारका संयम...

लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य यह सभी एकार्थक पर्यायवाची शब्द हैं...

अथवा तो पृथ्वीकाय जीवोंको वध-पीडा हो ऐसे आरंभ-समारंभका त्याग करनेवाले साधु दो प्रकारके होते हैं... १. प्रत्यक्षज्ञानी २. परोक्षज्ञानी...

ऐसा कहकर गुरुदेव शिष्यको कहते हैं कि- देखो, यह **संयमी (मनुष्य) जैन-साधुलोग** पृथ्वी-कायका वध नहिं करते हैं... और जो शाक्य आदि कुतीर्थिक है वे बोलते हैं कुछ और करतें है कुछ... याने कहतें हैं कि- हम अणगार- साधु हैं, हम जीव-जंतुओंके रक्षणमें तत्पर हैं, हमारा कषाय तथा अज्ञान स्वरूप अंधकार नष्ट हुआ है इत्यादि प्रतिज्ञा को उद्घोषित करते हैं किन्तु उनकी दैनिक जीवन चर्यामें देखें तब दिखेगा कि- (क्षणे क्षणे) पृथ्वीकाय आदि जीवोंका वध- (पीडा) होता हि रहता है... जैसे कि- चौसठ (६४) प्रकारकी मिट्टीसे स्नान करनेवाले शुचिवादी मनुष्य, हम अत्यंतशुचिः = पवित्र हैं ऐसा कहते हैं... किंतु गाय (पशु) के मृत-कलेवरको अपवित्र कहकर त्याग करके चाकर-किंकर द्वारा उन पशुओंके चमडे हड्डी मांस स्नायु आदिका अपने उपयोगके लिये संग्रह करवाते है... इस प्रकार पवित्रताके अभिमानको धारण करनेवाले उन्होंने अपवित्र पशुओंके कलेवरकी कौनसी चीजका त्याग किया ? इसी प्रकार यह शाक्य आदि मतवाले साधुलोग भी ऐसे हि साधु नामको धारण करते हैं किंतु साधु-गुणोमें नहिं रहते... और गृहस्थ जनोंके कार्य-क्रियाओंका त्याग नहिं करतें... किंतु भिन्न भिन्न प्रकारके हल, कुद्दाली, कोश, त्रिकम आदि शस्त्रोंसे पृथ्वीकाय जीवोंका वध करते हैं...

इस प्रकार विविध शस्त्रोंके द्वारा पृथ्वीकायका आरंभ-समारंभ स्वरूप वध करनेवाले लोग पृथ्वी-कायके आश्रित ऐसे जल-वनस्पति आदि जीवोंकी भी हिंसा करते हैं...

इस प्रकार पृथ्वीकाय जीवोंके वैरी-दुश्मन ऐसे शाक्य आदिओंका असाधुपना कहकर अब विषयसुखोंकी अभिलाषासे मन-वचन-कायासे करण करावण एवं अनुमोदन स्वरूप उन लोगोंमें हो रही हिंसाका स्वरूप कहते हैं...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- पृथ्वीकाय प्रत्येक शरीरी है । और वे असंख्यात हैं, और उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना छोटा है । वे सभी जीव पृथ्वीकाय देह स्वरूप हैं । यह पृथ्वी, असंख्यात जीवों का पिण्ड है । इससे पृथ्वीकाय जीवों की चेतनता और असंख्य जीवों का पिंड, यह दोनों बातें सिद्ध हो जाती है ।

इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से युक्त संयमशील अनगार-मुनिजन पृथ्वीकायिक जीवों के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होकर उनकी रक्षा में संलग्न होकर संयम का परिपालन करते हैं । परन्तु, इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो अपने आप को अनगार-साधु;

मुनि कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं और उसके साथ-साथ पृथ्वी के आश्रित रहे हुए वनस्पति आदि अन्य जीवों का घात करते हैं । इस तरह सूत्रकार ने कुशल और अकुशल या निर्दोष और सदोष अनुष्ठान का प्रतिपादन किया है । जिन साधकों के जीवन में सद्ज्ञान है और क्रिया में विवेक एवं यतना है, उनकी साधना कुशल है, स्वयं के लिए तथा जगत के समस्त प्राणिओं के लिए हितकर है, सुखकर है । परन्तु अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया अकुशल अनुष्ठान है; भले ही उससे कर्त्ता को क्षणिक सुख एवं आनन्द की अनुभूति हो जाए, पर वास्तव में वह सावद्य अनुष्ठान स्वयं के जीवन के लिए तथा प्राणी जगत् के लिए भयावह है ।

प्रस्तुत सूत्र के आधार पर मानव जीवन को दो भागों में बांटा जा सकता है-१- त्याग प्रधान-निवृत्तिमय जीवन और २-भोग प्रधान-प्रवृत्तिमय जीवन । साधारणतः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों ही कुछ अंश में पाई जाती हैं । त्याग प्रधान जीवन में मनुष्य दुष्कर्मो से निवृत्त होता है और सत्कर्म में प्रवृत्त भी होता है । यों कहना चाहिए कि- असंयम से निवृत्त होकर संयम मार्ग में प्रवृत्ति करता है; और जीवन में भोग-विलास को प्रधानता देने वाला व्यक्ति रात-दिन वासना में निमज्जित रहता है, पाप कार्यों एवं दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहता है और सत्कार्यों से दूर रहता है । तो प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय दोनों प्रकार के जीवन में परिलक्षित होता है और यह भी स्पष्ट है कि त्यागप्रधान-निवृत्तिमय जीवन भी प्रवृत्ति के बिना गतिशील नहीं रह सकता, जब तक आत्मा के साथ मन, वचन और काय-शरीर के योगों का संबन्ध जुड़ा हुआ है, तब तक सर्वथा प्रवृत्ति छूट,भी नहीं सकती । फिर भी त्याग-निष्ठ और भोगासक्त जीवन में बहुत अन्तर है दोनों की निवृत्ति-प्रवृत्ति में एकरूपता नहीं है ।

निवृत्तिपरक जीवन में निवृत्ति और त्याग की ही प्रधानता है- सावद्य प्रवृत्ति को तो उसमें ज़रा भी अवकाश नहीं है, जो योगों की अनिवार्य प्रवृत्ति होती है उसमें भी विवेकचक्षु सदा खुले रहते हैं, उनकी प्रत्येक क्रिया संयम को परिपुष्ट करने तथा निर्वाण के निकट पहुंचने के लिए होती है, अतः उनकी प्रवृत्ति में प्रत्येक प्राणि, भूत, जीव और सत्त्व की सुरक्षा का पूरा २ ध्यान रहता है । वे महापुरुष त्रिकरण और त्रियोग से किसी भी जीव को पीड़ा एवं कष्ट पहुंचाना नहीं चाहते । दूसरी बात यह है कि उनकी हार्दिक भावना समस्त क्रियाओं से निवृत्त होने की रहती है । जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं एवं साध्य को सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रवृत्ति करनी होती है । इस लिए वे सदा-सर्वदा इस बात का ख्याल रखते हैं कि- जीवन में कोइ अयतना स्वरूप प्रमादाचरण न हो, अतः उनका खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, बोलना आदि सब कार्य विवेक, यतना एवं मर्यादा के साथ होते हैं । इस से यह स्पष्ट हो गया कि साधक के जीवन में प्रवृत्ति होती है, परन्तु जीवन में उसका गौण स्थान

माना गया है, आवश्यक कार्य में ही प्रवृत्ति करने का आदेश है और वह भी विवेक एवं यतना के साथ करने की आज्ञा है और अन्ततः उसका भी सर्वथा त्याग करने की बात कही है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि निश्चय दृष्टि से प्रवृत्ति को त्याज्य माना है । इसलिए साधक अवस्था में अनिवार्यता के कारण संयम मार्ग में निर्दोष प्रवृत्तिं को स्थान होते हुए भी उसके त्याग का लक्ष्य होने के कारण त्याग-प्रधान जीवन को निवृत्ति परक जीवन ही कहा जाता है । क्योंकि जैन दर्शन का मूल लक्ष्य समस्त कर्मों एवं क्रियाओं से निवृत्त होता है । अतः निवृत्ति के चरम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सहायक भूत निर्दोष प्रवृत्ति करने वाला साधक ही वास्तव में अनगार है, मुनि है और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा से पूरी तरह बचकर रहने का प्रयत्न करता है ।

भोग प्रधान जीवन में निवृत्ति को विशेष स्थान नहीं है । क्योंकि वहां जीवन का मूल्य भोग-विलास मान लिया गया है । और मूल्य निर्धारण के अनुरूप ही जीवन को ढ़ाला गया है । या ढ़ाला जा रहा है । यों कहना चाहिए कि जीवन में भोग-विलास एवं ऐश्वर्य को प्रधानता देने वाले व्यक्ति रात-दिन विषय-वासना एवं कषायों में निमग्न रहते हैं । उनका प्रत्येक क्षण, भौतिक साधनों को संगृहित करने तथा अपने भोग सुखों को पाने के लिए नई-नई पद्धति-योजनाएं बनाने में बीतता है । और येन-केन प्रकारेण वे भोग-सामग्री को, भौतिक-सुख-साधनों को बटोरने में संलग्न रहते हैं । और उसके लिए छल-कपट, असत्य, हिंसा आदि सभी दुष्कर्म करने में वे ज़रा भी संकोच नहीं करते । इस तरह रात-दिन सावद्य कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं । इस कारण पृथ्वीकाय ही क्या अन्य एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय ही नहीं, किन्तु पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी, उनेके भोग सुख की आग में स्वाहा हो जाते हैं । इस तरह वे दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो कर स्वयं तथा प्राणीजगत के लिए भयावह बन जाते हैं ।

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो अपने आपको **साधु-संन्यासी** कहते हैं और वे सर्व प्राणी जगत की रक्षा करना अपना मुख्य कर्तव्य बताते हैं । परन्तु उनका जीवन उनके कथन की विपरीत दिशा में गतिमान होता है । वे भी गृहस्थों की तरह पृथ्वी खनन आदि कार्यों में सक्रिय रूप से भाग ले कर पृथ्वीकाय तथा उसके आश्रित अन्य अनेक जीवों की हिंसा करते हैं । अतः उन्हें भी संसार की प्रवृत्ति में प्रवहमान बताया गया है ।

निष्कर्ष यह निकला कि त्याग प्रधान-निवृत्तिमय जीवन मोक्ष का प्रतीक है, उस से किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता है, तथा भोग प्रधान या प्रवृत्तिमय जो जीवन है, वह संसार परिभ्रमण का कारण है । क्योंकि- सावद्य प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियों की हिंसा होती है, उस से पाप कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप वह आत्मा संसार प्रवाह में प्रवहमान रहता है । निवृत्ति और प्रवृत्ति प्रधान जीवन में रहे हुए अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'पश्य' शब्द का प्रयोग किया है । इसलिए मुमुक्षु को दोनों तरह के जीवन

के स्वरूप को भली-भांति देख-समझकर पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा से बचना चाहिए, विरत होना चाहिए।

"लज्जमाणा-लज्जमानाः" शब्द का अर्थ है- लज्जा का अनुभव करना या लज्जित होना । हम देखते हैं कि कई व्यक्ति लोक लज्जा के कारण कई बार दुष्कर्मों से भी बच जाते हैं । लज्जा भी जीवन का एक विशेष गुण है । इसके कारण **मनुष्य** दुर्भावना के प्रवाह से बचता है, एवं पाप कार्य से भी बच जाता है । इसीलिए तो विद्वानों ने कहा है कि- लज्जा, आत्मगुणों की जननी (मां) है...

"लज्जागुणौघ-जननी ।"

अर्थात् लज्जा याने संयम मार्ग में प्रवृत्त रहनेवाला साधु, आत्मगुणों को प्रगट करता है, अतः सतरह (१७) प्रकार का जो संयम बताया गया है, उसकी गणना लोकोत्तर लज्जा में की गई है ।

'अनगार' शब्द का अर्थ है-मुनि, साधु । अगार घर को कहते हैं, अतः जिसके पास अपना घर नहीं है अथवा जिसका अपना कोई नियत निवास स्थान नहीं है, उन्हें अनगार कहते हैं । या यों भी कह सकते हैं कि साधु का कोई नियत स्थान या घर नहीं होता, इसलिए वह अनगार कहलाता है...

इस प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि- पृथ्वीकाय में असंख्यात जीव हैं और पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा में प्रवृत्तमान अन्य मत के साधुओं में साधुत्व का अभाव है । अब जो लोग, भौतिक सुख की अभिलाषा से मन, वचन, काय से सावद्य प्रवृत्ति करते, कराते और करने वाले का समर्थन करते हैं । वह अच्छा नहि है, क्यों कि- भौतिक सुख वास्तवमें सुख नहि है, किन्तु मृगजल की तरह सुखाभास हि है... यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रमें कहेंगे..

I सूत्र ॥ 3 ॥ ॥ १६ ॥

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइ-मरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ ॥ १६ ॥

II संस्कृत-छाया :

तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन, मानन, पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतु सः स्वयमेव पृथिवीशस्त्रं समारभते, अन्यैश्च पृथिवी

शस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवी शस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते ॥ १६ ॥

III शब्दार्थ :

खलु-यह शब्द वाक्यालंकारार्थ में है । **तत्थ**-पृथ्वीकाय के समारम्भ में। **भगवया**-भगवान ने । **परिण्णा**-परिज्ञा का । **पवेइया**-उपदेश दिया है । **चैव**-निश्चय ही । **इमस्स**-इस । **जीवियस्स**-जीवन के लिए । **जाइ-मरण-मोयणाए**-जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए और । **दुक्खपडिघायहेउं**-दुःखों के नाश के लिए । **से**-वह सुख की इच्छा करने वाला । **सयमेव**-स्वयं ही । **पुढविसत्थं**-पृथ्वी काय का घात करने वाले शस्त्र का । **समारम्भई**-समारम्भ करता है । **वा**-अथवा । **अण्णेहिं**-अन्य के द्वारा । **पुढविसत्थं**-पृथ्वी की हिंसा करने वाले शस्त्र से । **समारंभेइ**-समारंभ कराता है । **वा**-अथवा । **अण्णे**-अन्य । **पुढविसत्थं**-पृथ्वी का समारम्भ करने वाले शस्त्र से । **समारंभते**-समारम्भ या प्रयोग करने वाले को । **समणुजाणइ**-अच्छा जानता है, उसका समर्थन करता है ।

IV सूत्रार्थ :

वहां निश्चित हि भगवंतने परिज्ञा कही है... कि- इस जीवितका वंदन मानन एवं पूजनके लिये तथा जन्म मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोंका नाश करनेके लिये वे लोग स्वयं हि पृथ्वी-शस्त्रका प्रयोग करते हैं, अन्यके द्वारा पृथ्वी-शस्त्रके प्रयोगको करवाते हैं, और जो लोग स्वयं हि पृथ्वी-शस्त्रका प्रयोग करते हैं उनकी अनुमोदना करते हैं ॥ १६ ॥

V टीका-अनुवाद :

पृथ्वीकायके वध स्वरूप समारंभके विषयमें श्री वर्धमान स्वामीजी यह परिज्ञा कहते हैं कि- इस तुच्छ जीवित के वंदन सन्मान एवं पूजनके लिये तथा जन्म-मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये यह **शाक्य** आदि मतवाले साधु विषयसुखके लालचु हैं, और दुःखोंसे डरतें हैं, अतः स्वयं (खुद) पृथ्वीका आरंभ-समारंभ-वध करतें हैं, अन्य जीवोंसे पृथ्वीकायका वध करवातें हें तथा पृथ्वीकायका वध करनेवालोंका अनुमोदन करतें हैं... जिस प्रकार वर्त्तमान कालमें, उसी हि प्रकार भूतकालके और भविष्यत्कालमें भी... और मन-वचन तथा कायासें इस प्रकार 3 × 3 × 3 = २७ प्रकारसे पृथ्वीकायका वध करनेवालोंका क्या होता है वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगेके सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

मनुष्य भौतिक जीवन को सुखमय-आनन्दमय बनाने के लिए कई प्रकार के पापकार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता । वह अपने जीवन को सुखद एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के लिए पृथ्वीकाय आदि छः काय के जीवों की या यों कहिए कि- सभी जाति के जीवों की हिंसा करता

है । अपने भोगसुख के लिए वह दूसरे प्राणियों का शोषण करता है, उन्हें पीड़ित-उत्पीड़ित करता है, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करता है । स्वयं उनकी हिंसा करता है, दूसरे व्यक्ति को आदेश देकर उक्त जीवों की हिंसा कराता है और उक्त जीवों की हिंसा करने वाले हिंसक का अनुमोदन समर्थन करता है ।

इसलिए भगवान महावीर ने पृथ्वीकाय के समारंभ में **परिज्ञा** याने **विवेक** यतना करने का उपदेश दिया है । साधक को यह बताया गया है कि वह ज्ञ परिज्ञा से पृथ्वीकाय के स्वरूप को भली-भांति समझे । उसमें भी मेरे जैसी असंख्यात प्रदेशी ज्ञानमय आत्मा है । उसे भी मेरी तरह सुख-दुःख का संवेदन होता है । आदि बातों का बोध करे और उसके चेतनामय स्वरूप को जानकर उसकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग करे । मन, वचन, काय के योगों से पृथ्वीकाय की हिंसा न करे अर्थात् विवेक के साथ संयम साधना में प्रवृत्ति करे । इस साधना से जो लब्धि-शक्ति प्राप्त हो उसका उपयोग भौतिक सुख-साधनों को प्राप्त करने में न करे । यदि वह ऐहिक सुखों एवं भोगों को प्राप्त करने में उस शक्ति लब्धि का प्रयोग करता है, तो वह साधना मार्ग से लौटकर संसार में परिभ्रमण करता है । अतः साधक को साधना से प्राप्त लब्धि का उपयोग, भौतिक सुखों को प्राप्त करने में नहीं लगाना चाहिए ।

पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में व्यस्त रहने वाले जीवों को जो दुःख फल की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख, **सूत्रकार महर्षि** अब आगे के सूत्र से करेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १७ ॥

तं से अहिआए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढवि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, से बेमि-

१	**अप्पेगे अंधमब्भे**	**अप्पेगे अंधमच्छे**
२	**अप्पेगे पायमब्भे**	**अप्पेगे पायमच्छे**
३	**अप्पेगे गुप्फमब्भे**	**अप्पेगे गुप्फमच्छे**
४	**अप्पेगे जंघमब्भे**	**अप्पेगे जंघमच्छे**
५	**अप्पेगे जाणुमब्भे**	**अप्पेगे जाणुमच्छे**
६	**अप्पेगे उरुमब्भे**	**अप्पेगे उरुमच्छे**
७	**अप्पेगे कडिमब्भे**	**अप्पेगे कडिमच्छे**
८	**अप्पेगे नाभिमब्भे**	**अप्पेगे नाभिमच्छे**

९	अप्पेगे उदरमब्भे	अप्पेगे उदरमच्छे
१०	अप्पेगे पासमब्भे	अप्पेगे पासमच्छे
११	अप्पेगे पिट्ठमब्भे	अप्पेगे पिट्ठमच्छे
१२	अप्पेगे उरमब्भे	अप्पेगे उरमच्छे
१३	अप्पेगे हिययमब्भे	अप्पेगे हिययमच्छे
१४	अप्पेगे थणमब्भे	अप्पेगे थणमच्छे
१५	अप्पेगे खंधमब्भे	अप्पेगे खंधमच्छे
१६	अप्पेगे बाहुमब्भे	अप्पेगे बाहुमच्छे
१७	अप्पेगे हत्थमब्भे	अप्पेगे हत्थमच्छे
१८	अप्पेगे अंगुलिमब्भे	अप्पेगे अंगुलिमच्छे
१९	अप्पेगे नहमब्भे	अप्पेगे नहमच्छे
२०	अप्पेगे गीवमब्भे	अप्पेगे गीवमच्छे
२१	अप्पेगे हणुमब्भे	अप्पेगे हणुमच्छे
२२	अप्पेगे होट्ठमब्भे	अप्पेगे होट्ठमच्छे
२३	अप्पेगे दंतमब्भे	अप्पेगे दंतमच्छे
२४	अप्पेगे जिब्भमब्भे	अप्पेगे जिब्भमच्छे
२५	अप्पेगे तालुमब्भे	अप्पेगे तालुमच्छे
२६	अप्पेगे गलमब्भे	अप्पेगे गलमच्छे
२७	अप्पेगे गंडमब्भे	अप्पेगे गंडमच्छे
२८	अप्पेगे कण्णमब्भे	अप्पेगे कण्णमच्छे
२९	अप्पेगे नासमब्भे	अप्पेगे नासमच्छे
३०	अप्पेगे अच्छिमब्भे	अप्पेगे अच्छिमच्छे
३१	अप्पेगे भमुहमब्भे	अप्पेगे भमुहमच्छे
३२	अप्पेगे निडालमब्भे	अप्पेगे निडालमच्छे
३३	अप्पेगे सीसमब्भे	अप्पेगे सीसमच्छे

अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए

इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति ॥ १७ ॥

II संस्कृत-छाया :

तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः तं संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा खलु भगवतोऽनगाराणां इह एकेषां ज्ञातं भवित-एष खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्येवमर्थम् गृद्धः लोकः, यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्म

समारंभेण, पृथिवीशस्त्रं समारभमानः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति' अथ ब्रवीमि- १ अप्येकः अन्धमाभिन्द्यात्, अप्येकः अन्धमाछिन्द्यात्, २ अप्येकः पादमाभिन्द्यात्, अप्येकः पादमाछिन्द्यात्, 3 अप्येकः गुल्फमाभिन्द्यात्, अप्येकः गुल्फमाछिन्द्यात्, ४ अप्येकः जंघामाभिन्द्यात्, अप्येकः जंघामाछिन्द्यात्, ५ अप्येकः जानुमाभिन्द्यात्, अप्येकः जानुमाछिन्द्यात्, ६ अप्येकः उरुमाभिन्द्यात्, अप्येकः उरुमाछिन्द्यात्, ७ अप्येकः कटिमाभिन्द्यात्, अप्येकः कटिमाछिन्द्यात्, ८ अप्येकः नाभिमाभिन्द्यात्, अप्येकः नाभिमाछिन्द्यात्, ९ अप्येकः उदरमाभिन्द्यात्, अप्येकः उदरमाछिन्द्यात्, १० अप्येकः पार्श्वमाभिन्द्यात्, अप्येकः पार्श्वमाछिन्द्यात्, ११ अप्येकः पृष्ठमाभिन्द्यात्, अप्येकः पृष्ठमाछिन्द्यात्, १२ अप्येकः उर आभिन्द्यात्, अप्येकः उर आछिन्द्यात्, १3 अप्येकः हृदयमाभि न्द्यात्, अप्येकः हृदयमाछिन्द्यात्, १४ अप्येकः स्तनमाभिन्द्यात्, अप्येकः स्तनमाछिन्द्यात्, १५ अप्येकः स्कंधमाभिन्द्यात्, अप्येकः स्कंधमाछिन्द्यात्, १६ अप्येकः बाहुमाभिन्द्यात्, अप्येकः बाहुमाछिन्द्यात्, १७ अप्येकः हस्तमाभिन्द्यात्, अप्येकः हस्तमाछिन्द्यात्, १८ अप्येकः अंगुलिमाभिन्द्यात्, अप्येकः अंगुलिमाछिन्द्यात्, १९ अप्येकः नखमाभिन्द्यात्, अप्येकः नखमाछिन्द्यात्, २० अप्येकः ग्रीवामाभिन्द्यात्, अप्येकः ग्रीवामाछिन्द्यात्, २१ अप्येकः हनुमाभिन्द्यात्, अप्येकः हनुमाछिन्द्यात्, २२ अप्येकः ओष्ठमाभिन्द्यात्, अप्येकः ओष्ठमाछिन्द्यात्, २3 अप्येकः दन्तमाभिन्द्यात्, अप्येकः दन्तमाछिन्द्यात्, २४ अप्येकः जिह्वामाभिन्द्यात्, अप्येकः जिह्वामाछिन्द्यात्, २५ अप्येकः तालुमाभिन्द्यात्, अप्येकः तालुमाछिन्द्यात्, २६ अप्येकः गलमाभिन्द्यात्, अप्येकः गलमाछिन्द्यात्, २७ अप्येकः गण्डमाभिन्द्यात्, अप्येकः गण्डमाछिन्द्यात्, २८ अप्येकः कर्णमाभिन्द्यात्, अप्येकः कर्णमाछिन्द्यात्, २९ अप्येकः नासिकामाभिन्द्यात्, अप्येकः नासिकामाछिन्द्यात्, 30 अप्येकः अक्षि आभिन्द्यात्, अप्येकः अक्षि आछिन्द्यात्, 3१ अप्येकः भ्रुवमाभिन्द्यात्, अप्येकः भ्रुवमाछिन्द्यात्, 3२ अप्येकः ललाटमाभिन्द्यात्, अप्येकः ललाटमाछिन्द्यात्, 33 अप्येकः शिर आभिन्द्यात्, अप्येकः शिर आछिन्द्यात्, अप्येकः संप्रमारयेत्, अप्येकः अपद्रापयेत्, एवं शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरंभाः अपरिज्ञाताः भवंति ॥ १७ ॥

III शब्दार्थ :

तं-वह पृथ्वीकाय का समारंभ । **से**-उस को आगामी काल में । **अहिआए**-अहितकर होता है । **तं**-वह पृथ्वीकाय का समारंभ । **से**-उसको । **अबोहिए**-अबोधिलाभ के लिए होता है । **से**-पृथ्वीकाय के समारंभ को पाप रूप मानने वाला । **तं**-उस पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ को । **संबुज्झमाणे**-अहितकर समझता हुआ । **आयाणीयं**-ग्रहण करने योग्य-सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र में । **समुट्ठाय**-सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर । **सोच्चा**-सुनकर । **खलु**-निश्चय से । **भगवओ**-भगवान के समीप या । **अणगाराणं**-अनगारों के समीप । **इहं**-इस मनुष्य जन्म में । **एगेसिं**-किन्हीं एक प्रबुद्ध साधुओं को । **णातं भवति**-ज्ञात होता है कि। खलु-

निश्चय ही । **एस**–यही पृथ्वीकाय का समारंभ । **गंथे**–अष्ट कर्म बन्ध का कारण है । **एस खलु मोहे**–यह मोह का कारण है । **एस खलु मारे**–यह मृत्यु का कारण है । **एस खलु णरए**–यह नरक का कारण है । **इच्चत्थं**–आहार, आभूषण या प्रशंसा आदि के लिए । **गड्ढिए**–मूर्च्छित। **लोए**–लोक-प्राणी इस पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं । **जं**–जिससे । **इमं**–इस पृथ्वीकाय को । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **पुढवीकाय संमारम्भेण**–पृथ्वी संबंधी शस्त्र का आरम्भ करने से । **पुढविसत्थं**–पृथ्वी शस्त्र का । **समारम्भमाणे**–प्रयोग करते हुए । **अण्णे**–अन्य । **अणेगरूवे**–अनेक तरह के । **पाणे**–प्राणियों की । **विहिंसइ**–हिंसा करता है ।

प्रश्न-एकेन्द्रिय जीव, हिंसा जनित वदना का अनुभव किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर-सेवेमि-हे शिष्य ! इसे मैं बताता हूं । **अप्पेगे**-जैसे कोई पुरुष । **अन्धं**-जन्मांध, मूक, बधिर, पंगु पुरुष को । **अब्भे**-कुन्तादि से भेदन करे । **अप्पेगे**-कोई व्यक्ति । **अन्धमच्छे**-अंध, बधिर, मूक और पंगु व्यक्ति का शस्त्र द्वारा छेदन करे ।

जन्मांध, बधिर और मूक व्यक्ति की अव्यक्त वेदना के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकाय जीवों की वेदना समझाकर अब सूत्रकार एक व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकायिक जीव की वेदना से तुलना करते हैं । जैसे किसी व्यक्ति का, **अप्पेगे**-कोई पुरुष। **पायमब्भे**-पांव का भेदन करे । **पायमच्छे**-पांव का छेदन करे । **गुल्फमब्भे**-गिट्टों का छेदन-भेदन करे । **जंघमब्भे २**-जंघाओं का छेदन-भेदन करे । **जाणूमब्भे २** जानुओं का छेदन-भेदन करे। **उरुमब्भे २**-उरुओं का छेदन-भेदन करे । **कडिमब्भे २**-कटि-कमर का छेदन-भेदन करे। **णाभिमब्भे २**-नाभि का छेदन-भेदन करे । **उदरमब्भे २**-उदर-पेट का छेदन-भेदन करे । **पासमब्भे**-पार्श्व का छेदन-भेदन करे । **पिट्ठमब्भे २**-पृष्ट भाग-पीठ का छेदन-भेदन करे । **उरुमब्भे** २-छाती का छेदन-भेदन करे । **हिययमब्भे २**-हृदय का छेदन-भेदन करे । **थणमब्भे २**-स्तनों का छेदन-भेदन करे । **खंधमब्भ**-स्कंध का छेदन-भेदन करे । **बाहुमब्भे २**-भुजाओं का छेदन-भेदन करे । **हत्थमब्भे २**-हाथों का छेदन-भेदन करे । **अंगुलिमब्भे** २-अंगुलियों का छेदन-भेदन करे । **णहमब्भे २**-नखों का छेदन-भेदन करे । **गीवमब्भे २**-ग्रीवा-गर्दन का छेदन-भेदन करे । **हणुमब्भे २**-ठोडी का छेदन-भेदन करे । **ओठमब्भे २**-ओष्ठों का छेदन-भेदन करे । **दंतमब्भे २**-दांतो का छेदन-भेदन करे । **जिब्भमब्भे २**-जिह्वा का छेदन-भेदन करे। **तालुमब्भे २**-तालु का छेदन-भेदन करे । **गलमब्भे २**-गले का छेदन-भेदन करे । **गंडमब्भे २**-गंडस्थल-कपोल का छेदन-भेदन करे । **कण्णमब्भे २**-कान का छेदन-भेदन करे । **णासमब्भे २**-नासिका का छेदन-भेदन करे । **अच्छिमब्भे २**-आंखो का छेदन-भेदन करे । **ममुहमब्भे २**-भ्रकुटियों का छेदन-भेदन करे । **सीसमब्भे २**-मस्तिक का छेदन-भेदन करे ।

जैसे इस व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति को इन कारणों से स्पष्ट वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को भी वेदना होती है, परन्तु वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते ।

पृथ्वीकाय के जीवों को जो वेदना होती है, उसे और स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार अब तीसरा उदाहरण देते हैं-**अप्पेगे**-कोई पुरुष किसी व्यक्ति को इतना मारे कि- । **संपमारए**-मूर्छित कर दे । **अप्पेगे**-कोई व्यक्ति किसी को मार-मार कर । **उद्दवए**-उसे-प्राणों से पृथक् कर दे ।

जैसे इन प्राणियों को मूर्छित होने एवं मरने के पूर्व जो अव्यक्त वेदना होती है, वैसी ही अव्यक्त वेदना पृथ्वीकाय के जीवों को होती है । परन्तु अज्ञानी जीव इस रहस्य को नहीं जानतें, इसलिए वे रात-दिन हिंसा में प्रवृत्ति करते हैं । इसी बात को सूत्रकार अपनी भाषा में कहते हैं- **इत्थं**-इस पृथ्वीकाय में । **सत्थं समारम्भमाणस्स**-शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को । **इच्चेते**-इस प्रकार के । **आरम्भा**-आरंभ खनन कृषि आदि सावद्य व्यापार में। **अपरिण्णाता**-अपरिज्ञात । **भवंति**-होते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

पृथ्वीकायका समारंभ उस हिंसक जीवके अहितके लिये होता है, अबोधिके लिये होता है... जो साधु यह अच्छी तरहसे समझता है वह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयका स्वीकार करके तीर्थंकर और साधुओंके मुखसे सुनकर यह जानते है कि- यह पृथ्वीकायका समारंभ मोह है, मार है, नरक है, फिर भी आहारादिमें आसक्त लोग विरूप प्रकारके शस्त्रोंसे पृथ्वीकायकर्मकि समारंभसे पृथ्वीशस्त्रका प्रयोग करनेवाले वे लोग अन्य अनेक प्रकारके जीवोंकी हिंसा करते हैं... हे शिष्य ! अब जो मैं कहता हु वह सुनो... कोइक **जीव**, १ अंधेको भेदे = मारे, कोइक छेदे, २ कोइक पाउंको भेदे और छेदे, 3 कोइक गुल्फको भेदे और छेदे, कोइक जंधाको भेदे और छेदे, ४ कोइक जानुको भेदे और छेदे, ५ कोइक उरु (साथल) को भेदे और छेदे, ७ केडको भेदे और छेदे, ८ नाभिको भेदे और छेदे, इसी प्रकार ९ उदर, १० पडखे, ११ पीठ, १२ छाती, १3 हृदय, १४ स्तन, १५ खभे, १६ भुजा, १७ हाथ, १८ अंगुलीयां, १९ नख, २० गरदन, २१ दाढी, २२ होठ, २3 दांत, २४ जीभ, २५ तालु, २६ गाल, २७ गंडस्थल २८ कान, २९ नाक, 30 आंखें, 3१ भ्रुकुटी, 3२ ललाट, एवं 33 मस्तकको कोइक मनुष्य भेदे और छेदे, यावत् कोइक **मनुष्य** मूर्च्छित करे एवं कोइक प्राणनाश स्वरूप मरण प्राप्त करावे...

इस प्रकार पृथ्वीकाय-शस्त्रका प्रयोग करनेवाले अज्ञानी जीवने, यह सभी आरंभ-समारंभ अच्छी तरहसे जाने-समझे नहिं है... ॥ १७ ॥

V टीका-अनुवाद :

पृथ्वीकायका आरंभ-समारंभ स्वरूप वध करनेवाले करानेवाले एवं अनुमोदन करनेवाले उस अज्ञानी जीवको भविष्यत्कालमें अहित होता है यावत् अबोधि याने जिन-शासनकी प्राप्ति दुर्लभ होती है... क्योंकि- पृथ्वीकाय आदि जीवोंकी पीडामें प्रवृत्ति करनेवाले जीवोंको भविष्यत्कालमें थोडा भी हित दायक शुभ योग प्राप्त नहिं होता है... यह सूत्रका सार है...

जो साधु परमात्मासे या उनके साधुओंसे पाप स्वरूप पृथ्वीकायके आरंभ-समारंभ को जानकर ऐसा समझता है कि- "यह पृथ्वीकाय सचेतन-सजीव है, अतः उनका वध अहित कारक है" ऐसा अच्छी तरहसे जानता हुआ वह साधु ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको अच्छी तरहसे स्वीकार करके विचरतें है...

साक्षात् परमात्माके मुखसे या तो उनके साधुओंसे सुनकर यह तत्त्व जानते हैं कि- पृथ्वीकाय-जीवोंका वध निश्चित हि कारणमें कार्यका उपचार करने स्वरूप आठ प्रकारके कर्मबन्ध स्वरूप गांठ है... इसी हि प्रकार यह पृथ्वीकायका वध मोहका कारण होने से मोह हि है याने आठ प्रकारके कर्ममें से अठ्ठाइस (२८) भेदवाला दर्शनमोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय कर्म है... इसी हि प्रकार यह पृथ्वीकाय का समारंभ मरणका कारण है अतः आयुष्यकर्मकि क्षय स्वरूप मार है... इसी हि प्रकार यह पृथ्वीकायका वध सीमंतकं आदि नरक भूमिमें उत्पन्न होनेका कारण है अतः नरक हि है... यह पृथ्वीकायका वध नरकका कारण है, ऐसा कहनेसे असाता-वेदनीय कर्मका निर्देश कीया है...

प्रश्न- एक जीवका वध करनेमें आठ कर्मोंका बंध कैसे हो शकता है ?

उत्तर- मारनेवाले जीवका ज्ञान अवरुद्ध (विनष्ट) होनेके कारणसे वह हिंसक प्राणी, ज्ञानावरणीय कर्मका बंध करता है.. यावत् अंतराय कर्म याने आठों कर्मोका बंध करता है...

इसके अलावा और भी वे जिनमत के साधु यह भी जानते हैं... कि- आहार, आभूषण आदि उपकरणके लिये तथा वंदन, सन्मान एवं पूजनके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये आरंभमें आसक्त तथा मोहसे मूर्च्छित ऐसे यह संसारी जीव (मनुष्य) अज्ञानतासे नरक एवं तिर्यंच गतिके दुरंत दुःख देनेवाले पृथ्वीकायका आरंभ-समारंभ स्वरूप वध करतें हैं... वे शाक्य आदि साधु-लोग इस प्रकार... विविध प्रकारके शस्त्रोंसे पृथ्वीकायकी हिंसा करतें हैं... अपने मन-वचन-कायासे अथवा हल, कुद्दाली आदि पृथ्वीकाय स्वरूप स्वकाय शस्त्रसे पृथ्वीकाय का वध करनेवाले प्राणी (मनुष्य) अन्य भी अनेक प्रकारके बेइंद्रियादि जीवोंका भी भिन्न भिन्न-प्रकारसे वध करते हैं...

यहां प्रश्न यह होगा कि- पृथ्वीकाय जीवोंको आंखें न होनेके कारणसे देखतें नहिं हैं... कान न होने के कारणसे सुनते नहिं है... नासिका (नाक) न होनेके कारणसे सुंघते नहिं है... पाउं (पग) न होनेके कारणसे चलते नहिं है... तो फिर उनको वेदना-पीडा होती है, ऐसा कैसे जान शकतें ?

इस प्रश्नके उत्तरमें अच्छी तरहसे समझाते हुए दृष्टांत कहते हैं कि- हे शिष्य ! तुमने जो पुच्छा कि- पृथ्वीकायको वेदना-पीडा किस प्रकारसे होती है ? तो सुना ! जैसे कि- कोइ जन्मसे हि अंधा, बहेरा, मुंगा, कोढिया, पांगडा (लंगडा) अर्थात् जिसके हाथ-पाउं आदि अंगोपांग स्पष्ट नहिं बने ऐसे मृगापुत्र की तरह पूर्व जन्ममें कीये हुए अशुभकर्मोके उदयसे हितकी प्राप्ति एवं अहितका परिहार (त्याग) के विषयमें शून्य मनवाला तथा अतिशय करुण दशाको पाये हुऐ उस अज्ञानी मूढ एवं अंध आदि स्वरूपवाले जीवको कोइक मनुष्य (जीव) तीक्ष्ण भाले (शस्त्र) से भेदे (मारे) और अन्य कोइक मनुष्य उसे छेदे (दो टुकडा करे) तब वह छेदन-भेदनकी अवस्थामें, न तो देखता है, न तो सुनता है, और मुंगा होनेसे न तो चिल्लाता (रोता) है, तो क्या ऐसी अवस्थामें उसको वेदना-पीडाका अभाव हो शकता है ? अथवा तो क्या उसमें जीवत्वका अभाव मान शकते हैं ? कभी नहिं... इसी प्रकार पृथ्वीकाय जीव भी अव्यक्त चेतनावाले जन्मसे हि अंधे बहेरे मुंगे पांगले आदि स्वरूपवाले पुरुषकी तरह समझीएगा...

अथवा तो स्पष्ट (व्यक्त) चेतनावाले पंचेंद्रिय जीवका कोइक मनुष्य पाउंको भेदे या छेदे, इसी हि प्रकारे शरीरके अंगोपांग जैसे कि- गुल्फ, जंघा, जानु (ढींचण) उरु (साथळ) कटी (केड) नाभि, उदर (पेट) पडखे (पार्श्व) पीठ, छाती, हृदय, स्तन, खभा, बाहु (भूजा) हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा (गरदन) दाढी, ओष्ठ (होठ) दांत, जिह्वा (जीभ) तालु, गला, गाल, कान, नाक, आंख, भ्रूकुटी, ललाट (कपाल) मस्तक इत्यादि अंगोपांग-अवयवोंको कोइक मनुष्य भेदे या छेदे तब उस जीवोको वेदना-पीडा देखी जा शकती है, इसी हि प्रकार अति उत्कट (उग्र) मोह एवं अज्ञानवाले तथा थीणद्धी निद्रा के कारणसे अव्यक्त चेतनावाले उस पृथ्वीकायके जीवको भी वेदना-पीडा होती है...

यहां पर और भी एक दृष्टांत कहते हैं कि- जैसे कि- कोइक मनुष्य किसी अन्य मनुष्यको मूर्च्छित करके उसे मार डाले, इस स्थितिमें उस मनुष्यको वेदना-पीडा हुइ ऐसा स्पष्ट तो दिखता हि नहिं है किंतु उसे अव्यक्त वेदना तो होती हि है... इसी प्रकार पृथ्वीकाय जीवोंको भी वेदना-पीडा होती हि है ऐसा समझना चाहिये...

पृथ्वीकायमें जीवकी सिद्धि करके और विविध शस्त्रसे उन्हे वेदना-पीडा होती है ऐसा कहकर अब उन पृथ्वीकायके वधसे कर्मबंध होता है यह बात अब आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बलाया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा में अनुरक्त रहता है, संलग्न रहता है; उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता । अर्थात् वह **हिंसा** भविष्य में उसके लिए अहितकार होती है और वह बोध को प्राप्त नहीं कर पाता, इस लिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवों में चेतनता है और वे भी सुख-दुःख का संवेदन करते हैं ।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है । उस की सजीवता की अनुभूति भी होती है । हम देखते हैं पहाड़ एवं खदान में रहा हुआ पत्थर बढ़ता रहता है और खदान से निकालने के बाद एवं बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर बढ़ता नहीं है । खदान एवं पहाड़ों पर चट्टानों से संबद्ध पत्थर में होने वाली अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है । क्योंकि सजीव अवस्था में ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है । पृथ्वी के शरीर में अभिवृद्धि होती है, उसके आकार प्रकार एवं बनावट में अन्तर आता रहता है । इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते हैं वे सुख-दुःख का संवेदन भी करते हैं । पृथ्वी सजीव है। इसलिए उसमें स्थित जीव सुख-दुःख का संवेदन करते हैं । इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र में तीन उदाहरण देकर समझाया है । जैसे-किसी जन्म से अंधे, बहिरे, गूंगे और पंगु व्यक्ति का, कोई व्यक्ति किसी शस्त्र से छेदन-भेदन करता है, तो उक्त व्यक्ति उस वेदना को व्यक्त नहीं कर सकता । परन्तु उसका संवेदन अवश्य करता है । इसी तरह पृथ्वीकाय के जीव भी शस्त्र प्रयोग से होने वाली वेदना को अव्यक्त रूप से संवेदन करते हैं। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है, जैसे-किसी व्यक्ति के हाथ पैर आदि किसी भी अंगोपांग का छेदन भेदन करने पर तथा किसी व्यक्ति को मार-पीट कर मूर्छित करने के बाद छेदन-भेदन करनेसे जिस तरह उसे वेदना होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से उसमें स्थित जीवों को वेदना एवं पीड़ा की अनुभूति होती है । पृथ्वीकायिक जीवों को किस तरह की वेदना होती है ? **गौतम स्वामी** द्वारा पूछे गए इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि हे गौतम ! एक हृष्ट-पुष्ट युवक किसी जर्जरित शरीर वाले वृद्ध पुरूष के मस्तिष्क पर मुष्ठि का प्रहार करे, तो उस वृद्ध पुरूष को वेदना होती है ? हां भगवन ! उसे महावेदना होती है । उसी तरह पृथ्वीकाय का स्पर्श करने पर उसे भी वेदना होती है । जिस तरह पृथ्वीकाय के जीवों को वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह अपकाय, तेजस्काय,

वायुकाय और वनस्पतिकाय के संबंध में भी जानना चाहिए ।

एकेंद्रिय जीव असंज्ञी हैं, उनको मन होता नहीं । फिर वे सुख-दुःख का संवेदन कैसे करते हैं ? अतः यह कहना कहां तक उचित है ? कि-पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करने पर पृथ्वीकायिक जीवों को वेदना होती है ? इसका समाधान यह है कि-मन के दो भेद माने गए हैं-१-द्रव्य मन और २-भाव मन । असंज्ञी प्राणियों में द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन उन में भी होता है । इस लिए अनेक तरह शस्त्रों से जब पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन किया जाता है, तो उन्हें दुःखानुभूति होती है । उनकी चेतना अव्यक्त होने के कारण वे अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति नहीं कर पाते ।

पृथ्वीकाय की हिंसा से अष्ट कर्म का बन्ध कैसे होता है ? इस का समाधान यह है कि- हिंसक प्राणी में ज्ञानादि का क्षयोपशम भाव से जो थोड़ा विकास है, विषयसुख के कारण वह भी मन्द पड़ जाता है । इसी तरह अन्य कर्मों के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिए । इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि पृथ्वीकाय का आरंभ-समारंभ आठ कर्मों की ग्रंथि रूप है, मोहरूप है मृत्यु रूप है, तथा नरक का कारण है ।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है और अनेक तरह के शस्त्रों के प्रयोग से उसे वेदना होती है और उसकी हिंसा करनेवाले आत्मा को भविष्य में अहित का लाभ होता है तथा बोध की प्राप्ति नहीं होती है । इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से विरत रहना चाहिए । इस बात को समझाते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १८ ॥

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, नेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्म-समारंभा परिण्णाता भवंति, से हु मुणी परिण्णात-कम्मे त्ति बेमि ॥ १८ ॥

II संस्कृत-छाया :

अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति । तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं पृथिवी शस्त्रं समारभेत, नैव अन्यैः शस्त्रं समारम्भयेत्, नैव अन्यान् पृथिवी शस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते पृथिवीकर्म समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि ॥ १८ ॥

III शब्दार्थ :

एत्थ–पृथ्वीकाय में । **सत्थं**–शस्त्र से जो । **असमारंभमाणस्स**–समारम्भ नहीं करते उन को । **इच्चेते**–ये खनन, कृषी आदि । **आरम्भ**–आरम्भ-समारम्भ; **परिणाता**–परिज्ञात होते हैं । **तं परिणाय**–उस पृथ्वीकाय के समारम्भ को कर्म बन्ध का कारण जानकर। **मेहावी**–प्रबुद्ध पुरूष-बुद्धिमान । **नेव**–न तो । **सयं**–स्वयं ही । **पुढविसत्थं समारम्भेजा**–पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ-समारम्भ करे । **णेवण्णेहिं**–न दूसरे व्यक्तियों से । **पुढविसत्थं समारंभावेज्जा**–पृथ्वीकाय का शस्त्र द्वारा आरम्भ करावे । **णेवण्णे**–न अन्य का जो । **पुढविसत्थं समारंभते**–पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ कर रहा हो । **समणुजाणेज्जा**–अनुमोदन-समर्थन करे। **जस्सेते**–जिसको ये । **पुढविकायसमारंभा**–पृथ्वीकायिक जीवों के हिंसाजनक व्यापार । परिण्णाया–परिज्ञात । **भवंति**–होते हैं । **से हु**–वही । **मुणी**–मुनि । **परिणाय कम्मा**–परिज्ञात कर्मा होता है । **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

पृथ्वीकाय जीवोंमें शस्त्रका समारंभ जो नहिं करते उन्होंने यह सभी आरंभ-समारंभ परिज्ञात कीये है... इन आरंभ-समारंभोंको जानकरके मेधावी साधु स्वयं पृथ्वीकायशस्त्रको आरंभे नहिं, अन्योंके द्वारा पृथ्वीशस्त्रको आरंभावे नहिं, और जो लोग स्वयं हि पृथ्वीकाय शस्त्रका आरंभ करते हैं उनकी अनुमोदना न करें, जिन्होंने यह पृथ्वी कर्मसमारंभ परिज्ञात कीये है, वे हि परिज्ञात कर्मा मुनी है ऐसा मैं कहता हुं ॥ १८ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां पृथ्वीकायके विषयमें शस्त्र दो प्रकारसे है...

१. द्रव्यशस्त्र २. भावशस्त्र...

१. द्रव्यशस्त्रके तीन प्रकार है... (१) स्वकाय द्रव्यशस्त्र (२) परकाय द्रव्य शस्त्र (3) उभयकाय द्रव्यशस्त्र...

२. भावशस्त्र- दुष्ट मन, दुष्ट वचन एवं दुष्ट कायाके व्यापार (प्रयोग) स्वरूप असंयम...

इन दोनों प्रकारके शस्त्रसे पृथ्वीकायको खोदना, खेती करना इत्यादि आरंभ-समारंभसे अज्ञानी जीव, कर्मबंध होता है ऐसा नहिं जानता... और इनसे विपरीत याने पृथ्वीकायकी हिंसासे कर्मबंध होता है ऐसा जो जानता है वह परिज्ञात मुनि है...

पृथ्वीकाय जीवोंमें उपर कहे गये दोनों प्रकारके द्रव्य एवं भाव शस्त्रका प्रयोग नहिं करनेवाले मुनि पूर्व कहे गये कर्मबंधको जानता है, ऐसा सूत्रका सार है... ऐसा कहनेसे यहां

सूत्रमें विरति का अधिकार है ऐसा स्पष्ट हुआ...

पृथ्वीकायके वधमें कर्मबंध होता है ऐसा जाननेवाला बुद्धिशाली कुशल साधु स्वयं हि द्रव्य एवं भाव भेदवाले पृथ्वीकायके शस्त्रका आरंभ नहिं करता है, और अन्यके द्वारा भी पृथ्वीकायका वध नहिं करवाता है, तथा जो लोग पृथ्वीकायका वध करतें हैं उनकी अनुमोदना भी नहिं करतें...

इस प्रकार मनसे, वचनसे एवं कायासे तथा भूतकाल, वर्त्तमानकाल और भविष्यत्कालके विषयमें गिनती करने से ३ × ३ = ९ × ३ = २७ प्रकारसे जो पृथ्वीकायका वध नहिं करते वे हि सच्चे साधु हैं, किंतु जो लोग पृथ्वीकाय का वध करते हैं वे साधु नहिं हैं...

अब इस सूत्रका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि- जो मुनिराज पृथ्वीकाय जीवोंको और उनकी वेदनाको जानते हैं वे हि पृथ्वीकायको खोदना, कृषि याने खेतवाडीका कर्म कर्मबंधके कारण है ऐसा जानते हैं, अतः ऐसे हि साधु ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यान परिज्ञासे पृथ्वीकायका वध नहिं करतें...

इस प्रकार जो मुनि दो प्रकारकी परिज्ञासे सावद्य अनुष्ठानको जानते हैं अथवा तो आठ प्रकारके कर्मबंधको जानता है वह हि मुनि परिज्ञातकर्मा है, अन्य शाक्य आदि मतवाले लोग परिज्ञातकर्मा नहिं है... ऐसा हे **जंबू** ! मैं तुम्हे कहता हुं...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य और भाव दोनों तरह के शस्त्रों को लिया गया है । स्वकाय-अपना शरीर, परकाय-दूसरे का शरीर और उभयरूप-स्वपर काय, इन तीनों को द्रव्य शस्त्र में लिया गया है । और असंयम एवं मन, वचन और शरीर के योगों की दुष्परिणति को भाव शस्त्र माना गया है ।

सूत्रकार ने इस सूत्र में इस बात को अभिव्यक्त किया है कि मुमुक्षु पृथ्वीकायिक जीवों पर किए जाने वाले शस्त्र प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है तथा उससे आरंभ-समारंभ करने वाले व्यक्ति को जो कर्मबन्ध होता है, उसे समझे और उस सावद्य क्रिया का परित्याग करे।

प्रस्तुत सूत्र पूरे उद्देशक का सार रूप है । क्योंकि- जब तक साधक को पृथ्वीकाय की सजीवता एवं पृथ्वीकायिक जीवों का आरंभ-समारंभ करने से होने वाले कर्म का परिज्ञान नहीं हो जाता, तब तक वह उसका परित्याग नहीं कर सकता । इसलिए हिंसा से विरत होने का उपदेश देने से पहले विस्तार से पृथ्वीकाय की चेतनता एवं आरंभ-समारंभ से उसे होने वाली वेदना का स्वरूप बताया गया और फिर यह बताया गया कि जो प्रबुद्ध पुरुष उसकी हिंसा का, आरंभ-समारंभ का त्याग करता है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है । इस बात

को हम पहले ही बता चुके हैं कि- ज्ञान का महत्त्व त्याग के साथ है । अतः पहले पृथ्वीकाय के स्वरूप को एवं हिंसा से होने वाले कर्म बन्ध को भली-भांति जाने और जानने के बाद आरंभ-समारंभ का त्याग करें ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि- जो व्यक्ति पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में प्रवृत्तमान हैं, वे अपरिज्ञात कर्मा है । अर्थात् न तो उन्हें पृथ्वीकाय के स्वरूप का ही सम्यक् बोध है और न आरंभ-समारंभ का ही त्याग है । इस लिए वे अनेक तरह के शस्त्रों से पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करके उसे दुःख, कष्ट एवं पीड़ा पहुंचाते हैं और पाप कर्मों का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं । क्योंकि जब वे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते हैं, तो उसके साथ उसके आश्रित अन्य त्रस एवं स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है । ऐसा जानकर प्रबुद्ध पुरूष या मुनि पृथ्वीकाय की न स्वयं हिंसा करे, न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करावे, और हिंसा करने वाले व्यक्ति को अच्छा न समझें । यह प्रस्तुत सूत्र का सार है । यों भी कह सकते हैं कि त्रिकरण और त्रियोग से आरंभ-समारंभ का त्याग करना ही जीवन का, साधना का, संयम का सार है । ऐसा मैं कहता हूं ।

॥ **शस्त्रपरिज्ञायां द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः** ॥

卐 卐 卐

: **प्रशस्ति** :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी**, एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान राजेन्द्र कोष** निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिये **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **"शिवमस्तु सर्वजगतः"**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ३

卐 अप्काय - जल... 卐

पृथ्वीकायका उद्देशक पूर्ण हुआ, अब अप्कायके उद्देशकका आरंभ करतें हैं... यहां पूर्वकि उद्देशकमें पृथ्वीकाय-जीवोंका प्रतिपादन कीया, और उनके वधमें कर्मबंध होता है अतः उनके वधसे विरति करना चाहिये... यह सभी बात हुइ...

अब क्रमानुसार अप्कायके जीवोंकी सिद्धि करके उनके वधमें कर्मोंका बंध तथा उनके वधके विरमणका प्रतिपादन करते हैं...

इस तीसरे उद्देशकके चार अनुयोग द्वार प्रथम कहना चाहिये... नाम निष्पन्न निक्षेपमें अप्कायका उद्देशक है... पृथ्वीकाय जीवोंका स्वरूप जाननेके लिये जो निक्षेप आदि नव द्वार कहे हैं, वे हि नव द्वार यहां अपकायके जीवोंके अधिकारमें समान रूपसे हि बहुत सारी बातें समझ लीजीयेगा... उनमें जहां जहां विशेष बातें हैं, उन्हें निर्युक्तिकार श्री **भद्रबाहुस्वामीजी** कहते हैं...

नि. १०६

पृथ्वीकायके अधिकारमें जो नव द्वार कहे गये है, वे हि नव द्वार यहा अपकायके जीवोंमें भी घटित करना है... किंतु जो विशेष बातें हैं वे यहां कहतें हैं...

१.	विधान =	प्रकार - भेद - प्रभेद...
२.	परिमाण =	संख्या - प्रमाण
3.	उपभोग =	उपयोग के प्रकार
४.	शस्त्र =	वध के कारण
५.	लक्षण =	स्वरूप-लक्षण

अब विधान की प्ररूपणामें अप्काय जीवोंके भेद प्रभेद निर्युक्ति गाथासे कहते हैं...

नि. १०७

अप्कायके जीवोंके मुख्य दो भेद है...

१. सूक्ष्म अप्काय २. बादर अप्काय

सूक्ष्म अप्काय जीव संपूर्ण १४ राजलोकमें है और **बादर अप्काय** लोक के कितनेक भागोमें हैं... अब बादर अप्काय के पांच प्रकार कहते हैं...

नि. १०८

१. शुद्ध जल २. ओस ३. हिम ४. महिका तथा ५. हरितनु...

१. शुद्ध जल... तालाब, समुद्र, नदी, सरोवर और गर्त्ता (खाडे-खाबोचीये) के जल...

२. अवश्याय = ओस = रात्रिमें जो स्निग्धता होती है, वह...

३. हिम = ठंडीके दिनोंमें शीतल पुद्गलोंके संपर्कसे जल जो कठिनताको प्राप्त करतें हैं वह बरफ आदि...

४. महिका - गर्भमास आदिमें सामको अथवा सुबह जो धूमिकापात (धुम्मस) होता है उसे महिका कहते हैं...

५. हरितनु - वर्षा और शरत् कालमें वनस्पति (हरित) के अंकुर पे रहे हुए जलबिंदु, कि- जो भूमि- स्नेहके संपर्कसे उत्पन्न हुए होते हैं...

इस प्रकार बादर अप्काय जीवोंके पांच प्रकार स्वरूपके साथ बताये...

अब पन्नवणा (प्रज्ञापना) सूत्रमें तो अप्काय जीवोंके बहोत सारे भेद-प्रभेद कहे हैं... वे इस प्रकार-

(१)	करक-	कठिन होनेसे बरफ-हिम स्वरूप है...
(२)	शीत-जल	शीत स्पर्शवाला शुद्ध जल
(३)	उष्ण-जल	उष्ण स्पर्शवाला शुद्ध जल
(४)	क्षार-जल	क्षार रसवाला शुद्ध जल
(५)	क्षत्र-जल	क्षत्र रसवाला शुद्ध जल
(६)	कटु जल	कटु रसवाला शुद्ध जल
(७)	अम्ल-जल	अम्ल=खट्टा रसवाला शुद्ध जल
(८)	लवण-जल	लवण-नमक रसवाला शुद्ध जल
(९)	वरुण-जल	वरुण-मदिरा रसवाला शुद्ध जल
(१०)	कालोद-जल	कालोद नामके समुद्रका शुद्ध जल
(११)	पुष्कर-जल	पुष्कर नामके समुद्रका शुद्ध जल
(१२)	क्षीररस जल	क्षीर=दुध रसवाला शुद्ध जल
(१३)	घृतरस जल	घृत=घी रसवाला शुद्ध जल
(१४)	इक्षुरस-जल	गन्ना-शेरडी रसवाला शुद्ध जल

इस प्रकार यह सभी "शुद्ध-जल"- प्रकारमें समाविष्ट होते हैं

प्रश्न- तो फिर प्रज्ञापना सूत्रमें क्यों ऐसे भेद-प्रभेद है ?

उत्तर- स्त्री, बच्चों एवं अल्प मतिवाले जीवोंको समझानेके लिये ऐसे भेद-प्रभेद लिखे हैं...

प्रश्न- तो फिर यहां आचारांगमें क्यों नहि लिखे ?

उत्तर- प्रज्ञापना सूत्र उपांग है, अतः आर्ष याने स्थविर-ऋषिओंका बनाया हुआ है, इसलिये वहां स्त्री, बालक एवं मंदमतिवालोंके उपकारके लिये सभी भेद, प्रभेदोंका लिखना युक्तियुक्त हि है... और निर्युक्ति तो सूत्रके अर्थोंके समूहको करती हुइ चलती है... अतः यहां संक्षेप से कहने में दोष नहि है...

वे बादर अप्काय संक्षेपसे दो प्रकारके है... १. पर्याप्त बादर अप्काय. २. अपर्याप्त बादर अप्काय... उनमें जो अपर्याप्त हैं वे वर्ण गंध आदिको अप्राप्त हैं, जब कि- जो पर्याप्त बादर अप्काय हैं वे वर्ण-गंध आदिको प्राप्त करनेके कारणसे हजारों भेद-प्रभेद वाले होते हैं, और उनके संख्येय (सात (७)) लाख योनीयां हैं और वे संवृत स्वरूपवाली होती हैं, और वे सचित, अचित और मिश्र भेदसे तीन प्रकारसे है, और फिर वे भी शीत, उष्ण और शीतोष्ण भेदसे तीन प्रकारसे है... इसी प्रकार गिनती करनेसे सात लाख योनीयां होती है...

अब प्ररूपणाके बाद परिमाण द्वार कहते हैं...

नि. १०९

पर्याप्त बादर अप्काय- संवर्त्तित (घनीकृत) लोकाकाशके प्रतरके असंख्येय भाग प्रदेशके राशि प्रमाण है... शेष तीन (अपर्याप्त बादर अप्काय, पर्याप्त सूक्ष्म अप्काय और अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय) एक एक राशि असंख्य लोकाकाश प्रदेशके राशि प्रमाण है... विशेष यह है कि- पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय से पर्याप्त बादर अप्काय जीव असंख्येय गुण अधिक है... तथा अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायसे अपर्याप्त बादर अप्काय जीव भी असंख्येय गुण अधिक हैं, और अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायसे से अपर्याप्त सूक्ष्म अप्काय विशेषाधिक है... तथा पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायसे पर्याप्त सूक्ष्म अप्कायजीवों की संख्या विशेषाधिक है... (विशेषाधिक याने पुरे द्विगुणसे कुछ कम...)

अब परिमाण द्वारके बाद लक्षण द्वार कहते हैं...

नि. ११०

प्रश्न- अप्काय जीव नहि है, क्योंकि- कोइ लक्षण घटित (मालुम) नहि होता है... और उमडकर बहता है... इस हेतुको निराश करनेके लिये दृष्टांतसे समझातें है कि- जैसे कि- हाथीका शरीर उत्पत्तिके प्रारंभ अवस्थामें जो कलल अवस्था होती है तब उत्पन्न

वह हाथीका जीव द्रव और चेतन माना गया है, ठीक इसी हि तरह अप्काय जीव भी द्रव स्वरूप चेतन हि है... अथवा तो उदक (जल) प्रधान अंडे, अभी उत्पन्न हुए उदकाण्डे, उनमें रहा हुआ रस-मात्र कि- जहां पक्षीके चंचु आंखे आदि अंगोपांग अवयव स्पष्ट रूपसे प्रगट नहिं हुए है फिर भी सचेतन माना गया है... बस इसी प्रकार अप्काय जीवोंको मानना चाहिये...

जैसे कि- हाथीका कलल प्रमाण शरीर जब महाकाय हाथीके स्वरूपमें परिणत (प्रगट) होता है तब हि सुगमतासे उसे जीव समझा=माना जाता है अभी उत्पन्न हुआ याने सात दिनका समझना चाहिये... क्योंकि- हाथीके उत्पत्तिके पहेले सात दिनोंकी अवस्थाको कलल कहते हैं... उसके बाद उसे अर्बुद आदि शब्दोंसे पहचाना जाता है... पक्षीओंके अंडे में भी उदक (जल) शब्दका ग्रहण इसी अर्थमें हि है... प्रयोग इस प्रकार है- जल सचेतन है, शस्त्रसे नष्ट न होनेकी स्थितिमें... द्रवत्वके कारणसे... हाथीके शरीरके निर्माणके मुख्य उपादान कारण स्वरूप कलल की तरह... सचेतन विशेषण इसलीये ग्रहण कीया है कि- प्रश्रवण (पेसाब-लघु नीति) द्रव होते हुए भी अप्काय नहिं माना है...

इसी प्रकार- जल सजीव है, अनुपहत द्रव होनेके कारणसे... पक्षीके अंडे में रहे हुए द्रव कललकी तरह... इसी प्रकार जल अप्काय जीवोंका शरीर हि है... क्योंकि- वे छेदन योग्य है, भेदन योग्य है, फेंकने योग्य है, भोजन (पीने) योग्य है, भोग्य = भोगने योग्य है, सुंघने योग्य है, स्वाद करने योग्य है, स्पर्श करने योग्य है, दृश्य = देखने योग्य है, द्रव्य - वस्तु स्वरूप है, इसी प्रकार और भी शरीरके सभी धर्मोको घटित करें... गगन = आकाशको छोडकर शेष सभी भूत (पंचभूत) के रूपवालापना, आकारवालापना इत्यादि धर्मोको घटित करें... जैसे गाय-बैलके सास्ना (गले की गोदडी) सींगडे (शृंग) आदि की तरह...

प्रश्न- रूप, आकार आदि (पंचभूत) भूतके धर्म परमाणुओंमें भी घटित तो होते हि हैं, अतः यह हेतु-कारण अनैकांतिक दोषवाला है...

उत्तर- नहि, ऐसा नहि है, क्योंकि- जो यहां अप्कायमें छेदन योग्य इत्यादि हेतु-कारण बताये है वे सभी इंद्रियके व्यवहारमें समझे = जाने जा शकते हैं... परमाणु ऐसे नहिं है...

अतः इस प्रकरण में अतींद्रिय परमाणुका ग्रहण नहिं किया है... अथवा तो यह विपक्ष हि नहिं है क्योंकि- सभी पुद्गल द्रव्य, द्रव्य शरीरके रूपसे तो हमने स्वीकारा हि है, विशेष तो यह है कि- जीव सहित शरीर और जीव रहित शरीर...

इस प्रकार शरीरकी सिद्धि होनेसे- अब अनुमान प्रमाणका प्रयोग करते हैं...

हिम आदि सचेतन है, अप्काय है इसलिये, अन्य जलकी तरह...

सचेतन जल है... खोदी हुइ भूमिमें स्वाभाविक उत्पन्न होनेके काणसे, मेंढक की तरह... अथवा- आकाशका जल सचेतन है, सहज रूपसे आकाशमें उत्पन्न होकर संपात होता है इसलिये, मच्छलीकी तरह... इस प्रकार यह अप्काय, कहे गये प्रकारके लक्षणवाले होनेके कारणसे जीव हि है...

अब उपयोग द्वार कहते हैं...

नि. १११

स्नान- जल-पान, धोना, रसोइ बनाना, सिंचन, यान (वाहन) उडुप (नौका) के गमन तथा आगमनमें अप्काय जीवोंका उपभोग होता है... अतः अप्काय जीवोंका अपभोग के अभिलाषी संसारी जीव, स्नान आदि कारणोंको लेकर अप्काय जीवोंका वध करते हैं

नि. ११२

यह स्नान आदि कारणों उपस्थित होने पर विषय रूप विषसे मोहित एवं निष्करुण लोग, अप्काय जीवोंकी हिंसा करते हैं... क्योंकि- उन्हें साता-सुख चाहिये, परंतु हित और अहितके विषयमें शून्य मनवाले, तथा विवेकी लोंगके परिचय के अभावमें विवेक रहित होनेके कारणसे थोडे दिनों तक रहनेवाले सुंदर यौवनके अभिमानसे उन्मत्त चित्तवाले वे संसारी जीव, अप्काय आदि जीवोंको असाता स्वरूप दुःखकी उदीरणा करते हैं... कहा भी है कि- सहज विवेक हि निर्मल चक्षु है... और दुसरा, विवेकी जीवोंके साथ निवास भी **चक्षु** है...

यह दो प्रकारके चक्षु जिनके पास नहिं है वे वास्तवमें अंधे हैं... अब वे अंधे लोग उलटे मार्गमें चलतें हैं तो उनमें उनका क्या अपराध है ? किन्तु अंधत्व ही अपराध है...

अब शस्त्र द्वार कहते हैं...

नि. ११३

शस्त्रके दो प्रकार १. द्रव्य शस्त्र २. भाव शस्त्र.

द्रव्य शस्त्रके भी दो प्रकार... १. समास से, २. विभागसे...

समास से द्रव्य शस्त्र-

(१) उत्-सिंचन = कूओ आदिमें से कोस आदिसे जल निकालना...
(२) गालन = घन एवं कोमल वस्त्रोंसे छानना...
(3) धावन-धोना = वस्त्र-बरतन आदि उपकरण तथा चमडे, कोश एवं कटाह आदि बरतन धोना...इत्यादि बादर अप्कायके सामान्यसे यह शस्त्र कहे है...

अब विभागसे अप्काय-शस्त्र कहते हैं...

नि. ११४

(१)	स्वकायशस्त्र	-	नदीका जल, तालाबके जलका शस्त्र-
(२)	परकायशस्त्र	-	मिट्टी, तैल, क्षार आदि...
(३)	उभयकायशस्त्र	-	कादव (जल सहित मिट्टी) आदि...

भावशस्त्र - प्रमादी मनुष्य (जीव) का दुष्ट मन, वचन एवं काया स्वरूप असंयम हि अप्काय जीवोंका भावशस्त्र है...

शेष द्वार पृथ्वीकायकी तरह समझीयेगा, यह बात, अब निर्युक्ति गाथासे कहते हैं

नि. ११५

शेष, निक्षेप, वेदना, वध, निवृत्ति आदि द्वार पृथ्वीकाय की तरह यहां अप्कायमें भी स्वयं समझ लीजीयेगा... इस प्रकार अप्कायके उद्देशककी निर्युक्ति (निश्चित प्रकारसे अर्थकी घटना स्वरूप) कही...

अब सूत्रानुगमके प्रसंगमें उच्चार (बोलने) में स्खलना न हो इस प्रकार सूत्रको पढना चाहिये... वह सूत्र निम्न प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १९ ॥

से बेमि, जहा अणगारे उज्जुकडे नियाय- पडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥ १९ ॥

II संस्कृत-छाया :

तद् ब्रवीमि, यद्- सः यथा अनगारः ऋजुकृतः नियागप्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणः व्याख्यातः ॥ १९ ॥

III शब्दार्थ :

से अणगारे-वह अनगार । **जहा**-जैसा होता है । **से बेमि**-वह मैं कहता हूं । **उज्जुकडे**-संयम का परिपालक । **नियायपडिवण्णे**-जिस ने मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लिया है। **अमायं कुव्वाणे**-माया-छल-कपट नहीं करने वाला । **वियाहिए**-कहा गया है ।

IV सूत्रार्थ :

सः अहं ब्रवीमि, यथा अनगारः ऋजुकृत्, नियाग-प्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणः

व्याख्यातः ॥ १९ ॥

V टीका-अनुवाद :

हे जंबू ! मैं (सुधर्मस्वामी) तुम्हे कहता हुं कि- ऋजुकृत्, मोक्षमार्गको प्राप्त, और माया नहिं करनेवाले अणगार = साधु कहे गये है...

दुसरे उद्देशकके अंतिम सूत्रमें कहा था कि- पृथ्वीकायके समारंभसे जो विरमण करता है वह मुनी है, किंतु इतने मात्रसे मुनी नहिं होता... तब मुनी जिस प्रकारसे होता है वह कहते हैं... **हे जंबू ! पृथ्वीकायके समारंभसे विरमण करनेके बाद वह अनगार बनता है... अर्थात् घरका त्याग करता है... उसके बाद ऋजु याने मोक्षके कारण ऐसे सत्तरह (१७) प्रकारके संयमको करता है... अर्थात् अशुभ मन-वचन-कायका निरोध करके सर्व जीवोंके संरक्षण स्वरूप संयमको धारण करता है... उसके बाद वह मुनी सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्ष-मार्गको प्राप्त करता है... उसके बाद अपने शक्ति सामर्थ्य-वीर्यको छुपाये बिना संयमानुष्ठानमें पराक्रम करता है ऐसा मुनी कहा गया है... ऐसा कहनेसे अशेष कषायोंको दूर करनेका सूचन कर दीया है... कहा भी है कि- जो ऋजु = सरल है उसकी हि शुद्धि होती है, और जो शुद्ध है उसमें धर्म रहता है...**

अब सकल मायाके जालको दूर करके वह मुनी क्या करता है ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

साधु, मुनि या अनगार जीवन क्या है ? यह प्रश्न आज का नहीं, शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पहले का है । भगवान महावीर के युग में, महावीर के ही युग में नहीं, उससे भी पहले यह प्रश्न विचारकों के सामने चक्कर काटता रहा है, क्योंकि अनेकों व्यक्ति अपने आपको मुनि, त्यागी कहते रहे हैं । अतः त्यागी किसे समझा जाए, उसकी पहिचान क्या है ? उसका जीवन कैसा होना चाहिए ? आदि प्रश्नों का उठना सहज स्वभाविक है ।

प्रस्तुत सूत्र में इन्हीं प्रश्नों का गहन भाषा में समाधान किया गया है । अनगार की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार ने तीन विशेषणों का प्रयोग किया है- १-संयम का परिपालक हो, २-मोक्ष मार्ग पर गतिशील हो और ३-माया रहित अर्थात् निश्छल एवं निष्कपट हृदय वाला हो । इन विशेषणों से युक्त साधक ही अनगार कहा जा सकता है ।

प्रस्तुत सूत्र में एक बात ध्यान देने योग्य है । वह यह है कि यहां साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्द का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग किया है । इसका कारण यह है कि साधना के पथ पर गतिशील होने वाले साधक के लिए

सब से पहले घर का त्याग करना अनिवार्य है । घर-गृहस्थ में रहते हुए अज्ञानी लोग, सम्यक्तया साधुत्व की साधना-आराधना एवं परिपालना नहीं कर सकता । क्योंकि पारिवारिक; सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे न चाहते हुए भी आरंभ-समारंभ के कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है । आरंभ-समारंभ में प्रवृत्ति किए बिना गृहस्थ कार्य चल ही नहीं सकता और साधु जीवन में आरंभ-समारंभ की क्रिया को ज़रा भी अवकाश नहीं है । अतः साधुत्व का परिपालन करने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग करना अनिवार्य है । इस लिए सूत्रकार ने साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दों का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि- साधक, साधु जीवन में प्रविष्ट होने के पूर्व घर एवं गृहस्थ संबन्धी सावद्य कार्य पूर्णतया त्याग करे ।

अनगार शब्द का शाब्दिक अर्थ है-घर रहित । परन्तु घर का परित्याग करने मात्र से ही साधुत्व नहीं आ जाता है । उसके लिए जीवन को निर्दोष एवं परिष्कृत करने की आवश्यकता है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने अनगार शब्द के साथ तीन विशेषणों का प्रयोग किया है । पहला विशेषण है-उज्जुकडे- (ऋजुकृतः) इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है-

''ऋजुः- अकुटिलः संयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्काय निरोधः सर्वसत्त्वसंरक्षण प्रवृत्त-त्वाद् दयैकरूपः''

अर्थात् सरल, कुटिलता से रहित, संयम मार्ग में प्रवृत्त, दुष्कार्य में प्रवृत्तमन, वचन और काय का निरोधक, समस्त प्राण, भूत, जीव, सत्त्व के संरक्षण में प्रवृत्तमान साधक को ऋजु कहते हैं । तात्पर्य यह निकला कि संयम मार्ग में प्रवृत्तमान साधक को अनगार कहा है । क्योंकि कुछ व्यक्ति घर का परित्याग करके अपने आप को अनगार या साधु कहने लगते हैं । परंतु घर का परित्याग करने के साथ वे कुटिलता का एवं सावद्य कार्यों का परित्याग नहीं करते, मन, वचन और काय का दुष्कार्यों से निरोध नहीं करते । इसलिए वे वास्तव में अनगार नहीं है । इसी बात को सूत्रकार ने 'ऋजुकृतः' विशेषण से स्पष्ट किया है । अनगार वही है, जो अपनी इन्द्रियों, मन एवं योगों को नियन्त्रण में रखताा है, सब प्राणियों की दया एवं रक्षा करता है ।

कुछ व्यक्ति अपने विषय सुख को साधने के लिए, एवं यश-ख्याति पाने के लिए या भौतिक सुख एवं स्वर्ग आदि पाने की अभिलाषा से इन्द्रिय एवं मन पर भी नियन्त्रणा कर लेते हैं। फिर भी वे वास्तव में अनगार नहीं कहे जा सकते, जब तक उनकी प्रवृत्ति मोक्ष मार्ग में नहीं है । इस बात को सूत्रकार ने 'नियाय पडिवण्णे' विशेषण से स्पष्ट किया । इसकी परिभाषा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि

"नियाग-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक- मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्नः ।"

अर्थात् सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक ही नियागप्रतिपन्न कहा गया है । इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस साधक की साधना इंद्रिय एवं योगों पर नियन्त्रण एवं तपस्या आदि अनुष्ठान, बिना किसी भौतिक आकांक्षा अभिलाषा के होता है अर्थात् यों कहिए कि जो केवल कर्मों की निर्जरा करके शुद्ध आत्म स्वरूप प्रगट करने या निर्वाण-मोक्ष पद पाने हेतु, साधना करता है, वही साधक संयम सम्पन्न है, अनगार है । **दशवैकालिक सूत्र** में स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि साधक इस लोक में भौतिक सुख पाने के लिए तपस्या न करे, परलोक में स्वर्ग एवं ऐश्वर्य पाने की आकांक्षा से तप न करे, यशःकीर्ति पाने हेतु तपस्या न करे । किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तपश्चर्या करे । जैसे तप के लिए कहा गया है, उसी तरह समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए कहा है । बिना किसी भौतिक इच्छा आकांक्षा या निदान के साधना या संयम पर गतिशील होना यही मोक्षमार्ग है और इस मार्ग पर आरूढ़ साधक ही सच्चा एवं वास्तव में अनगार है ।

अनगार का तीसरा विशेषण है 'अमायं' अर्थात् छल-कपट नहीं करने वाला । माया को भी जीवन का बहुत बड़ा दोष माना गया है । आगम में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी" अर्थात्-माया एवं छल-कपट युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहा गया है । संसार के कार्यों में ही नहीं, धर्म प्रवृत्ति में भी छल-कपट करना दोष माना गया है । **१९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ ने अपने साधु के पूर्वभव में माया पूर्वक तप किया था । संक्षेप में कथा इस प्रकार है- उनके छः साथी साधु थे । सभी एक साथ तप शुरू करते, किन्तु मल्लिनाथ का जीव साधु, यह सोचता कि मैं इन से अधिक तप करूं, पर करूं कैसे ? यदि इन्हें कह दूंगा कि मुझे आज पारणा नहीं, तपस्या करनी है, तो वे भी तप कर लेगें । इस तरह तप में मैं इनसे आगे नहीं हो पाउंगा । अतः उन्हों ने साथी साधुओं से कपट करना शुरू किया । उन्हें पारणा के लिए कह देते और स्वयं तप कर लेते । इस तरह माया युक्त तप का परिणाम यह रहा कि उन्हों ने स्त्री वेद का बन्ध किया । इस से यह स्पष्ट हो गया कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट क्रिया में भी माया करना बुरा है।** इसीलिए सूत्रकार ने माया रहित, मोक्षमार्ग पर गतिशील, संयम संपन्न व्यक्ति को ही अनगार कहा है । क्योंकि- ऐसा व्यक्ति ही सर्व प्राणियों की रक्षा कर सकता है ।

अनगार के यथार्थ स्वरूप को बताने के बाद सूत्रकार साधना या त्याग मार्ग पर प्रविष्ट होने वाले साधक के कर्तव्य का वर्णन करते हुए, सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ २० ॥

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा, वियहित्ता विसोत्तियं ॥ २० ॥

II संस्कृत-छाया :

यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, तामेव अनुपालयेत् विहाय विस्रोतसिकाम् ।

III शब्दार्थ :

जाए–जिस । **सद्धाए**–श्रद्धा से । **निक्खंतो**–घर से निकला है-दीक्षित हुआ है । **विसोत्तियं**–शंका को । **वियहित्ता**–छोड़ कर । **तमेव**–उसी श्रद्धा का जीवन पर्यन्त । **अणुपालिज्जा**–परिपालन करे ।

IV सूत्रार्थ :

जीस श्रद्धासे निकले हैं, शंका-कुशंकाको छोडकर उसी श्रद्धाको सुरक्षित रखें,

V टीका-अनुवाद :

जीस प्रवर्धमान संयमस्थानकके कंडक स्वरूप श्रद्धासे प्रव्रज्याको स्वीकार कीया है, उसी श्रद्धाको जीवन पर्यंत सुरक्षित रखें... क्योंकि- दीक्षाके समय जीवको अच्छे वर्धमान परिणाम होते हैं, उसके बाद संयमकी गुणश्रेणीको प्राप्त करनेके बाद वर्धमान परिणामवाला होता है, या हीयमान (क्षीण) परिणामवाला होता है... या तो अवस्थित (स्थिर) परिणामवाला होता है... उनमें वृद्धिका काल या हानिका काल कमसे कम अेक समय और अधिकसे अधिक अंतमुहूर्त्त होता है... इससे अधिक समय संक्लेश या विशुद्धि नहिं होती है... कहा भी है कि- इस जगतमें जीवोंका संक्लेश काल अंतमुहूर्त्त से अधिक नहिं होता, और विशुद्धि काल भी अंतर्मुहूर्त्तसे अधिक नहिं होती... यह आत्माका प्रत्यक्ष = अनुभव सिद्ध अर्थ याने स्वरूप है...

यह संक्लेश और विशुद्धि स्वरूप उपयोगका परिवर्त्तन (फेर-फार) हेतु बिना हि स्वभावसे हि होता है, यह स्वभाव आत्माको प्रत्यक्ष हि है, इनमें हेतुओंका कथन करना व्यर्थ हि है...

वृद्धि और हानि स्वरूप संक्लेश एवं विशुद्धिके यव-मध्य या वज्रमध्यके बिच अवस्थित (स्थिरता का) काल आठ समयका होता है... उसके बाद अवश्यमेव पतन (फेर-फार) होता है... यह वृद्धि-हानि और अवस्थित संयमश्रेणीका परिणाम, निश्चित रूपसे केवलज्ञानी हि जानतें हैं, छद्मस्थ मुनी नहिं जानतें...

यद्यपि- प्रव्रज्या (दीक्षा) स्वीकारने के बादमें श्रुत-समुद्रको अवगाहन = परिशीलन करनेवाले उस (कोइक) मुनीको संवेग एवं वैराग्य भावनासे वर्धमान परिणाम होता ही है, कहा भी है कि- जैसे जैसे अपूर्व एवं अतिशय शांतरसवाले श्रुतज्ञानका अभ्यास होता रहता है वैसे वैसे मुनी नये नये संवेग रस एवं श्रद्धासे प्रसन्न होता है...

तो भी ऐसे साधु थोडे हि होतें हैं, और बहोत सारे साधु तो पतन परिणामवाले हि होतें हैं, अतः कहतें हैं कि- शंका - कुशंकाओंको छोडकर साधु, उसी संयम परिणाम स्वरूप श्रद्धाको बार बार सुरक्षित रखें...

शंका के दो प्रकार है... १. सर्व शंका २. देश शंका...

१. सर्व शंका - तीर्थंकरोने बताया हुआ मोक्षमार्ग है कि नहि... ? यह सर्वशंका है...

२. देश शंका- आंशिक शंका = आगम सूत्रमें कहे गये अप्काय-जीव है या नहिं ? क्योंकि- उनमें स्पष्ट चेतना स्वरूप लक्षण दिखता नहिं है... इत्यादि शंकाको छोडकर संपूर्ण प्रकारसे साधुओके गुणों (व्रतों) को सुरक्षित रखें...

विस्रोतसिका याने शंका के दो प्रकार है

१. द्रव्य विस्रोतसिका २. भाव विस्रोतसिका.

१. द्रव्य विस्रोतसिका = नदी आदिमें प्रवाहके सामने जाना...
२. भाव विस्रोतसिका = मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग् दर्शन आदिसे प्रतिकूल चलना...

ऐसी स्वरूपवाली विस्रोतसिका याने शंकाको छोडकर साधुजीवनके मूल एवं उत्तरगुण-व्रतोंका पालन करें...

अथवा तो- **पूर्व संयोग मात-पिता आदि एवं पश्चात् संयोग श्वसुर साला आदिके मोह-संयोगको छोडकर, संयम श्रेणी स्वरूप श्रद्धा का पालन करें...**

यह अपूर्व अनुष्ठान फक्त आप हि करतें हैं ऐसा नहिं है, किंतु पूर्वकालमें अनेक महासत्त्वशाली जीवोंने यह अपूर्व मोक्षमार्गकि अनुष्ठानका पालन कीया है... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

आगम में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार वीर्याचार का वर्णन मिलता है । प्रस्तुत सूत्र में दर्शनाचार का विवेचन किया गया है । वस्तु तत्त्व को जानने की अभिरूचि या तत्त्वों पर श्रद्धा करने का नाम **सम्यग् दर्शन** है । दर्शनाचार को पंचाचार में प्रधान स्थान दिया गया है । इसका कारण यह है कि तत्त्वों को जानने की अभिरूचि होने पर ही साधक ज्ञान की साधना में संलग्न हो सकता है । इसलिए ज्ञान से पहले सम्यग् दर्शन-श्रद्धा का होना जरूरी है । इसी तरह चारित्र-संयम, तप एवं वीर्याचार में भी श्रद्धा का होना जरूरी है

। इसी तरह चारित्र-संयम, तप एवं वीर्याचार में श्रद्धा-विश्वास होने पर ही वह उन को स्वीकार कर सकता है, अन्यथा नहीं । यही कारण है कि- श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है । आगम में भी मनुष्य जन्म, शास्त्र-श्रवण, संयम मार्ग में प्रवृत्त होने आदि को दुर्लभ बताया गया है, परन्तु श्रद्धा के लिए कहा गया है कि- श्रद्धा दुर्लभ ही नहीं, परम दुर्लभ है...

"सद्धा परम दुल्लहा"

इस लिए सूत्रकार ने मुमुक्षु को विशेष रूप से सावधान एवं जागृत करते हुए कहा है कि- हे साधक ! तू जिस श्रद्धा-विश्वास के साथ साधना पथ पर गतिशील हुआ है, उस श्रद्धा में शिथिलता एवं विपरीतता को मत आने देना । अपने हृदय में किसी भी तरह शंका-कुशंका को प्रविष्ट न होने देना । अपनी आंतरिक भावना के विश्वास को दूषित मत करना।

यह अनुभूत सत्य है कि संसारी जीवों की भावना सदा एक सी नहीं रहती । आत्मा के परिणामों की धारा में परिवर्तन होता रहता है । विचारों में कभी मन्दता आती है, तो कभी तीव्रता । साधक के मन में भी दीक्षा के समय जो उत्साह एवं उल्लास होता है, उस में मन्दता एवं वेग दोनों के आने को अवकाश रहता है उस की श्रद्धा में दृढ़ता एवं निर्बलता दोनों के आने के निमित्त एवं साधन मिलते है । इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि- श्रद्धा को कमज़ोर बनाने वाले साधनों से बचकर-दृढ़ विश्वास के साथ संयम मार्ग पर गति करें

श्रद्धा को क्षीण बनाने या विपरीत दिशा में मोड़ देने वाला संशय है । जब मन में, विचारों मे सन्देह होने लगता है, तो साधक का विश्वास डगमगा जाता है उसकी साधना लड़खड़ाने लगती है । अतः साधक को इस बात के लिए सदा सावधान रहना चाहिए कि उसके मन में संदेह प्रविष्ट न हो । संशय को पनपने देना, यह साधना के मार्ग से गिरना है ।

संशय भी दो प्रकार का होता है-१-सर्व संशय और २-देश संशय । पूरे सिद्धान्त पर संदेह करे या मने में यह सोचे कि- यह सिद्धांत वीतराग द्वारा प्रणीत है और वीतराग की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मा समस्त कर्मो से मुक्त हो जायगी, यह किसने देखा है ? अतः इस पर कैसे विश्वास किया जाए ? यह **सर्व शंका** है । और सिद्धान्त के किसी एक तत्त्व या पहलू पर सन्देह करना **देश शंका** है । जैसे-मुक्ति है या नहीं ? यह देश शंका का उदाहरण है । दोनों तरह की शंकाएं आत्मा की श्रद्धा को शिथिल कर देने वाली हैं, अतः साधक को अपने हृदय में शंका को उद्भूत नहीं होने देना चाहिए ।

साधनापथ नया नहीं है । अनन्त काल से अनेक साधक, इस पथ पर गतिशील होकर अपने साध्य को सिद्ध कर चूके हैं । यह बात, अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ 3 ॥ ॥ २१ ॥

पणया वीरा महावीहिं ॥ २१ ॥

II संस्कृत-छाया :

प्रणतः वीराः महावीथिम् ॥ २१ ॥

III शब्दार्थ :

वीरा-वीर पुरुष-परिषह-उपसर्ग और कषायादि पर विजय प्राप्त करने वाले । **महावीहिं**-प्रधान मोक्ष मार्ग में । **पणया**-पुरुषार्थ कर चुके हैं ।

IV सूत्रार्थ :

मोक्षमार्गके अनुष्ठानको वीर्यवंत वीर पुरुष हि करतें हैं (आचरतें हैं) ॥ २१ ॥

V टीका-अनुवाद :

जिनेश्वरोंने बताये हुए सम्यग् दर्शन ज्ञान एवं चारित्र स्वरूप मोक्षमार्गमें वीर्यवंत वीर पुरुष हि परीषह और उपसर्गकी सेनाको जीत कर विचरतें हैं... तीर्थंकरोंने मोक्षमार्ग बताया है, ऐसा कहनेसे श्रद्धालु शिष्य (जीव) विश्वासके साथ सुगमतासे इस संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है...

अथवा- यद्यपि आपकी मति संस्कारके अभावमें यदि अप्काय-जीवोंको पहचान नहिं शकती है, तो भी यह परमात्माकी आज्ञा है, ऐसा मानकर भी अप्काय-जीवोंकी श्रद्धा करें... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

हम यह प्रथम ही बता चुके हैं कि जीवन में श्रद्धा की ज्योति का प्रदीप्त रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है । हम सदा देखते हैं कि श्रद्धा के बिना लौकिक या लोकोत्तर कोई भी कार्य सफल नहीं होता । साधना को सफल बनाने के लिए दृढ एवं शुद्ध श्रद्धा होनी चाहिए । इसी बात को सूत्रकार ने पिछले सूत्र में बताया है कि साधक को अपने हृदय में संशय को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए । प्रस्तुत सूत्र में श्रद्धा को दृढ बनाए रखने के लिए सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह साधना का मार्ग आज से नहीं, अपितु अनादि काल से चालू है, अनेक वीर पुरूषों ने इस मार्ग पर गतिशील होकर निर्वाण पद को प्राप्त किया है ।

'वीर' शब्द का सीधा सा अर्थ शक्तिशाली है । परन्तु प्रस्तुत सूत्र में इसका संबन्ध

शारीरिक एवं भौतिक बल नहीं, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति से है । वीर या बलवान वह है, जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को परास्त करने की शक्ति रखता है, मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ पदार्थों को देख कर मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को उभरने नहीं देता। क्योंकि- दुनिया में राग-द्वेष एवं कषाय सब से शक्तिशाली माने गए हैं । बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा एवं चक्रवर्ती सम्राट् भी कसायों के दास बन जाते हैं, कषायों एवं राग-द्वेष के प्रवाह में प्रवहमान होने लगते हैं । अतः सच्चा विजेता और वास्तविक शक्तिशाली व्यक्ति वही माना जाता है, कि- जो इन चारों कसायों को पछाड़ देता है । **प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि- गजसुकुमार जैसे वीर पुरुषों ने राग-द्वेष, कषाय एवं परीषहों पर विजय प्राप्त करके सिद्धत्व को प्राप्त किया है । श्रेष्ठ एवं महान् पुरुषों द्वारा आचरित होने से यह संयममार्ग प्रशस्त है, अतः मुमुक्षु को उत्साह के साथ साधना पथ पर बढ़ते रहना चाहिए ।**

पिछले सूत्रों एवं प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने पृथ्वीकायिक जीवों के संरक्षक अनगार की योग्यता एवं उस के स्वरूप का वर्णन किया है । अब अगले सूत्र में सूत्रकार अप्कायिक जीवों के संबन्ध में वर्णन करेंगे । किन्तु अप्काय का विस्तार से विवेचन करने के पूर्व सूत्रकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधक को इस बात पर विश्वास एवं श्रद्धा रखनी चाहिए कि- अप्काय भी **जीव** हैं, उस का आरंभ-समारंभ करने से पाप कर्म का बन्ध होता है । यदि कभी अपनी बुद्धि काम नहीं करती है, तब भी तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित एवं महापुरूषों द्वारा आचरित मार्ग पर श्रद्धा रखकर वीतराग की आज्ञा के अनुसार आचरण करना चाहिए । इसी बात को और स्पष्ट करने के लिए **सूत्रकार महर्षि** आगे का सूत्र कहते हैं...

I **सूत्र** ॥ ४ ॥ ॥ २२ ॥

लोगं च आणाए अभिसमेच्चा, अकुओभयं ॥ २२ ॥

II संस्कृत-छाया :

लोकं च आज्ञया अभिसमेत्य (अभिगम्य अवगम्य) अकुतोभयम् ॥ २२ ॥

III शब्दार्थ :

लोगं-अप्काय रूप लोक को । **च**-और अन्य पदार्थों को । **आणाए**-तीर्थंकर भगवान की आज्ञा से । **अभिसमेच्चा**-जानकर । अकुओ भयं-संयम का परिपालन करे ।

IV सूत्रार्थ :

अप्काय लोकको आज्ञासे जाने कि- यह लोक अकुतोभय है... ॥ २२ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां लोक शब्दसे अप्काय-लोक समझीयेगा... अप्काय-जीवोंको और अन्य पदार्थोंको जिनेश्वरोंके वचनोंसे अच्छी तरहसे समझीएगा... जैसे कि- अप्काय आदि जीव हैं... ऐसा समझनेके बाद अकुतोभय याने संयमका पालन करें... जिससे किसीको भी भय=डर न हो वह अकुतोभय = संयम... अथवा तो अप्काय-लोक मरणसे डरतें हैं अतः वे मरणको कभी भी नहिं चाहतें अतः प्रभु आज्ञासे अकुतोभय याने संयमका पालन करें, अप्कायकी रक्षा करें...

अप्काय-जीवोंको प्रभु-आज्ञासे जान कर, जो करना चाहिये, वह बात अब **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्र में कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि वीतराग की वाणी पर पूर्ण विश्वास रखकर तदनुसार ही आचरण करना चाहिए । क्योंकि जब तक साधक छद्मस्थ है, तब तक उस के ज्ञान में अपूर्णता होने के कारण वह वस्तु के स्वरूप को भली-भांति नहीं भी देख पाता । कई बातों के लिए उसके मन में संदेह उठना स्वभाविक है । परन्तु वीतराग के वचनों में संशय करने को अवकाश ही नहीं है । क्योंकि वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने से प्रत्येक द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप को जानते-देखते हैं । इसलिए उन के वचनों के आधार पर साधक प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को सम्यक्तया जान सकता है और उनके वचनानुसार गति करके एक दिन सिद्धत्व को पा सकता है । यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'लोक' शब्द का विषय के अनुरूप अप्काय लोक अर्थ होता है । और 'अकुओ भयं' संयम का परिबोधक है, और अप्काय का विशेषण भी है । संयम अर्थ में इसकी परिभाषा इस प्रकार है– "न विद्यते कुतश्चिद् हेतोः केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽयं अकुतो भयः संयमः तमनुपालयेदिर्ति सम्बन्धः ।" अर्थात्–जिस साधना या क्रिया से जीवों को किसी भी प्रकार का या किसी भी प्रकार से भय न हो, उसे 'अकुतो भयः' कहते हैं; और वह साधना का प्राणभूत संयम ही है ।

जब उक्त शब्द का अप्काय के विशेषण के रूप में प्रयोग करते हैं, तो उसकी व्युत्पति इस प्रकार बनेगी– "अकुतो भयः अप्कायलोकः यतोऽसौ न कुतश्चिद् भयमिच्छति मरणभीरूत्वात् ।" अर्थात्–मरणभीरू होने के कारण अप्काय के जीव किसी से भी भयभीत होने के इच्छुक नहीं हैं अतः इसे 'अकुतो भयः' कहते हैं ।

'अभिसमेच्चा–अभिसमेत्य' शब्द अभि+सम्+इ+त्वा (य) के संयोग से बना है । अभि का अर्थ है–सभी प्रकार से, सम् का अभिप्राय है–अच्छी तरह से, सम्यक् प्रकार से और ' इ '

धातु का तात्पर्य है–जानना। अस्तु **'अभिसमेच्चा' का अर्थ हुआ सम्यक् प्रकार से जानकर ।**

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह कहा है कि- भगवान की वाणी से अप्काय के जीवों के स्वरूप को जानकर, भगवान की आज्ञा के अनुसार उन की यतना करे । अब **सूत्रकार** अप्काय में जो चैतन्य–संजीवता है; उसका अपलाप न करने की प्रेरणा, आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ २३ ॥

से बेमि, नेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा, नेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा... जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ २३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि, नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत, नैव आत्मानं प्रत्याचक्षीत । यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानं अभ्याख्याति, यः आत्मानं अभ्याख्याति सः लोकं अभ्याख्याति ॥ २३ ॥

III शब्दार्थ :

से–वह (मैं) तुम्हारे प्रति । **बेमि**–कहता हूं कि- । **णेव**–नहीं'। **सयं**–अपनी आत्मा से । **लोयं**–अप्काय रूप लोक का । **अब्भाइक्खिज्जा**–अभ्याख्यान-अपलाप करें । **अत्ताणं**–आत्मा का । **अब्भाइक्खिज्जा-णेव**–निषेध नहीं करना चाहिए । **जे**–जो व्यक्ति । **लोयं**–अप्काय रूप लोक का । **अब्भाइक्खइ**–निषेध करता है । **से**–वह । **अत्ताणं**–आत्मा का । **अब्भाइक्खइ**–निषेध करता है । **जे**–जो । **अत्ताणं**–आत्मा का निषेध करता है । **से**–वह । **लोयं अब्भाइक्खइ**–अप्काय रूप लोक का निषेध करता है ।

IV सूत्रार्थ :

वह मैं (सुधर्मस्वामी) तुम्हें कहता हुं... कि- अप्काय लोकका तुम खुद अपलाप न करें, और आत्माका भी अपलाप न करें... जो (मनुष्य) लोकका अपलाप करता है, वह आत्माका अपलाप करता है, और जो आत्माका अपलाप करता है, वह लोक (अप्काय) का अपलाप करता है ॥ २३ ॥

V टीका-अनुवाद :

"से" शब्दका अर्थ है "वह मैं" अथवा तो "तुम्हें" कहता हुं कि- तुम स्वयं अप्काय जीवोंका अभ्याख्यान न करें... अभ्याख्यान याने अपलाप अथवा तो जुठा आरोप... जैसे कि-

चोर न हो उसे चोर कहना... यहां ऐसा कहे कि- अप्काय जीव नहिं है, वह तो केवल घी, तैल की तरह पदार्थ मात्र हि है... ऐसा कहना, वह जुठा आरोप हि है... हाथी, घोडे आदि जीवों भी उपकरण हि है... यहां प्रश्न होता है कि- अजीवको जीव कहना यही तो यहां अभ्याख्यान हि तो है न ? उत्तर- ना, ऐसा नहिं है, क्योंकि- हमने पहेलेसे हि अप्कायमें जीवकी सिद्धि कर दी है... जैसे कि- इस शरीरका मैं=आत्मा अधिष्ठायक हुं, और शरीरसे भिन्न ऐसा मैं आत्मा हुं... इसी हि प्रकार- अव्यक्त चेतनावाले अप्काय सचेतन हि है, ऐसी हमने पहले से हि सिद्धि करी दी है... अतः सिद्ध का कथन करना वह अभ्याख्यान नहिं है... यदि ऐसा करतें हैं तब शरीरके अधिष्ठाता आत्मा का भी अभ्याख्यान करना चाहिये... किंतु ऐसा करना उचित नहिं है... यह बात कहते हैं...

शरीरमें रहे हुए, अहं पदसे अनुभव सिद्ध तथा ज्ञान गुणसे अभिन्न (युक्त) ऐसे आत्माका अपलाप न करें

प्रश्न- ऐसा कैसे जान शकतें हैं कि- शरीरके अधिष्ठाता आत्मा है ?

उत्तर- यह बात हम पहले कह चूके हैं, किंतु आप याद नहिं रख शकते, अतः दुबारा कहतें हैं कि-

(१) यह शरीर कफ रुधिर (लोही) अंग एवं उपांग आदिके अभिसंधिके साथ परिणमनसे किसी (जीव) ने भी अन्न आदिकी तरह आहृत (बनाया) है...

(२) तथा इसी शरीरका अन्न-मलकी तरह विसर्जन भी सर्जनकी तरह कोइक अभिसंधीवाला (जीव) करता है...

(3) ज्ञान के साथ होनेवाला स्पंदन, आपके वचनके स्पंदनकी तरह स्पंदन स्वरूप होनेसे भ्रांति नहिं है... अर्थात् सत्य हि है...

(४) तथा शरीरमें रहे हुए अधिष्ठाताके व्यापारवाली इंद्रियां दान देनेवालेकी तरह साधन स्वरूप होनेसे क्रियाशील होती है

इसी प्रकार से कुतर्कोंकी शृंखलाको स्याद्वाद-कुहाडीसे छेदीयेगा... इस प्रकार हेतुओंसे आत्माकी पहचान होनेके बाद शुभ और अशुभ कर्मफलोंको भुगतनेवाली आत्मा का अपलाप न करें...

ऐसा होते हुए भी जो अज्ञानी कुतर्क स्वरूप तिमिरसे नष्ट ज्ञान चक्षुवाला जीव अप्काय-जीवोंका अपलाप करता है वह (मनुष्य) सभी प्रमाणोंसे सिद्ध ऐसे आत्माका भी अपलाप करता है... और जो अज्ञानी जीव ''मैं नहिं हुं'' इस प्रकार आत्माका अपलाप करता है, वह अप्काय

जीवोंका भी अपलाप करता है... क्योंकि- हाथ-पाउं आदि अवयवोंसे युक्त शरीरमें रहनेवाले स्पष्ट चिह्नोंवाले आत्माका अपलाप करता है, वह अस्पष्ट (अव्यक्त) चेतनावाले अप्काय-जीवोंका तो अपलाप करेगा हि...

इस प्रकार अनेक दोषोंकी संभावना होती है, अतः इन अप्काय-जीवोंका अपलाप न करें... ऐसा सोच कर साधु-लोग अप्काय-जीवोंका आरंभ नहिं करतें...

शाक्य आदि मतवाले साधु-लोग जो विपरीत आचरणा करतें हैं, वह बात **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में अपनी आत्मा एवं अप्कायिक जीवों की आत्मा के साथ तुलना करके अप्काय में चेतना है, इस बात को सिद्ध किया है । यह हम पहले देख चुके हैं कि आत्मस्वरूप की दृष्टि से संसार की समस्त आत्माएं एक समान हैं । अप्काय में स्थित आत्मा में एवं मनुष्य शरीर में परिलिक्षित होने वाली आत्मा में स्वरूप की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है । यहां तक कि सर्व कर्मों से मुक्त सिद्धों की शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही है । आत्मस्वरूप की दृष्टि से किसी आत्मा में अन्तर नहीं है, अन्तर केवल चेतना के विकास का है । अप्कायिक जीवों की अपेक्षा मनुष्य की चेतना अधिक विकसित है और सिद्धों में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, वहां आत्मा की शुद्ध ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशमान है, आवरण की कालिमा को ज़रा भी अवकाश नहीं है । इस तरह स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं, किन्तु परस्पर भेद, केवल विकास की अपेक्षा से है ।

जैसे जवाहरात की दृष्टि से सभी हीरे समान गुण वाले हैं – भले ही वे खदान में मिट्टी से लिपटे हों, या जौहरी की दुकन पर पड़े हों या स्वर्ण आभूषण में जड़े हों, स्वरूप की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है । जौहरी की दृष्टि से सभी हीरे मूल्यवान हैं । भेद है बाहरी विकास को देखने-परखने वाली दृष्टि का । उसकी दृष्टि में खदान से निकले हुए हीरे की अपेक्षा जौहरी की दुकान पर पड़े सुघड़ हीरे का अधिक मूल्य है और उससे भी अधिक मूल्यवान है आभूषण में जड़ा हुआ हीरा । तो यह सारा भेद बाहरी दृष्टि का है । अन्तर दृष्टि से हीरा हर दशा में मूल्यवान है । कीमती है और जौहरी की अन्तर दृष्टि उसे पत्थर के रूप में भी पहचान लेती है । यही स्थिति आत्मा के संबन्ध में है । स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान हैं । हम भले ही बाहरी दृष्टि से कुछ अल्प विकसित आत्माओं की चेतना को स्पष्ट रूप से न देख सकें, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों की **आत्म दृष्टि**, उसे स्पष्टतया अवलोकन करती है, इसलिए हमें उसके अस्तित्व का अपलाप नहीं करना चाहिए । क्योंकि आत्म-स्वरूप की दृष्टि से उसकी और हमारी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है । अतः अप्कायिक जीवों की आत्मा का अपलाप

करने का अर्थ है, अपने अस्तित्व का अपलाप करना और अपने अस्तित्व का अपलाप या निषेध करने का तात्पर्य है कि अप्कायिक जीवों की सत्ता का निषेध करना । इस तरह सूत्रकार ने सभी आत्माओं का, स्वरूप की अपेक्षा से आत्मैक्य सिद्ध करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि- किसी एक आत्मा के अस्तित्व को मानने से इन्कार करने का अर्थ है, समस्त जीवों के आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना, और यह आगम, तर्क एवं अनुभव से विपरीत है । इस लिए मुमुक्षु को अप्कायिक जीवों का एवं अपनी आत्मा का अपलाप नहीं करना चाहिए।

'अभ्याख्यान' शब्द का अर्थ है-असदभियोग अर्थात् झूठा आरोप लगाना जैसे-जो व्यक्ति चोर नहीं है, उसे चोर कहना, और जो चोर है, उसे अचोर कहना या साहूकार बताना यह अभ्याख्यानं है । इसी तरह अप्कायिक जीवों में चेतनता होते हुए भी उन्हें निश्चेतन या निर्जीव कहना, यह उनकी सजीवता पर मिथ्या आरोपण है, इस लिए इसे अभ्याख्यान कहा गया है ।

यह सत्य है कि- अप्काय में चेतना का अल्प विकास है । परन्तु इससे हम उसकी सत्ता का निषेध नहीं कर सकते । क्योंकि- उसकी चेतना अनुभव सिद्ध है । यद्यपि जल, जीवन के लिए उपयोगी है, और घी-तेल की तरह द्रवित है, तो भी इतने मात्र कारण से हम उसे निर्जीव नहीं कह सकते । क्योंकि- सभी उपयोगी एवं तरल पदार्थ निर्जीव नहीं होते । जैसे घोड़ा, गाय-भैंस आदि पशु उपयोगी होने पर भी सजीव हैं और हस्तिनी के गर्भ में उत्पन्न होने वाला जीव तथा सभी पक्षियों के अंडे रूप में जन्म लेने वाला प्राणी कई दिनों तक तरल रहता है । फिर भी उसे सजीव मानते हैं । यदि उनकी तरल अवस्था में सजीवता नहीं मानोंगे, तो उससे प्रगट होनेवाले, अंगोपांग युक्त हाथी एवं पक्षियों में सजीवता प्रतीत नहीं होगी । इस लिए हस्तिनी के गर्भ में एवं अंडे में रही हुइ तरल अवस्था में भी अव्यक्त चेतना स्वीकार की गई है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि- पानी में चेतना का अस्तित्व है । द्रवित होने मात्र से उसे निर्जीव कहना सर्वथा अनुचित है ।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व को इन्कार करना, **अपलाप** कहा जाता है, उसी तरह अनुभव सिद्ध अप्काय की सजीवता का निषेध करना भी **अभ्याख्यान** या अपलाप कहलाता हैं । जो अप्काय के अस्तित्व का अपलाप करते हैं, वे उसके आरम्भ-समारम्भ से नहीं बच सकते और उसके आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त न होने के कारण, वे **अज्ञानी लोग** फिर संसार में परिभ्रमण करते हैं, और जो **साधु लोग** उसकी सजीवता को जानते हैं, वे उसका अपलाप नहीं करते, और उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके संसार सागर से पार हो जाते है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार

महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ २४ ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्म-समारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ । तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघाय-हेउं से सयमेव उदयसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणति । तं से अहियाए, तं से अबोहीए । से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति- एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूपरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ । से बेमि, संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ॥ २४ ॥

II संस्कृत-छाया :

लज्जमानाः पृथक् पश्य, अनगाराः वयं इति एके प्रवदन्तः, यदिदं विरूप-रूपैः शस्त्रैः उदक-कर्मसमारम्भेण उदकशस्त्रं समारभमाणः अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य एव जीवितव्यस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थं जाति-मरणमोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव उदकशस्त्रं समारभते, अन्यैः वा उदकशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् च उदकशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते, तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधिलाभाय, सः एतद् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके, इह एकेषां ज्ञातं भवति- एषः खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एषः खलु मारः, एषः खलु नरकः, इत्येवमर्थं गृद्धः लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण उदकशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति । सः अहं ब्रवीमि- सन्ति प्राणिनः उदकनिश्रिताः जीवाः अनेके ॥ २४ ॥

III शब्दार्थ :

हे शिष्य । **पास**–तूं देख । **पुढो लज्जमाणा**–अप्काय की हिंसा से लज्जा करते हुए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को । **एगे**–कोई-कोई अन्य मतावलम्वी । **अणगारामोत्ति**–हम अणगार हैं, इस प्रकार । **पवयमाणा**–कहते हुए । **जमिणं**–जो यह । **विरूवरूवेहिं**–अनेक प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **उदयकम्मसमारम्भेण**–अप्काय संबन्धी आरम्भ करने से । **उदयसत्थं**–अप्कायिक शस्त्र का । **समारम्भमाणे**–प्रयोग करते हुए । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के । **पाणे**–जीवों की । **विहिंसइ**–हिंसा करते हैं । **तत्थ**–वहां । **खलु**–निश्चय से । **भगवता**–भगवान ने । **परिण्णा**–परिज्ञा-विवेक । **पवेदिता**–बताया है । **चेव इमस्स**–इसी । **जीवियस्स**–

जीवन के वास्तें । **परिवंदण**-प्रशंसा । **माणण**-सम्मान और । **पूयणाय**-पूजा के वास्ते । **जाइ-मरण-मोयणाए**-जन्म-मरण से छूटने के लिये और **दुक्ख पडिघाय** हेउं शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का नाश करने के लिये । **से**-वह । सयमेव स्वयं भी । **उदय सत्थं**-अप्कायिक शस्त्र का । **समारम्भति**-समारंभ करता है । **वा**-अथवा । **अण्णेहिं**-अन्य व्यक्ति से । **उदय सत्थं**-अप्कायिक शस्त्र का । **समारम्भवेति**-समारम्भ कराता है । **तथा-उदय सत्थं**-अप्कायिक शस्त्र का । **समारंभते**-समारम्भ करते हुए । **अण्णे**-अन्य व्यक्तियों का । **समणुजाणति**-अनुमोदन-समर्थन करता है । **तं**-वह अप्पकायिक समारम्भ। **से**-उस को । **अहियाए**-अहित कर होता है । **तं**-वह । **से**-उसको । **अबोहिए**-अबोध का आरण होता है । **से**-वह । **तं**-इस विषय में । **संबुज्झमाणे**-संबुद्ध हुआ प्राणी । **आयाणीयं**-उपादेय ज्ञान-दर्शनादि से । **समुट्ठाय**-सम्यक्तया उठ,कर या सावधान होकर । **सोच्चा**-सुनकर। **भगवतो**-भगवान से या । **अणगाराणां**-अनगारों के । **अन्तिए**-समीप से । **इहं**-इस संसार में । **एगेसिं**-किसी किसी व्यक्ति को । **णायं**-ज्ञात । **भवति**-होता है । **एष खलु**-यह निश्चय ही । **एस**-यह अप्कायिक समारम्भ । **गंथे**-अष्ट विध कर्मो की गांठ है । **एस खलु**-यह निश्चय ही। **मोहे**-मोह का कारण है । **एस खलु**-यह निश्चय ही । मारे-मृत्यु का कारण है । **एस खलु**-यह निश्चय ही । **णरए**-नरक का कारण होने से नरक रूप है । **इत्थं**-इस प्रकार विषयों में। **गड्ढिए लोए**-मूर्च्छित लोक । **जमिणं**-इस अप्काय का । **विरूवरूवेहिं**-अनेक तरह के। सत्थेहि-शस्त्रों से । उदयकम्म समारम्भेण-अप्कायिक कर्म के समारंभ से । **उदयं सत्थं**-अप्काय शस्त्र का । **समारम्भमाणे**-समारंभ-प्रयोग करते हुए । **अण्णे**-अन्य । **अणेग रूवे**-अनेक तरह के । **पाणे**-प्राणियों की । **विहिंसई**-विविध प्रकार से हिंसा करता है । **से**-वह। **बेमि**-मैं कहता हूं। **पाणा**-प्राणी । **उदय निस्सिया**-अप्काय के आश्रित । **अणेगे**-अनेक । **जीवा**-जीव । **संति**-विद्यमान है ।

IV सूत्रार्थ :

हे शिष्य ! लज्जित हो रहे शाक्य आदि साधुओंको देखो ! कि- जो "हम अणगार हैं" ऐसा कहते हुए वे विभिन्न प्रकारके शस्त्रोंसे उदक (जल) की विराधना द्वारा जलके शस्त्रका प्रयोग करतें हुए अनेक प्रकारके जीवोंकी हिंसा करतें हैं... यहां परमात्मा श्री महावीर प्रभुने परिज्ञा कही है । इस क्षणिक जीवितके वंदन-मानन एवं पूजनके लिये, जन्म तथा मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये वह शाक्यादि साधु, स्वयं हि जलके शस्त्रका समारंभ करतें है, अन्योंके द्वारा जलके शस्त्रोंका समारंभ करवातें हैं तथा स्वयं हि जलके शस्त्रोंका समारंभ करने वाले अन्योंका अनुमोदन करतें हैं... किंतु यह समारंभ उनके अहितके लिये एवं अबोधिके लिये होता है.. इस बातको जानकर संयमको स्वीकार करके परमात्मासे या साधुओंसे सुनकर यह जानतें हैं कि- यह अप्काय-समारंभ निश्चित हि ग्रंथ है, मोह है, मार है एवं

नरक है... अप्कायके समारंभमें अतिशय आसक्त मनुष्य विभिन्न प्रकारके शस्त्रोंसे उदक-कर्मसमारंभके द्वारा उदकशस्त्रका समारंभ करते हुअे अन्य अनेक प्रकारके जीवोंकी हिंसा करतें हैं... वह मैं कहता हुं कि- जलका आश्रय लेकर और भी अनेक जीव जलमें रहते हैं ॥ २४ ॥

V टीका-अनुवाद :

हे शिष्य ! अपने प्रव्रज्याके देखावको करते हुए अथवा तो सावद्य अनुष्ठानसे लज्जित होनेवाले उन शाक्य उलूक-कणभूक्-कपिल आदि मतवाले साधुओंको देखो ! यहां वाक्यमें अविवक्षित कर्म है... जैसे कि- "देखो, मृग दौडता है" यहां द्वितीया के अर्थमें प्रथमा विभक्ति हुइ है... यहां भावार्थ यह है कि- सावद्य (पाप) अनुष्ठानवाले प्रव्रज्या लीये हुए विभिन्न शाक्य आदि मतवाले साधुओंको हे शिष्य ! तुम देखो ! वे कहते हैं कि- "हम अनगार (साधु) हैं" फिर भी वे शाक्यादि साधुओं विविध प्रकारके वृक्षसिंचन, अग्नि इत्यादि शस्त्रोंसे स्वकाय परकाय एवं उभयकायादि विभिन्न शस्त्रोंसे उदक = जलके कर्मका समारंभ करतें हैं, उदक-कर्मके समारंभके द्वारा अनेक प्रकारके वनस्पति आदि तथा बेइंद्रिय आदि जीवोंकी विविध प्रकारसे हिंसा करतें हैं (जलमें अन्य शस्त्र अथवा जल हि जलका शस्त्र हो ऐसा समारंभ करतें हैं)

यहां निश्चित प्रकारसे परमात्माने परिज्ञा कही है, जैसे कि- इसी जीवितव्यके वंदन, सन्मान एवं पूजा के लिये, जन्म तथा मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये वे स्वयं हि जलमें शस्त्रका प्रयोग करतें हैं, अन्योंके द्वारा जलमें शस्त्रका प्रयोग करवातें हैं, और जो लोग स्वयं हि जलमें शस्त्रका प्रयोग करतें हैं, उनकी अनुमोदना करतें हैं... तो अब यह जलका समारंभ उनके अहितके लिये और अबोधिके लिये होता है... ऐसा जानकर वह संयमका स्वीकार करके परमात्मासे या तो साधुओंसे सुनकर यह जानता है कि- यह अप्कायका समारंभ, **ग्रंथ** है याने आठों कर्मोके बंधका कारण है, तथा यह अप्कायका समारंभ, **मोह** है, **मार** है, तथा **नरक** है...

अप्कायके समारंभमें अतिशय आसक्त **मनुष्य** जो यह विभिन्न प्रकारके शस्त्रोंसे उदक-कर्मके समारंभके द्वारा उदकमें शस्त्रका प्रयोग करता हुआ अन्य अनेक प्रकारके जीवोंकी विविध प्रकारसे हिंसा करता है

अप्काय जीवोंकी अनेक प्रकारकी बातें प्रभुजीसे जानकर मैं (सुधर्मास्वामी) तुम्हे कहता हुं कि- जलका आश्रय लेकर पोरा, मच्छलीयां आदि अनेक जीव होतें हैं, अतः जलका आरंभ करनेवाला मनुष्य उन जीवोंकी भी हिंसा करता है, अथवा तो यहां अनेक जीव ऐसा कहनेसे यह अर्थ निकलेगा कि- जलका आश्रय लेकर अनेक प्रकारके जलचर जीव होते हैं और उनके एक एक भेदमें भी असंख्य असंख्य जीव होते हैं, अतः अप्कायका आरंभ करनेवाला पुरुष जलमें रहे हुए उन सभी जीवोंकी हिंसा करनेवाला होता है...

शाक्य आदि मतवाले जलमें रहे हुए बेइंद्रिय आदि जीवोंका स्वीकार करते हैं, किंतु जल हि जीवका शरीर है ऐसा नहि मानतें... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार, इस तरह पांचो आचार का वर्णन कर दिया है । अप्कायिक जीवों की सजीवता का सम्यक्‌बोध प्राप्त करना, ज्ञानाचार है; उस की सजीवता पर दृढ विश्वास एवं श्रद्धा रखना दर्शनाचार है, उसकी हिंसा का परित्याग करना चारित्राचार है और उनकी रक्षा के लिए धर्मध्यान स्वरूप तपश्चर्या में प्रयत्न करना वीर्याचार है । इस तरह एक सूत्र में पंचाचार का समन्वय कर दिया है । यह **पंचाचार** ही संयम के आधार हैं । इन से संयुक्त जीवन ही मुनि जीवन है ।

कुछ लोग अप्कायिक जीवों के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर भी अपने आप को अनगार कहते हैं । वे भले ही अपने आपको कुछ भी क्यों न कहें ? परन्तु वास्तव में वे अनगार नही हैं । क्योंकि अभी तक उन्हें न तो अप्काय में जीवत्व का बोध है और न वे उसके आरम्भ-समारम्भ के त्यागी है । अतः वे अभी अनगारत्व से बहुत दूर है ।

'से बेमि' में प्रयुक्त हुआ 'से' शब्द आत्मा (अपने आप) का बोधक है । इसलिए 'से बेमि' का तात्पर्य हुआ कि- 'मैं कहता हूं ।'

अप्काय भी पृथ्वीकाय की तरह, प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों के पिण्ड रूप एवं अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगहना वाले हैं । इस लिए उनके स्वरूप को भली-भांति ज़ानकर मुमुक्षु को सदा उसकी हिंसा से बचना चाहिए । अप्कायिक आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से सदा दूर रहना चाहिए । जिससे उनका संयम भी शुद्ध रहेगा और उन्हें आध्यात्मिक शान्ति भी प्राप्त होगी ।

अन्य **दार्शनिक** जल के आश्रित रहे हुए जीवों को तो मानते हैं, परन्तु जल को सजीव नहीं मानतें । अतः इस बात की स्पष्टता के लिए, सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ २५ ॥

इहं च खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया, सत्थं च इत्थं अणुवीइ पास ॥ २५ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह च खलु भोः ! अनगाराणां उदकजीवाः व्याख्याताः, शस्त्रं च एतस्मिन् अनुविचिन्त्य पश्य ॥ २५ ॥

III शब्दार्थ :

खलु-अवधारण अर्थ में । **इह**-इस-तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित आगम में । **अणगाराणं**-अनगारों को । **उदय जीवा**-अप्पकाय स्वयं सजीव है, यह । **वियाहिया**-कहा गया है । **च**-चकार से अप्कायिक जीवों के अतिरिक्त उसके आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रिय आदि अन्य जीवों का ग्रहण किया गया है । **च**-अवधारण अर्थ में है । **सत्थं**-शस्त्र । **एत्थं**-इस अप्काय में । **अणुवीइ**-विचार कर। **पास**-हे शिष्य । तू देख ।

IV सूत्रार्थ :

यहां जिन-प्रवचनमें हे शिष्य ! निश्चित हि प्रकारसे साधुओंको अप्काय-जीवोंकी पहचान करवाइ है... और यहां अप्कायमें जो जो शस्त्र होते हैं उन्हें विचार करके देखीयेगा... ॥ २५ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां जिन-प्रवचन स्वरूप द्वादशांगीमें साधुओंको जलके जीव अप्काय और जलमें रहनेवाले पूतरक, छेदनक, लोद्दणक, भ्रमरक, मत्स्य आदि जीव है, और उनके छेदन-भेदनका फल कर्मबंध भी कहा गया है... अन्य मतमें उदक स्वरूप अप्काय जीवोंका स्वरूप नहि बताया है...

प्रश्न- यदि अप्काय स्वयं हि जीव है तब तो उनके उपभोगमें अवश्य हि प्राणातिपात नामका दोष जिन-मतके साधुओंको भी लगता हि है...

उत्तर- ना, ऐसा नहिं है, क्योंकि- अप्कायके तीन (3) प्रकार है (१) सचित्त, (२) मिश्र, (3) अचित्त... उनमें जो **अचित्त अप्काय** है, उनका हि उपभोग, साधुओंको बतलाया है, शेष दो प्रकार **सचित्त** और **मिश्र अप्काय** का उपभोग साधु-लोग नहिं करतें...

प्रश्न- अप्काय (जल) अचित्त कैसे होता है ? क्या स्वभावसे हि ? क्या शस्त्रके उपघात से ?

उत्तर- दोनों प्रकारसे अप्काय अचित्त होता है... उनमें जो अप्काय स्वभावसे हि अचित्त होता है, उन्हे केवल ज्ञानी मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी और विशिष्ट श्रुतज्ञानी जानते हुए भी उनका उपभोग नहिं करतें क्योंकि- यहां अनवस्था याने गलत परंपरा स्वरूप दोषका संभव हो शकता है... और ऐसा सुननेमें भी आता है कि- एक बार श्री वर्धमान स्वामीजीने भी तृषासे पीडित अपने शिष्योंको निर्मल जलसे भरे हुए तरंगित सरोवरके शेवाल एवं त्रस जीवोंसे रहित ऐसे अचित्त जलको पीनेका आदेश नहिं दीया... तथा अचित्त तिलको खानेका भी अनुज्ञा नहिं दी... क्योंकि- गलत परंपरा स्वरूप अनवस्था

- दोष की यहां संभावना थी... और श्रुतज्ञान हि प्रमाण (मान्य) है ऐसा विधान करनेके लिये हि परमात्माने स्वभावसे हि अचित्त ऐसे जल तथा तिलका उपभोग करनेका आदेश नहिं दीया...

सामान्य श्रुतज्ञानीओंका ऐसा व्यवहार है कि- बाह्य इंधन-अग्निके संपर्कसे उबाला हुआ जल हि अचित्त होता है, अग्निके संपर्क बिना नहिं... इसीलिये बाह्य अग्नि आदि शस्त्रके संपर्कसे हि अचित्त बना हुआ एवं वर्णांतरको पाया हुआ हि जल आदि साधुओंको उपभोगके लिये कल्प्य है...

अब अप्कायका शस्त्र कौन है वह कहतें हैं... जीससे जीवोंकी हिंसा हो, उसे शस्त्र कहतें हैं, और वह उत्सिंचन, गालन, और वस्त्र तथा पात्र आदि उपकरणोंका धोना इत्यादि स्वकाय, परकाय एवं उभयकायादि शस्त्र हैं कि- जीससे पूर्व अवस्थासे विलक्षण = भिन्न प्रकारके वर्णादिकी उत्पत्ति हो... वह इस प्रकार- अग्निके पुद्गलोंके संपर्कसे श्वेत जल कुछ पिंगल (पीला-लाल) वर्णका बनता है... स्पर्शसे शीत जल अग्निके संपर्कसे उष्ण बनता है... और गंधसे वह जल धूमगंधि होता है एवं रससे कुछ विरस बनता है... इस प्रकार तीन बार उबाला (उफान आया) हुआ जल अचित्त होता है... ऐसा अचित्त जल = अप्काय हि साधुओंको कल्पता है, सचित्त या मिश्र जल नहिं कल्पता... तथा कचरा (धूली) बकरेकी लींडीयां, गोमूत्र एवं क्षार आदि इंधनके संपर्कसे जल अचित्त होता है... यहां चतुर्भंगी होती है...

१.	थोडे जल में	थोडा	कचरा	आदि इंधन
२.	"	बहुत	"	"
3.	बहुत जल में	थोडा	"	"
४.	"	बहुत	"	"

इसी प्रकार थोडे, मध्यम एवं बहुत के भेदसे अनेक भेद होते हैं... इस प्रकार स्वकाय शस्त्र, परकाय शस्त्र एवं उभयकाय शस्त्र ऐसे तीन प्रकारके शस्त्र होतें हैं...

इनमेंसे कोइ भी प्रकारके शस्त्रसे अचित्त बना हुआ जल हि साधु-लोग ग्रहण करतें है, अचित्त न हुआ हो ऐसे जलका उपयोग साधु नहि करतें...

इस प्रकार हे शिष्य ! देखो... अप्काय के विषयमें विचार करके, विविध प्रकारके शस्त्रोंमें से, यह इनका शस्त्र है, ऐसा यहां प्रतिपादन कीया है...

अब इसी बातको सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- अप्काय-जल सजीव है, सचेतन है। और इस बात को केवल जैन दर्शन ही मानता है । अन्य दर्शनों ने जल में दृश्यमान एवं अदृश्यमान अन्य जीवों के अस्तित्व को स्वीकारा है । परन्तु जल स्वयं सजीव है, इस बात को जैनों के अतिरिक्त किसी भी विचारक या दार्शनिक ने नहीं माना । वस्तुतः पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवों की सजीवता को प्रमाणित करके जैन दर्शन ने अध्यात्म विचारणा में एक नया अध्याय जोड़ दिया और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम सर्वज्ञ प्रणीत हैं ।

प्रश्न- यदि अप्काय-जल सजीव है, असंख्यात जीवों का पिण्ड है, तो फिर उसका उपयोग करने पर उसकी हिंसा होगी ही । और जल का उपयोग दुनिया के सभी मनुष्य करते हैं, साधु भी उसका उपयोग करते ही हैं । ऐसी स्थिति में वे अप्कायिक जीवों की हिंसा से कैसे बच सकते हैं ?

उत्तर- जैनागमों में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है । पानी तीन प्रकार का बताया गया है-१-सचित्त-जीव युक्त, २-अचित्त-निर्जीव और ३-मिश्र, सजीव और निर्जीव का मिश्रण । इस में सचित्त और मिश्र यह दो तरह का पानी साधु के लिए अग्राह्य है । किन्तु अचित्त जल, जिसे प्रासुक पानी भी कहते हैं, साधु के लिए ग्राह्य बताया गया है । क्योंकि उसमें सजीवता नहीं होने से वह निर्दोष है । आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करने में साधु को हिंसा नहीं होती । क्योंकि- साधु की प्रत्येक क्रिया यतना एवं विवेक पूर्वक होती है। साधुजन अनावश्यक कोई क्रिया नहीं करतें । इस लिए साधुओंको पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है ।

यहां इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि- बाह्य शस्त्र के प्रयोग से परिणामान्तर को प्राप्त जल अचित्त-निर्जीव होता है । यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ २६ ॥

पुढो सत्थं पवेइयं ॥ २६ ॥

II संस्कृत-छाया :

पृथक शस्त्रं प्रवेदितम् ॥ २६ ॥

III शब्दार्थ :

पुढो-पृथक्-पृथक् । **सत्थं**-शस्त्र । **पवेइयं**-कहे हैं।

IV सूत्रार्थ :

अप्काय के विविध प्रकारके शस्त्र कहे गये हैं ॥ २६ ॥

V टीका-अनुवाद :

परमात्माने जल (अप्काय) के विविध प्रकारके उत्सेचनादि शस्त्र कहे है अथवा तो पाठांतरसे - विविध प्रकारके शस्त्रोंके द्वारा परिणत याने अचित्त हुओ जल का उपभोग कर्मबंधका कारण नहिं बनता. अपाश याने अबंधन है, अर्थात्- साधुओंको सचित्त तथा मिश्र अप्कायको छोडकर अचित्त अप्कायका उपभोग बतलाया है... क्योंकि- ऐसी स्थितिमें कर्मबंधन नहि होतें... तथा जो शाक्य आदि मतवाले साधुलोग सचित्त अप्कायके उपभोगमें प्रवृत्त होतें हैं, वे अप्कायके जीवोंकी हिंसा करतें हैं और जलमें रहे हुए अन्य मच्छलीयां आदि जीवोंकी भी हिंसा करतें हैं...

ऐसा करनेसे केवल प्राणातिपात स्वरूप पाप हि लगता है, ऐसा नहिं, किंतु और भी पाप लगतें हैं... यही बात अब, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- शस्त्रों के प्रयोग से **अप्काय-जल** अचित्त हो जाता है । वे शस्त्र है कि-जिनके द्वारा अप्काय निर्जीव होता है, और वे शस्त्र तीन प्रकार के बताए गए हैं-१-स्वकाय रूप, २-पर काय रूप और ३-उभयकाय स्वरूप अर्थात् अप्काय का शरीर भी अप्काय के लिए शस्त्र हो जाता है और दूसरे पृथ्वीकाय आदि तीक्ष्ण निमित या साधनों से भी अप्काय-जल निर्जीव हो जाता है ।

जैनागमों ने जीवों का आयुष्य दो प्रकार का माना है-१-निरुपक्रमी और २-सोपक्रमी। जिन प्राणियों का आयुष्य जितने समय का बन्धा है, उतने समय के बाद ही वे अपने प्राणों का त्याग करते हैं, अर्थात उसके पहले उनकी मृत्यु नहीं होती, उसे निरुपक्रमी आयुष्य कहते हैं अर्थात् किसी उपक्रम या आघात के लगने पर भी उनका आयुष्य तूटता नहीं है, और जो सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव होते हैं, उनका आयुष्य शस्त्र आदि का निमित्त मिलने पर जल्दी भी समाप्त हो सकता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि वे अपने बांधे हुए आयुकर्म को पूरा नहीं भोगते। आयुकर्म को तो वे पूरा ही भोगते हैं, यह बात अलग है कि बहुत देर तक भोगने वाले आयुष्य को वे किसी निमित्त कारण शीघ्र ही भोग लेते हैं । जैसे तेल से भरा हुआ दीपक रात्रि पर्यन्त जलता रहता है, परन्तु यदि उसमें एक वर्तिका के स्थान में दो, तीन या दस-बीस वर्तिका लगा दी जाएं तो वह जल्दी ही बुझ जाएगा । रात्रि पर्यन्त चलने वाला तेल अधिक वर्तिका का निमित्त मिलने से जल्दी ही समाप्त हो जाता है । इसी तरह कुछ निमित्त या शस्त्र प्रयोग से सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव भी अपने आयुकर्म को जल्दी ही भोग लेते हैं । अप्काय

के जीव प्रायः सोपक्रमी आयुष्य वाले होते हैं, अतः शस्त्र का निमित्त मिलने से वे निर्जीव हो जाते हैं । और उस निर्जीव पानी का उपयोग करने में साधु को हिंसा नहीं लगती ।

कुछ प्रतियों में "पुढ़ो सत्थं पवेइयं" के स्थान में "पुढ़ोऽपासं पवेइयं" पाठ भी मिलता है । उक्त पाठान्तर में 'शस्त्र' के स्थान में 'अपाश' शब्द का प्रयोग किया है । अपाश का अभिप्राय है-अबन्धन अर्थात् जिस से कर्म का बन्धन न हो उसे अपाश कहते हैं । इस दृष्टि से पूरे वाक्य का अर्थ होता है-विभिन्न प्रकार के शस्त्र प्रयोग से निर्जीव बना हुआ जल अपाश होता है अर्थात् उसका आसेवन करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता, इस प्रकार भगवान ने कहा है ।

जब शस्त्र प्रयोग से अप्काय पानी अचित्त हो जाता है । तो जंगल आदि स्थलों में स्थित पानी धूप-ताप आदि के संस्पर्श से अचित्त हो जाता है, तो क्या साधु उस पानी को ग्रहण कर सकता है ?

नहीं, साधु उस पानी को भी स्वीकार नहीं करता । क्योंकि- एक तो ज्ञान की अपूर्णता के कारण साधु इस बात को भली-भांति जान नहीं सकता कि- वह अचित्त हो गया है । और दूसरे में यह व्यवहार भी ठीक नहीं लगता । इसी दृष्टि से वृत्तिकार ने लिखा है कि-

"यतो नु श्रूयते-भगवता किल श्री वर्द्धमान स्वामिना विमल सलिल समुल्लसत्तरंगः शैवल पटल त्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेष जल जन्तुकोऽचित्त वारि परिपूर्णः स्वशिष्याणां तुड् बाधितानामपि पानाय नानुजज्ञे"

अर्थात् सुना है-कि भगवान महावीर वर्द्धमान स्वामी ने अपने शिष्यों को-जो तृषा से व्याकुल हो रहे थे, और तालाव का पानी निर्जीव था, तो भी पीने की आज्ञा नहीं दी । इसका कारण व्यवहार शुद्धि रखने का ही है ।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सचित्त जल का उपयोग नहीं करना चाहिए। इसमें केवल अप्कायिक जीवों की हिंसा रूप प्राणातिपात पाप ही नहीं, अपितु अदत्तादान-चोरी का पाप भी लगता है । यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ २७ ॥

अदुवा अदिण्णादाणं ॥ २७ ॥

II संस्कृत-छाया :

अथवा अदत्तादानम् ॥ २७ ॥

III शब्दार्थ :

अदुवा–अथवा । **अदिन्नादाणं**–अदत्तादान-चोरी का भी दोष लगता है ।

IV सूत्रार्थ :

हिंसा के साथ साथ अदत्तादान (चोरी) का पाप भी लगता है... ॥ २७ ॥

V टीका-अनुवाद :

शस्त्रसे उपहत नहिं हुए अप्कायके उपभोगसे केवल हिंसा हि होती है, ऐसा नहिं है, किंतु अदत्तादान याने चोरीका भी दोष लगता है... क्योंकि- जिन अप्काय-जीवोंने जो जल स्वरूप शरीर बनाया है, उन अप्काय जीवोंकी अनुमतिके बिना हि वे शाक्यादि साधु उनका उपभोग करतें हैं, अतः उन्हे हिंसा के साथ साथ चोरीका भी दोष लगता है...

जैसे कि- कोइक मनुष्य जीवंत ऐसे शाक्य मतवाले साधुके शरीरमें से एक अंगको छेदकर ले लेता है, तब वह उन्हें अदत्त हि है, क्योंकि- उस शाक्य भिक्षुकने उन्हे अंग छेदनेकी अनुमति नहिं दी है... और वह अंग उन शाक्य भिक्षुकोंने ग्रहण कर रखे है... अतः दूसरोंकी गाय-बैल आदिको ग्रहण करनेकी तरह यहां भी चोरी (अदत्तादान) का दोष लगता है... इसी प्रकार उन अप्काय जीवोंने जो जल स्वरूप शरीर ग्रहण कीया है, अतः उनकी अनुमति के बिना अप्कायका उपभोग करनेवालोंको भी चोरी = अदत्तादान का दोष लगता है, क्योंकि- अप्काय जीवोंने अपने शरीरके उपभोगकी अनुमति नहिं दी है...

प्रश्न- किंतु यह कूआ तालाब आदि जिस मनुष्यका है, उसने तो एकबार अनुमति दी है, अतः अदत्तादान (चोरी) का दोष नहिं लगेगा... क्योंकि- पशुके मालिक (स्वामी) की अनुज्ञासे पशुके घातके समान, उन कूए आदिके स्वामीने अनुज्ञा दी है...

उत्तर- ना, इस प्रकार दी हुई अनुज्ञा, अनुज्ञा नहि कही जाएगी, क्योंकि- पशु भी मरना नहिं चाहता है, तो भी चिल्लाते हुए उस पशुको वह अनार्य मनुष्य मारता है... इसलिये यहां भी पशु अपना शरीर देना नहिं चाहते हुए भी उसे मार कर शरीरका उपभोग करना यह स्पष्ट हि अदत्तादान हि है... और हकीकतमें अन्यकी वस्तुका, अन्य स्वामी नहिं हो शकता...

प्रश्न- यदि ऐसा हो तब तो संपूर्ण लोकमें प्रसिद्ध ऐसा गोदान (गायका दान) इत्यादि व्यवहार नष्ट हो जायेगा...

उत्तर- नष्ट होने दो, ऐसे पाप के संबंधको... क्योंकि- दान वह हि कहा जाता है कि- जहां स्वयं दुःखी न हो, दासी, बैल आदिकी तरह... और जहां अन्यको भी दुःख न हो...

हल, खड्ग (तलवार) आदि की तरह...

इनसे भिन्न जहां दाताको और लेनेवालेको (ग्रहण करनेवालेको) एकांतसे हि देय वस्तु उपकारक ऐसा ही दान **जिन-मत** (आगम) में मान्य है.. अन्यत्र भी कहा है कि- जहां स्वयं दुःखी न हो, और अन्यके दुःखमें भी निमित्त न बने... किंतु केवल (मात्र) उपकार करनेवाला हो वह हि धर्मके लिये दान कहा गया है...

इतनी बातसे यह निश्चित हुआ कि- शाक्य आदि मतवाले साधुओंको सचित्त अप्कायके उपभोगमें हिंसा तथा अदत्तादान का दोष लगता हि है...

अब इन दो दोषोंको आगम सूत्रके माध्यमसे अन्य मतका परिहार करते हुए, सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

जैनागमों में साधु के लिए हिंसा एवं आरंभ-समारंभ का सर्वथा त्याग करने की बात कही है और हिंसा की तरह झूठ, चोरी आदि दोषों से भी सर्वथा दूर रहने का आदेश दिया है । साधु सचित्त या अचित्त, छोटी या बड़ी कोई भी चीज़ बिना आज्ञा स्वीकार नहीं करता। वह चौर्य कर्म का सर्वथा त्यागी है ।

सचित्त जल को ग्रहण करने में जीवों की हिंसा भी होती है और चोरी भी लगती है। क्योंकि- अप्काय के शरीर पर उन अप्काय जीवों का हि अधिकार है । क्योंकि- प्रत्येक प्राणी को अपना शरीर, अपना जीवन प्रिय होता है, वह उसे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहता । जैसे हमें अपना शरीर प्रिय है, हम उस में ज़रा सा अंग भी किसी को काट कर नहीं देना चाहते । वैसे ही अप्कायिक जीव भी स्वेच्छा से अपना शरीर किसी को भी उपयोग के लिए नहीं देते । अतः उनकी बिना आज्ञा से सचित्त जल का उपयोग करना चोरी भी है ।

तर्क दिया जा सकता है कि जल आदि की उत्पत्ति हमारे उपयोग के लिए हुई है । अतः उसका उपयोग करने में चोरी एवं दोष जैसी क्या बात है ? यह केवल तर्क मात्र है। क्योंकि संसार में विष, आदि अन्य पदार्थ भी उत्पन्न हुए हैं । फिर उनका भी उपयोग करना चाहिए क्योंकि सभी पदार्थ उपयोग के लिए उत्पन्न हुए हैं । परन्तु विष का उपयोग कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं करता । दूसरी बात यह है कि जैसे मनुष्य यह तर्क देता है, उसी तरह हिंसक जन्तु भी तर्क देने लगें कि मनुष्य के शरीर का निर्माण हमारे खाने के लिए हुआ है, तो मनुष्य को कोई आपत्ति तो नहीं होगी ? परन्तु मनुष्य अपने लिए यह नहीं चाहता । फिर अप्काय के लिए यह तर्क देना, केवल मोहांधता ही है ।

यदि कोई साधु कूए या वावडी के मालिक की आज्ञा लेकर पानी का उपयोग कर ले तो इसमें तो उसे चोरी का दोष नहीं लगेगा ? हमें ऊपर से मालुम होता है कि हम ने आज्ञा ले ली, परन्तु, वास्तव में ऐसी स्थिति में भी चोरी है । क्योंकि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अप्काय के शरीर पर तो उसी अप्काय जीवों का अधिकार है । कुएं के मालिक ने तो ज़बरदस्ती अपना अधिकार जमा रखा है । उन्हों ने अपना जीवन स्वेच्छा से उसे नहीं सौप दिया है । अतः कुएं के मालिक से पूछ कर भी सचित्त पानी का उपयोग करना चोरी है ।

अप्काय के जीवों की आज्ञा नहीं है और साथ में तीर्थंकर भगवान की भी सचित्त पानी का उपभोग करने की आज्ञा नहीं है । यहां तक कि प्राण भी चले जाएं तब भी साधु सचित्त जल पीने का विचार तक न करें । अतः सचित्त जल का उपयोग करना **जिन-आज्ञा** का उल्लंघन करना है, इस लिए इसे भगवान की आज्ञा का भंग भी माना गया है ।

यह सारा आदेश साधु के लिए है, गृहस्थ के लिए नहीं । क्योंकि साधु एवं गृहस्थ की अहिंसा में अन्तर है । साधु हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है और गृहस्थ उसका एक देश से त्याग करता है । वह एकेन्द्रिय की हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता और त्रस जीवों की हिंसा में भी वह निरपराधी प्राणियों की निरपेक्ष बुद्धि से हिंसा करने का त्याग करता है। अर्थात् शेष हिंसा का त्याग नहीं होता, क्योंकि- अपने परिवार एवं देश पर आक्रमण करने वाले शत्रु के आक्रमण का मुकाबला-सामना करना, गृहस्थ के लिए अनिवार्य है । साधु को एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों की हिंसा का त्याग होता है । जैसे साधु और गृहस्थ के जीवन में अहिंसा की साधना में अंतर रहा हुआ है, उसी तरह अचौर्य व्रत में भी अन्तर है। साधु को सचित्त जल का त्याग है, इस लिए उसका उपभोग करने में हिंसा के साथ चोरी भी लगती है । परन्तु गृहस्थ ने अभी ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग नहीं किया है ।

अतः प्रस्तुत सूत्र में साधु के लिए यह निर्देश किया है कि- **साधु** सचित्त जल का उपभोग न करे । क्योंकि- अप्काय-जल का आरंभ-समारंभ करने में हिंसा होती है और साथ में चोरी का भी दोष लगता है । अन्य सांप्रदायिक विचारकों का इस विषय में क्या मन्तव्य है, यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ २८ ॥

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए ॥ २८ ॥

II संस्कृत-छाया :

कल्पते नः कल्पते नः पातुम्, अथवा विभूषायै ॥ २८ ॥

III शब्दार्थ :

कप्पइ–कल्पता है । **णे**–हम को । **कप्पइ**–कल्पता है । **पाउं**–पीने के लिए । **अदुवा**–अथवा । **विभूसाए**–विभूषा के लिए ।

IV सूत्रार्थ :

हम लोगोंको जल पीनेके लिये कल्पता है, अथवा विभूषाके लिये भी कल्पता है...

V टीका-अनुवाद :

सचित्त जलका उपभोग करनेवाले **शाक्य** आदि मतवाले साधुओंको मनाइ करने पर वे कहते हैं कि- हम अपने मनसे (इच्छासे) इन अप्काय-जलका समारंभ नहिं करतें हैं, किंतु हमारे शास्त्रमें यह **जल** निर्जीव मानकर, उनके उपभोगकी मनाइ नहिं की है... अतः हम साधुओंको पीना कल्पता है, और यह पद दो बार कहनेसे विविध प्रकारके प्रयोजनको लेकर उपभोगकी भी अनुज्ञा दी है... जैसे कि- आजीविक- भस्म- न्यायादि मतवाले कहतें हैं कि- हमें जल पीना कल्पता है, स्नान करना नहि कल्पता... शाक्य- परिव्राजक आदि मतवाले कहतें हैं कि- स्नान, जलपान, एवं अवगाहन (डूबकी लगाना) इत्यादि हमें कल्पता है... यही बात विस्तारसे कहतें हैं... हमारे शास्त्रमें विभूषाके लिये जलका उपभोग करनेका फरमान दीया है... विभूषा याने हाथ-पाउं-मुख-लघुनीति-(पेसाब-मूत्रेंद्रिय) वडीनीति (मल विसर्जन-गुदा) इत्यादि धोनेका फरमान है, तथा वस्त्र-पात्र आदि भी धोनेका फरमान है... इस प्रकार स्नान आदि शौचविधि करनेमें कोइ दोष नहिं है... इस प्रकार वे कुमतवाले **परिव्राजक** आदि अपने शास्त्रको आगे करके, पाप-वचनोंसे मुग्ध (भोले-भाले) मनुष्योंको मोहित करने के लिए क्या कहतें है, वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

जैनेतर परम्परा में सचित्त जल के संबन्ध में क्या व्यवस्था है, इस बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है । यह तो स्पष्ट है कि जल याने पानी की सजीवता को जैनों के अतिरिक्त किसी ने माना ही नहीं । इसलिए जैनेतर शास्त्रों में उसकी सजीवता एवं उसके निषेध का वर्णन नहीं मिलता । इस कारण जैनेतर परम्परा में प्रवृत्तमान साधु-संन्यासी सचित्त जल का उपभोग करते हुए संकुचाते नहीं, क्योंकि उन्हें इस बात का बोध ही नहीं कि यह भी जीव है, चेतन है । इसलिए वे उस की हिंसा से बचने का प्रयत्न न करके, सदा उसके आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहते हैं ।

सचित्त जल का उपयोग करने वाले विचारकों में भी मतैक्य नहीं है । आजीविक एवं भस्मस्नायी परम्परा के अनुयायी कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार सचित्त जल पीने

में कोई दोष नहीं है और न उसका निषेध ही किया है, परन्तु शारीरिक विभूषा के लिए उसका उपयोग करना अकल्पनीय है । किन्तु शाक्य और परिव्राजक संन्यासी स्नान एवं जलपान इन दोनों कार्यों के लिए सचित्त जल को कल्पनीय मानते हैं ।

यह ठीक है कि- जैनेतर परम्परा के विचारकों में पानी का उपयोग करने में एकरूपता नहीं है । कुछ सचित्त जल का केवल पीने के लिए उपयोग करते हैं, तो कुछ पीने एवं स्नान करने के लिए । जो भी कुछ हो, इतना अवश्य है कि उन्हें उनकी सजीवता का बोध नहीं है और न उन जीवों के प्रति उनके मन में रक्षा की भावना ही है । अतः उनका कथन युक्ति संगत नहीं है । और जिस आगम के आधार से वे सचित्त जल का उपभोग करते हैं, वह आगम भी आप्तसर्वज्ञ प्रणीत न होने से प्रमाणिक नहीं माना जा सकता । और अनुमानादि प्रमाणों से हम इस बात को स्पष्ट देख चुके हैं कि- जल में सजीवता है । इस लिए सचित्त जल के आसेवन को निर्दोष नहीं कहा जा सकता । अतः सूत्रकार महर्षि इस विषय में आगे का सूत्र कहेंगे....

I सूत्र ॥ ११ ॥ ॥ २९ ॥

पुढो सत्थेहिं विउट्टंति ॥ २९ ॥

II संस्कृत-छाया :

पृथक् शस्त्रैः व्यावर्त्तयन्ति (विविधं कुट्टन्ति) ॥ २९ ॥

III शब्दार्थ :

पुढो-पृथक् । **सत्थेहिं**-शस्त्रों से । **विउट्टिंत**-अप्काय के जीवों का नाश करते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

विविध प्रकारके शस्त्रोंके द्वारा अप्काय जीवोंकी हिंसा करतें हैं ॥ २९ ॥

V टीका-अनुवाद :

साधुके आभासको धारण करते हुए वे शाक्य आदि मतवाले उत्सेचन आदि प्रकारके विविध शस्त्रोंके द्वारा अप्काय जीवोंकी हिंसा करतें हैं... अथवा तो विविध प्रकारके (परकाय) शस्त्रोंसे अप्काय जीवोंका छेदन-भेदन करतें हैं...

अब **शाक्य** आदि मतवालोंके शास्त्रोंकी असारता बतलाने के लिए सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

यह हम पहले देख चुके हैं कि ज्ञान और आचार का घनिष्ट संबन्ध रहा हुआ है । ज्ञान के अभाव में आचार में तेजस्विता नहीं आ पाती । यह अंधे की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है । यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि जिन व्यक्तियों को पानी की सजीवता का परिज्ञान नहीं है, वे अनेक तरह के शस्त्रों से अप्काय-पानी के जीवों का नाश करते हैं ।

शस्त्र दो प्रकार के माने गए हैं- १-स्वकाय और २-परकाय । मधुर पानी के लिए क्षार जल तथा शीतल के लिए उष्णपानी स्वकाय शस्त्र है और राख-भस्म, मिट्टी, आग आदि परकाय शस्त्र कहलाते हैं । इन दो प्रकार के शस्त्रों से लोग अप्कायिक जीवों की हिंसा करके कर्मों का बन्ध करते हैं । आश्चर्य तो उन लोगों पर होता है, कि- जो अपने आपको साधु कहते हैं और समस्त प्राणियों की रक्षा करने का दावा करते हुए भी उक्त उभय शस्त्रों से अप्काय का विध्वंस करते हैं और उसके साथ अन्य स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा करते हैं । अतः उनका मार्ग **निर्दोष** नहीं कहा जा सकता ।

उनके मार्ग की सदोषता बताकर, अब **सूत्रकार** उन के आगमों की अप्रमाणिकता का उल्लेख करने के लिए आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ १२ ॥ ॥ 30 ॥

एत्थ वि तेसिं नो निकरणाए ॥ 30 ॥

II संस्कृत-छाया :

एतस्मिन् अपि तेषां न निश्चयाय ॥ 30 ॥

III शब्दार्थ :

एत्थऽवि-यहां पर भी । **तेसिं**-उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त-शास्त्र । **नो निकरणाए**-निर्णय करने में समर्थ नहीं है ।

IV सूत्रार्थ :

कुमतवालोंके शास्त्रोंमें भी उनको कोइ भी सही (सत्य) निश्चय नहिं हो शकता है ॥ 30 ॥

V टीका-अनुवाद :

प्रस्तुत ऐसे कुमतवालोंको अपने शास्त्रके अनुसार भी अपने माने हुए सूत्र क्रमांक २९

के अनुसार जो अप्कायके उपभोगमें प्रवृत्त हुए हैं, यह बात स्याद्वादकी युक्तिसे निराश कीया है... वह इस प्रकार- कुमतवालोंकी युक्तियां एवं उनके **शास्त्र** अप्कायके उपभोगकी बातको निश्चित नहिं कर शकतें...

जिनमत उन्हें प्रश्न करता है कि- कौन वह आपका शास्त्र है कि- जिसके आदेशसे आपको अप्कायका आरंभ (उपभोग) कल्पता है ? **कुमत** वाले कहतें हैं कि- विशिष्ट अनुक्रमसे लिखे हुए अक्षर-पद-वाक्यका समूह हि, हमारा **आगम** आप्त प्रणीत है... और वह नित्य तथा अकर्तृक है...

अब कुमतवालोंने माने हुए आप्त पुरुषका निराकरण करना चाहिये... वह इस प्रकार- आपका माना हुआ आप्त पुरुष वास्तवमें अनाप्त है... (आप्त नहिं है) क्योंकि- उन्होंने अप्काय जीवोंको पहचाना नहिं है, अथवा तो जल के उपभोगका आदेश देने के कारणसे, वे भी आपकी तरह **अनाप्त** हि है... क्योंकि- हमने अप्कायमें जीव की सिद्धि पहले कर दी है... इसलिये उन्होंने कहे हुए आगम-शास्त्र धर्मका नाश करनेवाले होनेके कारणसे तथा रथ्या-(अबुध) पुरुषकी तरह अनाप्तसे प्रणीत होनेके कारणसे **अप्रमाण** (अमान्य) हि है...

अब नित्य एवं अकर्तृक शास्त्र है, ऐसा मानने = स्वीकारने वाले कुमतवादीओंको जिनमत कहता है कि- आपके शास्त्रको नित्य कहना अशक्य है, क्योंकि- आपने माने हुए शास्त्र वर्ण (अक्षर), पद एवं वाक्य स्वरुप है, अतः सकर्तृक हि है... क्योंकि- आपन दोनोंको मान्य सकर्तृक ग्रंथ-संदर्भकी तरह, विधि एवं प्रतिषेध स्वरूप हि **शास्त्र** आपको भी मान्य तो हैं...

अथवा तो स्वीकार कर लें तो भी हम कहतें हैं कि- आकाश की तरह नित्य ऐसे आपके शास्त्र अप्रमाण (अमान्य) हि है... क्योंकि- प्रत्यक्ष आदि की तरह जो अनित्य है, वह हि प्रमाण (मान्य) है...

तथा "विभूषा" सूत्रके अवयवमें भी हमारे प्रश्नके उत्तर आप नहिं दे शकोगे... क्योंकि- काम-विकारके अंग होनेसे मंडन (अलंकार) की तरह स्नान भी साधुओंको योग्य (उचित) नहिं है... क्योंकि- स्नान, काम-विकारोंका अंग (कारण) है यह बात सभी लोग जानतें हैं... कहा भी है कि- स्नान, मद एवं दर्पका कारण है, तथा स्नान काम-विकारका प्रथम अंग है, इसीलिये इंद्रियोका दमन करनेवाले साधुलोग काम-विकारोंसे बचनेके लिये कभी भी स्नान नहिं करतें...

और शौच के लिये भी अप्कायका उपभोग करना श्रेष्ठ (उचित) नहिं है, क्योंकि- जलसे तो केवल (मात्र) बहारका हि मल दूर होता है... आत्माके अंदर रहे हुए कर्म-मलको दूर करनेके लिये जल समर्थ नहिं है... इसीलिये शरीर, वचन एवं मन के अशुभ कार्योका त्याग करना,

यही हि भाव-शौच (पवित्रता) है और यह भावशौच हि कर्म-मलको दूर करनेमें समर्थ है... यह भावशौच जलसे प्राप्त नहिं होता... क्योंकि- सदैव हि जलमें रहनेवाले मत्स्य (मच्छलीयां) आदि जलचर जंतुओ कभी भी मच्छली-आदिके कारण स्वरूप कर्मोंका नाश नहिं कर शकतें... यह अन्वय दृष्टांत कहा... अब व्यतिरेक दृष्टांत कहतें हैं कि- जलके बिना हि महर्षि-साधुलोग विविध प्रकारकी तपश्चर्याके द्वारा कर्म-मलको दूर करतें हैं... अतः यह बात निश्चित हुई कि- आपका **शास्त्र** कोइ भी सत्य का निश्चय करनेमें समर्थ नहिं है...

इस प्रकार निर्दोष रूपसे अप्काय जीव स्वरूप हि है, ऐसा प्रतिपादन (कह) करके अप्काय के उपभोगके विषयमें प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वरूप दो विकल्पोंके फल दिखानेके माध्यमसे इस तृतीय उद्देशकका उपसंहार करते हुए संपूर्ण उद्देशकका अर्थ (सार) सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

तत्त्व का निर्णय करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह के ज्ञान प्रमाण माने गए हैं । अनुमान आदि प्रमाणों के साथ आगम प्रमाण भी मान्य किया गया है। परंतु आगम वही मान्य है, जो आप्त पुरुष द्वारा कहा गया हो । क्योंकि उसमें विपरीतता नहीं रहती । इस कसौटी पर कसकर जब हम आजीविक आदि परम्पराओं के आगम को परखते हैं, वे सर्वज्ञ कथित प्रतीत नहीं होते ।

यथार्थ वक्ता को आप्त कहते हैं । क्योंकि उसमें रागद्वेष नहीं होता, अपने पराए का भेद नहीं होता, कषायों का सर्वथा अभाव होता है और उसके ज्ञान में पूर्णता होती है । और उसका प्रवचन प्राणिजगत के हित के लिए होता है । परन्तु जो आप्त नहीं होते है, उनके विचारों में एकरूपता, स्पष्टता, सत्यता एवं सर्व जीवों के प्रति क्षेमकरी भावना नहीं होती ।

इस दृष्टि से जब हम जैनेतर आगमों का अवलोकन करते हैं, तो वे प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध जीवों की सजीवता के विषय में सही निर्णय नहीं कर पाते । इससे परिलक्षित होता है कि उनमें सर्वज्ञता का अभाव है । क्योंकि- प्रथम तो उन्हें अप्कायिक जीवों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है । और दूसरा, उनमें राग-द्वेष का सद्भाव है । इसी कारण वे अप्काय के जीवों का आरम्भ-समारम्भ करने का उपदेश देते हैं । इस तरह उनके द्वारा प्ररूपित आगम आप्त वचन नहीं होने से प्रमाणिक नहीं है और इसी कारण से उनके शास्त्र, किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ है ।

विभूषा-स्नान आदि के लिए सचित्त जल का उपभोग करना किसी भी तरह उचित नहीं है । स्नान भी एक तरह का शृंगार है, और साधु के लिए शृंगार करने का निषेध किया गया हैं । क्योंकि- द्रव्य स्नान से केवल चमड़ी साफ होती है, आत्मा की शुद्धि नहीं होती । आत्मा

की शुद्धि के लिए अहिंसा, दया, सत्य, संयम और सन्तोष रूपी भाव स्नान आवश्यक हैं। इस लिए साधु को सचित्त या अचित्त किसी भी प्रकार के जल से द्रव्य स्नान में प्रवृत्त न होकर, भाव स्नान में ही संलग्न रहना चाहिए। वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी ब्रह्मचारी के लिए स्नान आदि शारीरिक शृंगार का निषेध किया गया है। रही प्रतिदिन आवश्यक शुद्धि की बात। उसे साधु अचित्त पानी से विवेक पूर्वक कर सकता है। स्नान नहीं करने का यह अर्थ नहीं है कि वह अशुचि से भी लिपटा रहे। उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपना सारा समय केवल शरीर के शृंगारने में ही न लगाए। परन्तु यदि कहीं शरीर एवं वस्त्र पर अशुचि लगी है तो उसे अचित्त जल से विवेक पूर्वक साफ कर ले।

इस तरह अप्काय में विवेक रखने वाला ही अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से बच सकता है, पानी के जीवों की रक्षा कर सकता है। इस लिए वही वास्तव में अनगार है, मुनि है, त्यागी साधु है। इस बात को बताते हुए **सूत्रकार महर्षि** आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ १३ ॥ ॥ ३१ ॥

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि ॥ ३१ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतस्मिन् शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति, एतस्मिन् शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, तां परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं उदकशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः उदकशस्त्रं समारम्भयेत्, उदकशस्त्रं समारभमाणान् अपि अन्यान् न समनुजानीयात्, यस्य एते उदकशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि ॥ ३१ ॥

III शब्दार्थ :

एत्थ–इस अप्काय में। **सत्थं**–द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का। **समारभमाणस्स**–आरंभ करने वाले को। **इच्चेए**–ये सब। **आरम्भा**–आरंभ-समारम्भ। **अपरिण्णाया**–अपरिज्ञात-कर्म रूप बन्धन के ज्ञान और परित्याग से रहित। **भवंति**–होते हैं। **एत्थ**–इस अप्काय में। **सत्थं**–द्रव्य और भाव शस्त्र का। **असमारम्भमाणस्स**–समारम्भ न करने वाले को। **इच्चेते**–ये सब। **आरम्भा**–आरंभ-समारंभ। **परिण्णाया**–परिज्ञात। **भवंति**–होते हैं। **तं-परिण्णाय**–इस

आरंभ जन्य कर्म बन्धन को जानकर । **मेहावी**-बुद्धिमान पुरूष । **नेव**-न तो । **सयं**-स्वयं। **उदयसत्थं**-उदक शस्त्र का । **समारंभेज्जा**-समारंभ करे। **णेवण्णे**-और न अन्य से । **उदय सत्थं**-अप्काय के शस्त्र का । **समारंभावेज्जा**-समारम्भ करावे । **अण्णे**-दूसरों का । **न समणुजाणेज्जा**-अनुमोदन-समर्थन भी न करे । **जस्सेते**-जो व्यक्ति इन सब । **उदय सत्थं समारंभा**-अप्काय के शस्त्र समारम्भ से । **परिण्णाया भवंति**-परिज्ञात होता है । **से हु मुणी**-वही मुनि वास्तव में । **परिण्णाय कम्मे**-परिज्ञात कर्मा होता है । **तिबेमि**-एसा मैं कहता हूं।

IV सूत्रार्थ :

यहां अप्कायमें शस्त्रका समारंभ करनेवाले मनुष्यने इन सभी समारंभोंको जाना-समझा नहिं है, और यहां शस्त्रका समारंभ नहि करनेवाले मुनिने ये सभी आरंभ परिज्ञात कीये हैं, उस परिज्ञाको करके मेधावी (मुनि) खुद स्वयं उदक-शस्त्रका समारंभ न करे, अन्यके द्वारा उदकशस्त्रका समारंभ न करवाये, और उदकशस्त्रका समारंभ करनेवाले अन्यका अनुमोदन भी न करें... जीस मुनीने यह सभी उदकशस्त्र समारंभ परिज्ञात कीये है, वह हि मुनि **परिज्ञातकर्मा** है, ऐसा मैं **(सुधर्मास्वामी)** कहता हुं... ॥ ३१ ॥

V टीका-अनुवाद :

इस अप्काय-जीवोंमें द्रव्य एवं भाव शस्त्रका समारंभ करनेवाले मनुष्यने, यह सभी समारंभ कर्म-बंधके कारण है ऐसा समझा-जाना नहि है... और यहां अप्कायमें शस्त्रका समारंभ नहिं करनेवाले मुनिने यह सभी समारंभ ज्ञ परिज्ञासे जाना-समझा है, और प्रत्याख्यान परिज्ञासे उन समारंभोंका त्याग कीया है... जो मुनि "उदक (जल) का समारंभ कर्मबंधका कारण है" ऐसा जानकर साधु-मर्यादामें रहा हुआ है ऐसा मुनि खुद स्वयं उदकशस्त्र का समारंभ न करे, अन्यके द्वारा उदकशस्त्रका समारंभ न करवाये, और उदकशस्त्रका समारंभ करनेवाले अन्यकी अनुमोदना भी न करे... जिस मुनिने इन सभी उदक-जल के शस्त्रका समारंभ दो प्रकारकी परिज्ञासे जानकर त्याग कीये है, वह हि मुनि **परिज्ञातकर्मा** है... ऐसा मैं **(सुधर्मास्वामीजी)** तुम्हे **(जंबूस्वामीजी को)** कहता हुं...

VI सूत्रसार :

जो व्यक्ति अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहता है, वह उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है और न उसके कटु फल से ही परिचित है । यदि उसको इसका परिज्ञात होता है तो वह आरम्भ-समारम्भ से बचने का प्रयत्न करता, इस लिए जिस व्यक्ति को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ एवं उसके परिणाम स्वरूप मिलने वाले कटु फल का परिज्ञात है, वह उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है । इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है । और अप्काय के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त व्यक्ति को अपरिज्ञातकर्मा कहा है और उसके

आरंभ के त्यागी को **परिज्ञातकर्मा** कहा है ।

वास्तव में यह सत्य है कि जिसे अप्काय संबन्धी ज्ञान ही नहीं है, वह उस के आरम्भ से बच नहीं सकता । उसकी प्रवृत्ति हिंसा जन्य ही होती है । और जिसे ज्ञान है वह उसके आरम्भ से दूर रहता है । न तो वह स्वयं अप्काय की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति को हिंसा के लिए प्रेरित करता है और न किसी हिंसा करने वाले व्यक्ति का ही समर्थन करता है । वह त्रिकरण त्रियोग से अप्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी होता है । वे अपने मन, वचन, काय के योगों को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से निरोध कर संवर एवं निर्जरा को प्राप्त करता है अर्थात् कर्म आगमन के द्वार को रोकता है, जिस से नए कर्म नहीं आते और पुरातनकर्मों का अंशतः क्षय करता है । ऐसे साधक को **परिज्ञात कर्मा** कहा है ।

अपरिज्ञात और परिज्ञात कर्मा व्यक्तियों की क्रिया में बहुत अन्तर रहा हुआ है । एक की क्रिया, अविवेक एवं अज्ञान पूर्वक होने से कर्म बन्ध का कारण बनती है, और दूसरे की क्रिया, विवेक युक्त होने से निर्जरा का कारण बनती है । **इस लिए मुनि को चाहिए कि वह अप्काय के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उसकी हिंसा का सर्वथा त्याग करे । अप्कायिक जीवों के आरम्भ का त्याग करने वाला ही वास्तव में मुनि कहलाता है ।**

'त्तिबेमि' का अर्थ प्रथम उद्देशक की तरह समझना चाहिए ।

॥ **शस्त्रपरिज्ञायां तृतीयः उद्देशकः समाप्तः** ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी,** एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान राजेन्द्र कोष** निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिये **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** ''श्रमण'' के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **''शिवमस्तु सर्वजगतः''**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ४

卐 तेऊकाय (अग्नि) 卐

तृतीय उद्देशक पूर्ण हुआ, अब चतुर्थ (चौथा) उद्देशकका आरंभ करते हैं...

तृतीय उद्देशकमें साधुओं को साधुताकी प्राप्तिके लिये अप्‌कायकी परिज्ञा कही, अब अनुक्रमसे आये हुए तेजस्काय (अग्नि) के प्रतिपादनके लिये चतुर्थ-उद्देशकका आरंभ करतें हैं...

इस उद्देशकके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार तब तक कहने चाहिये कि- जब तक नाम निष्पन्न निक्षेपमें तेजः (अग्नि) उद्देशक ऐसा नाम है... वहां तेजस् (अग्नि) शब्दके निक्षेप आदि द्वार कहना चाहिये... उसमें पृथ्वीकायके समान हि निक्षेप आदि द्वार है, किंतु जहां विशेष है वह अब निर्युक्ति-गाथाओंसे कहतें हैं...

नि. ११६

जितने द्वार पृथ्वीकायके है, उतने हि द्वार तेउकाय (अग्नि) के है, किंतु जहां जहां भिन्नता है, वह विधान, परिमाण, उपभोग एवं शस्त्र और लक्षण द्वार कहतें हैं...

नि. ११७

इस जगतमें तेउकाय (अग्नि) के दो प्रकार है... १. सूक्ष्म तेउकाय २. बादर तेउकाय.

सूक्ष्म तेउकाय (अग्नि) संपूर्ण लोकमें है, और बादर तेउकाय मात्र अढाइ द्वीप-समुद्रमें हि है...

नि. ११८

बादर तेउकायके पांच प्रकार इस प्रकार है...

१. अंगारे २. अग्नि ३. अर्चि ४. ज्वाला और ५. मुर्मुर... यह पांच प्रकार बादर तेउकाय (अग्नि) के सूत्रमें कहे गये है...

१. अंगारे = जहां धूम और ज्वाला न हो ऐसा जला हुआ इंधन...

२. अग्नि = इंधनमें रहा हुआ, जलन क्रिया स्वरूप, बीजली उल्का और अशनि (वज्र) के संघर्षसे उत्पन्न होनेवाला तथा सूर्यकांत मणीसे संसरण

(प्रगट) होनेवाला इत्यादि...

३. अर्चिः = इंधनके साथ रहा हुआ ज्वाला स्वरूप...

४. ज्वाला = अंगारेसे अलग हुइ जलती ज्वालाएं...

५. मुर्मुर = कोइ कोइ अग्निके कणवाला भस्म...

बादर अग्निकायके यह पांच भेद है...

यह बादर अग्निकाय-जीव अढाइ (२.१/२) द्वीप-समुद्र प्रमाण मनुष्य-क्षेत्रमें व्याघातके अभावमें पंद्रह (१५) कर्मभूमिमें और व्याघात हो तब भी पांच महाविदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं... इनके अलावा और कहिं भी बादर अग्निकाय नहिं होते हैं... उपपातकी दृष्टिसे बादर अग्निकाय, लोकके असंख्येय भाग प्रमाण क्षेत्रमें हि उत्पन्न होते हैं...

आगम-सूत्रमें भी कहा है कि- विस्तारकी दृष्टिसे अढाइ (२.१/२) द्वीप-समुद्र तथा पूर्व-पश्चिम-उत्तर एवं दक्षिण दिशाओंमें स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत लंबाइ और उपर ऊर्ध्वलोक के ९०० योजन, एवं नीचे अधोलोक के ९०० योजन प्रमाण मध्यलोक के कपाटवाले क्षेत्रमें रहे हुए एवं बादर अग्निकाय में उत्पन्न होनेवाले जीवों हि बादर तेउकाय कहे जातें हैं, तथा तिर्यक्-लोक स्वरूप थाले में रहे हुए बादर अग्निमें उत्पन्न होनेवाले जीव हि **बादर अग्निकाय** कहे जाते हैं...

अन्य आचार्य तु ऐसा कहतें है कि- तिर्यक् (तीच्छे) लोकमें रहे हुए एवं अग्निकायमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको बादर अग्निकाय कहे जातें है... इस व्याख्यामें कपाट याने उर्ध्व एवं अधोलोकके बीचमें... **१८०० योजन**... किंतु इस व्याख्यानका अभिप्राय हम नहिं जानतें... कपाट स्थापना इस प्रकार- समुद्घातके द्वारा सर्व-लोकमें रहे हुए... और वे पृथ्वीकाय आदि जीव मरण समुद्घातके द्वारा जब बादर अग्निकायमें उत्पन्न हो रहे हो तब वे बादर अग्निकाय कहे जातें है, इस दृष्टिसे बादर अग्निकाय सर्वलोकमें रहे हुए हैं...

जहां पर्याप्त बादर अग्निकाय होते हैं वहिं बादर अपर्याप्त अग्निकाय जीव भी उनके साथ (निश्रा) में उत्पन्न होतें हैं...

इस प्रकार सूक्ष्म एवं बादर अग्निकायके दो भेद हैं, पुनः वे पर्याप्त और अपर्याप्त भेदसे दो-दो प्रकारके होतें हैं... और वे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि भेदसे हजारों भेद स्वरूप विभिन्नताको पाकर संख्यात (सात) लाख योनि प्रमाण होतें हैं...

अग्निकाय जीवोंकी संवृत और उष्ण योनि होती है... और वे भी सचित्त अचित्त एवं

मिश्र भेदसे तीन प्रकारकी है... अग्निकाय जीवोंकी योनीयां सात लाख प्रकारकी कही गइ है...

अब लक्षण द्वार कहतें हैं...

नि. ११९

जीस प्रकार रात्रिके समय खद्योतक (जुगनू) चउरिंद्रिय प्राणीके शरीर, जीवके प्रयोग विशेषसे उत्पन्न हुइ शक्तिके कारणसे रात्रिमें चमकता है... इसी प्रकार अंगारे आदि अग्निकायके जीवोंके शरीरमें भी प्रकाश-तेज स्वरूप शक्तिका अनुमान हो शकता है...

अथवा तो जिस प्रकार ज्वर (बुखार) वाले मनुष्यके शरीरमें गरमी दिखाइ देती है, वह भी जीव की शक्ति विशेष हि मानी गई है...

इसी प्रकार अग्निकाय जीवोंके शरीरमें उष्णता = गरमी होती है... क्योंकि- कोइ मृत मनुष्यके कलेवरमें ज्वर (बुखार) नहिं होता है... इस प्रकार अन्वय (सद्भाव) और व्यतिरेक (अभाव) के माध्यमसे भी अग्निकाय सचित्त हि है... ऐसा शास्त्रोंके वचनसे स्पष्ट हि प्रतीत होता है...

अब अनुमान प्रयोगसे अग्निकाय जीवोंकी सिद्धि करतें हैं...

(१) सास्ना (गायके गले की गोदडी) और शृंग (शींगडे) आदि समूहकी तरह छेदन-भेदन हो शकने के कारणसे अंगारे आदि अग्निकाय अग्नि-जीवोंका शरीर हि है...

(२) खद्योतक (जुगनू) प्राणीके शरीर परिणामकी तरह शरीरमें रहा हुआ प्रकाश स्वरूप परिणाम, अंगारे आदि अग्निकायमें जीवके प्रयत्न विशेषसे हि प्रगट हुआ है...

(3) ज्वर (बुखार) की गरमीकी तरह अंगारे आदि अग्निकायके शरीरमें होनेवाली उष्णता-गरमी, आत्मा-जीवके प्रयोग विशेषसे हि मानी गइ है...

आदित्य (सूर्य) आदिमें रही हुइ उष्णतासे यह सिद्धांत अनेकांत (अनिश्चित) नहिं है, क्योंकि- सभी जीवोंके शरीरमें आत्माके प्रयोग विशेषसे हि उष्णताका परिणाम उत्पन्न होता है, अतः यह सिद्धांत सत्य है...

(४) पुरुषकी तरह अपने योग्य आहार ग्रहण करनेके कारणसे वृद्धि एवं विकारको प्राप्त करनेवाला तेजः = अग्नि सचेतन हि है... इस प्रकारके लक्षणोंसे अग्निकायके जीवोंका निश्चय करना चाहिये...

लक्षण द्वार कहनेके बाद अब परिमाण द्वार कहतें हैं...

नि. १२०

बादर पर्याप्त अग्निकायके जीवोंकी संख्या क्षेत्र पल्योपमके असंख्येय भाग मात्रमें होनेवाले प्रदेशोंकी राशिकी संख्या प्रमाण हि हैं... किंतु वे बादर पर्याप्त पृथ्वीकायके जीवोंसे असंख्य गुणहिन हैं... शेष तीन राशि (१. अपर्याप्त बादर अग्निकाय, २. पर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय ३. अपर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय) ओंकी संख्या पृथ्वीकायकी तरह समझ लीजीयेगा... तो भी कहतें हैं कि- बादर अपर्याप्त पृथ्वीकायसे बादर अपर्याप्त अग्निकाय जीव असंख्येय गुण हीन हैं... तथा सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकायसे सूक्ष्म अपर्याप्त अग्निकाय जीव विशेष हीन है, और सूक्ष्म पर्याप्त पृथ्वीकायसे सूक्ष्म पर्याप्त अग्निकाय जीव भी विशेष हीन हैं...

अब उपभोग द्वार कहतें हैं...

नि. १२१

१. दहन = शरीर आदि अवयवोंके वात (वायु) आदिको दूर करनेके लिये...

२. प्रतापन = शीत (ठंडी) को दूर करनेके लिये...

३. प्रकाशकरण = प्रदीप-दीपक जलाकर प्रकाश करना...

४. भक्तकरण = ओदन = चावल आदि पकानेके लिये...

५. खेद = ज्वर एवं विसूचिका आदि पीडा-वेदनाको दूर करनेके लिये...

इत्यादि अनेक प्रयोजनसे मनुष्य बादर अग्निकाय जीवोंका उपभोग करतें हैं...

इस प्रकार उपस्थित प्रयोजनोंसे सतत आरंभ-समारंभमें प्रवृत्त गृहस्थ एवं नाम मात्रसे साधु ऐसे शाक्यादि मतवाले साधु विषय सुखकी कामना से अग्निकाय जीवोंकी हिंसा करतें हैं यह बात निर्युक्तिकी गाथासे कहतें हैं...

नि. १२२

इन दहन आदि कारणोंके द्वारा अपने साता = विषय सुखोंकी कामना से बादर अग्निकाय जीवोंकी संघट्टन, परितापन एवं अपद्रावण स्वरूप हिंसा करतें हैं... दुःख होतें हैं...

अब शस्त्र द्वार कहतें हैं... वह शस्त्र द्रव्य एवं भाव ऐसे दो प्रकारसे है... और द्रव्य शस्त्र भी समास एवं विभाग भेदसे दो प्रकारसे है... उनमें समास द्रव्यशस्त्रका स्वरूप कहतें हैं...

नि. १२३

पृथ्वी (धूली) अप्काय (जल) तथा आर्द्र वनस्पति और त्रसकाय जीवों सामान्यसे बादर अग्निकायके **शस्त्र** होतें हैं...

अब विभागद्रव्य शस्त्र कहतें हैं...

नि. १२४

१. स्वकायशस्त्र- अग्निका अग्नि हि शस्त्र होता है... जैसे कि- तृणका अग्नि पत्तेके अग्निका शस्त्र बनता है...

२. परकायशस्त्र- जल, वायु आदि अग्निके शस्त्र बनतें हैं...

3. उभयकायशस्त्र- तुष एवं करीष (बकरेकी लींडीयां) आदिसे मिश्रित अग्नि अन्य अग्निका शस्त्र होता है...

यह सभी द्रव्यशस्त्रके प्रकार बतलाये है... अब भावशस्त्र कहतें हैं... दुष्ट मन वचन एवं कायाके व्यापार (चेष्टा) स्वरूप असंयम हि भावशस्त्र है...

यहां तक कहे गये द्वारोंके अलावा जो द्वार कहने बाकी रहे हैं उनका अतिदेश (हवाले) के द्वारा उपसंहार करते हुए निर्युक्तिकार कहतें हैं कि-

नि. १२५

बाकीके द्वार पृथ्वीकायके उद्देशकमें कहे गये प्रकारसे यहां अग्निकायमें भी समझ लीजीयेगा...

अब सूत्रानुगम में अस्खलितादि गुणोंसे युक्त सूत्रका उच्चार करना चाहिये... और वह **सूत्र** सूत्रकार महर्षि अब कहेंगे...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ३२ ॥

से बेमि, नेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोगं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोगं अब्भाइक्खइ ॥ ३२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि, नैव स्वयं लोकं अभ्याचक्षीत, नैव आत्मानं अभ्याचक्षीत (प्रत्याचक्षीत) यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानं अभ्याख्याति, यः आत्मानं अभ्याख्याति सः लोकं अभ्याख्याति ॥ ३२ ॥

III शब्दार्थ :

से–वह–जिसने सामान्य रूप से आत्म तत्त्व, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवों का वर्णन किया है, वही मैं । **बेमि**–कहता हूं । **सयं**–अपनी आत्मा के द्वारा। **लोगं**–अग्निकाय रूप लोक का । **णेव अब्भाइक्खेज्जा**–अपलाप न करे । **अत्ताणं**–आत्मा का । **णेव अब्भाइक्खेज्जा**–निषेध या अपलाप न करे । **जे**–जो व्यक्ति। **लोयं**–अग्निकाय रूप लोक का । **अब्भाइक्खइ**–निषेध करता है । **से**–वह । **अत्ताणं**–आत्मा का । **अब्भाइक्खइ**–निषेध करता है । **जे**–जो । **अत्ताणं**–आत्मा का । **अब्भाइक्खइ**–निषेध करता है । **से**–वह । **लोयं**–अग्निकाय रूप लोक का। **अब्भाइक्खइ**–निषेध करता है ।

IV सूत्रार्थ :

वह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं कि- खुद स्वयं कभी भी लोक = अग्निकायका अपलाप न करें, और आत्माका भी अपलाप न करें... जो (मनुष्य) लोक = अग्निकायका अपलाप करता है, वह आत्माका अपलाप करता है, और जो आत्माका अपलाप करता है वह लोकका अपलाप करता है ॥ ३२ ॥

V टीका-अनुवाद :

जिन्होंने आपके आगे सामान्यसे आत्मा तथा पृथ्वीकाय एवं अप्कायका स्वरूप वर्णन किया है वह हि मैं **(सुधर्मास्वामी)** अब आपको अग्निकाय जीवोंका स्वरूप (जीवके स्वरूपकी उपलब्धिसे उत्पन्न हुए हर्षवाला एवं अविच्छिन्न ज्ञान प्रवाहवाला मैं वह सुधर्मास्वामी) **हे जंबू !** तुम्हें कहता हूं... कि- अग्निकाय-लोकका खुद स्वयं कभी भी अपलाप न करें... क्योंकि- अग्निकायका अपलाप करनेमें ज्ञानादि गुणवाले आत्माका भी अपलाप हो जाता है... और आत्माकी सिद्धि तो हमने पूर्व (पहले) कर दी है, अतः आत्माका अपलाप करना योग्य नहिं है... इसी प्रकार अग्निकायकी भी सिद्धि हो जानेके बाद अब अग्निकायका अपलाप करना उचित नहिं है... यदि युक्ति एवं आगम प्रमाणसे प्रसिद्ध ऐसे अग्निकायका अपलाप करनेसे 'अहं' मैं पदसे अनुभव गम्य आत्माका भी अपलाप आपको प्राप्त होगा... यदि आप कहोगे कि- "भले। ऐसा हि हो" किंतु हम कहतें हैं कि- ऐसा नहिं होगा... वह इस प्रकार- शरीरमें रहे हुए, ज्ञानगुणवाले एवं हर एक व्यक्तिको अनुभव गम्य ऐसे आत्माका अपलाप नहिं कर शकतें... क्योंकि- (१) यह आत्मा इस शरीरमें रहता हुआ इस शरीरका निर्माण करता है, तो इस शरीरको जो बनाता है और इस शरीरमें जो रहता है वह आत्मा हि है... (२) इस शरीरको बनानेवाले (आत्मा) को यह शरीर व्यक्त = प्रत्यक्ष हि है... इत्यादि हेतुओंसे आत्माकी सिद्धि हमने पहले पृथ्वीकायके अधिकारमें कर दी है, अतः सिद्ध बातका पुनः कथन पिष्टपेषणकी तरह विद्वद्-जनोंको इष्ट नहिं है...

इस प्रकार आत्माकी तरह सिद्ध अग्नि-काय-जीवोंका जो साहसिक (मूर्ख) अपलाप करता है, वह आत्माका भी अपलाप करता है, और जो मनुष्य आत्माका अपलाप करता है, वह अग्निकाय-लोकका भी अपलाप करता है...

विशेष सदैव सामान्य पूर्वक हि होतें हैं... अतः सामान्य स्वरूप आत्माके होने पर हि विशेष ऐसे पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय आदिकी सिद्धि हो शकती है, आत्माके न होने पर नहिं...

क्योंकि- **सामान्य व्यापक होता है...**
विशेष व्याप्य होता है...

व्यापक न होने पर व्याप्यकी भी अवश्यमेव निवृत्ति (अभाव) हि होती है...

इस प्रकार सामान्य स्वरूप आत्माकी तरह विशेष स्वरूप अग्निकाय-जीवोंका भी अपलाप नहिं करना चाहिये...

अग्निकाय-जीवोंकी सिद्धि करनेके बाद अब अग्निकायके समारंभसे होनेवाले कटुक (कडवे) फलोंके परिहार (त्याग) के लिये, **सूत्रकार महर्षि** आगेका सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है । अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों का पिण्ड रूप और अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना वाले हैं । उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है । क्योंकि उसमें प्रकाश और गर्मी है और ये दोनों गुण चेतनता के प्रतीक है । जैसे जुगनू में जीवित अवस्था में प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था में उसके शरीर में प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता । अतः प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, उसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी संसूचक है ।

हम सदा देखते हैं कि जीवित अवस्था में हमारा शरीर गर्म रहता है । मृत्यु के बाद शरीर में ऊष्णता नहीं रहती । और ज्वर के समय जो शरीर का ताप बढ़ता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढ़ता है । अस्तु शरीर में परिलक्षित होने वाली ऊष्णता सजीवता की परिसूचक है । इसी तरह अग्नि में प्रतिभासित होने वाली ऊष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है ।

ऊष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक हैं इसके अतिरिक्त अग्नि, वायु के बिना जीवित नहीं रह सकती । जिस प्रकार हमें यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पंखेरू उड़ जाते हैं, उसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव में

अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेती है । आप देखते हैं कि यदि प्रज्वलित दीपक या अंगारों को किसी वर्तन से ढक दिया जाए और बाहर से हवा को अंदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त बुझ जाएंगे । किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि में आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान में उस शरीर को मोटे कपड़े या कम्बल से ढक देने की सलाह देते हैं । क्योंकि शरीर कम्बल से आवृत्त होते ही, आग को बाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त बुझ जायगी । इससे उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है । क्योंकि निर्जीव पदार्थों को वायु की अपेक्षा नहीं रहती । कागज़ के टुकड़े को कुछ क्षण के लिए ही नहीं, बल्कि कई दिन एवं वर्षों तक भी वायु न मिले तो भी उसका अस्तित्व बना रहेगा । परन्तु अग्नि वायु के अभाव में एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती है । यदि वह निर्जीव होती तो अन्य निर्जीव पदार्थों की तरह वह भी वायु के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाती । परन्तु ऐसा होता नहीं है । अतः अग्नि को सजीव मानना चाहिए ।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय सजीव है । इसलिए मुमुक्षु को अग्निकाय की सजीवता का निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप नहीं करना चाहिए । क्योंकि दोनों में समान रूप से आत्म सत्ता है । अतः जो व्यक्ति अग्निकाय का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार करता है । और जो अपनी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय की सजीवता का भी निषेध करता है । इस तरह आत्म स्वरूप की अपेक्षा से हमारी आत्मा एवं अग्निकायिक जीवों की आत्मा की समानता को बताया है ।

आचार्य शीलांक ने 'से बेमि' का अर्थ इस प्रकार किया है- " जिसने पृथ्वी और जलकाय की सजीवता को भली-भांति जानकर उसका प्रतिपादन किया है, वही मैं **सुधर्मास्वामी** अनवरत पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रकाशमान **भगवान महावीर** से तेजस्काय के वास्तविक स्वरूप को सुनकर, **हे जंबू** ! तुम्हे कहता हूं " ।

प्रस्तुत सूत्र में तेजस्काय की सजीवता को प्रमाणित करके, अब **सूत्रकार** उसके आरम्भ से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए, आगेका सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ 33 ॥

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे ॥ 33 ॥

II संस्कृत-छाया :

यः दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः वह अशस्त्रस्य खेदज्ञः यः अशस्त्रस्य खेदज्ञः सः

दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः ॥ 33 ॥

III शब्दार्थ :

जे–जो । **दीह लोग सत्थस्स**–दीर्घलोक याने वनस्पति के शस्त्र-अग्नि का । **खेयण्णे**–ज्ञाता होता है । **से**–वह । **असत्थस्स**–अशस्त्र-संयम का । **खेयण्णे**–ज्ञाता होता है। **से**–वह । **दीह लोग सत्थस्स**–अग्नि का । **खेयण्णे**–ज्ञाता होता है ।

IV सूत्रार्थ :

जो साधु दीर्घलोक (वनस्पति) के शस्त्र (अग्नि) का खेदज्ञ है वह अशस्त्र (संयम) का खेदज्ञ है, और जो मुनि अशस्त्र (संयम) का खेदज्ञ है वह दीर्घलोक (वनस्पति) के शस्त्र (अग्नि) का खेदज्ञ है... ॥ 33 ॥

V टीका-अनुवाद :

दीर्घलोक याने वनस्पतिकाय... क्योंकि- शरीरकी उंचाई तथा स्वकाय स्थिति शेष एकेंद्रिय पृथ्वीकाय आदिसे वनस्पतिकायकी दीर्घ याने लंबी होती है, इसलिये वनस्पतिकायको दीर्घलोक कहतें हैं... आगम सूत्रमें भी कहा है कि- हे भगवन् ! वनस्पतिकायकी स्वकाय स्थिति कितनी है ? उत्तर- हे गौतम ! अनंतकाल याने अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल तथा क्षेत्रसे अनंतलोक, असंख्य पुद्गल परावर्त्त... और वे पुद्गल परावर्त्त, आवलिका के असंख्येय भागके समय प्रमाण जानीएगा... और परिमाणसे हे भगवन् ! वर्त्तमानकालमें वनस्पति कायके जीवोका अभाव कितने काल तक हो शकता है ? हे गौतम ! वर्त्तमानकालमें वनस्पतिकाय जीवोंका निर्लेपना (अभाव) कभी नहिं होता है... और शरीरकी उंचाइकी दृष्टिसे भी वनस्पतिकाय दीर्घ = लंबा (उंचा) है... हे भगवन् ! वनस्पतिकायकी शरीर-अवगाहना कितनी महान् (बडी) होती है ? हे गौतम ! वनस्पतिकायके शरीरकी अवगाहना एक हजार योजनसे कुछ (थोडा सा) अधिक होती है... इतनी स्वकायस्थिति और शरीरकी उंचाइ अन्य एकेंद्रिय पृथ्वीकाय आदिको नहिं होती है... इसीलिये हि वनस्पतिकायको दीर्घलोक कहतें हैं... और वनस्पतिका शस्त्र अग्नि है... क्योंकि- बढती हुइ ज्वालाके समूहवाला अग्नि ही सभी वृक्षों (वनस्पति) को नाश (नष्ट) करनेमें समर्थ है... इसीलिये वनस्पतिका नाश करनेके कारणसे अग्नि ही वनस्पतिका शस्त्र है...

प्रश्न- तो फिर सर्वलोक प्रसिद्ध ऐसा अग्नि शब्दका प्रयोग क्यों नहिं किया ? अथवा तो कौनसे प्रयोजनको लेकर आपने अग्निको **दीर्घलोक-शस्त्र** कहा है ?

उत्तर- विचारणा (पर्यालोचन) पूर्वक कहा है... बिना बिचारे नहिं कहा है... वह इस प्रकार- उत्पन्न हुआ, अतिशय जलता हुआ अग्नि सभी जीवोंका विनाश करता है, और विशेष

करके वनस्पतिको जलानेवाला अग्नि बहोत प्रकारके जीवोंका विनाश करनेवाला होता है... क्योंकि- वनस्पतिकायमें कृमि, पिपीलिका (चिंटींया) भ्रमर, कबूतर और जंगली जानवर आदि होतें हैं, तथा वृक्षके कोटर (बखोल) में पृथ्वीकाय भी होता है, और अवश्याय (धूम्मस) स्वरूप अप्काय होता है, तथा कुछ चंचल स्वभावसे कोमल किशलय = पत्ते को कंपित करनेवाला वायु भी होता है, अतः अग्निके समारंभमें प्रवृत्त मनुष्य इन सभी जीवोंका विनाश करता है... इसलिये यह सभी बातोंका सूचन करनेके लिये सूत्रकारने अग्निको **दीर्घलोकशस्त्र** कहा है...

और कहा भी है कि- तीक्ष्ण, सर्वप्रकारका शस्त्र और चारों और से दुःखदायक ऐसे अग्निको साधु-लोग जलातें नहिं है और चाहतें भी नहिं है... पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, उपर और नीचे इस प्रकार सभी औरसें यह अग्नि, जीवोंका नाश करता है इस बातमें जरा भी संशय नहिं है, अतः संयमी-साधु प्रकाशके लिये और भोजन पकानेके लिये अग्निको जलातें नहिं है...

अथवा तो बादर पर्याप्त अग्निकाय थोडे हैं... शेष पृथ्वीकाय आदि एकेंद्रिय जीव (अधिक) बहोत हैं... तथा अग्निकाय की भवस्थिति (आयुष्य) भी तीन अहोरात्र प्रमाण अति अल्प है, जब कि- पृथ्वीकायका बाइस (२२) हजार वर्ष, अप्कायका सात (७) हजार वर्ष, वायुकायका तीन (3) हजार वर्ष और वनस्पतिकायका आयुष्य दश (१०) हजार वर्ष प्रमाण लंबा है... अतः दीर्घलोक याने पृथ्वीकायादि जीवोंका शस्त्र **अग्नि** है, अतः इस अग्निको मुनि वर्णादिसे जानता है... क्षेत्रज्ञ = निपुण मुनि अथवा तो खेदज्ञ याने अग्निके व्यापार = आरंभको जाननेवाला हि मुनी होता है... वह इस प्रकार, जैसे कि- **अग्नि** सभी जीवोंको जलाता है...

अग्नि - रसोई पकाना आदि अनेक शक्तिवाला है... अग्नि - श्रेष्ठ मणीकी तरह अतिशय चमकता है... ऐसे अग्निका आरंभ साधुओंको उचित नहिं है... यह बात जो मुमुक्षु जानता है वह हि मुनि खेदज्ञ होता है...

अब जो मुनि दीर्घलोकशस्त्र (अग्नि) का खेदज्ञ है, वह हि मुनि सत्तरह (१७) प्रकारके संयम स्वरूप अशस्त्रका खेदज्ञ है... क्योंकि- संयम कीसी भी जीवको पीडा नहिं पहुंचाता अतः संयमको अशस्त्र कहतें हैं...

इस प्रकार सभी जीवोंको अभयदान देनेवाले इस संयमके अनुष्ठानसे हि अग्निकाय जीवोंके समारंभका त्याग कर शकतें हैं... और पृथ्वीकाय आदिके समारंभका भी त्याग हो शकता है... इसी प्रकार मुनि संयममें निपुणमतिवाला होता है... ओर निपुणमतिवाला होनेके कारणसे हि परमार्थको जाननेवाला मुनि अग्निकायके आरंभका त्याग करके संयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होता है...

अब गत-प्रत्यागत लक्षणसे **अविनाभावित्व** बताने के लिये विपरीत क्रमसे सूत्रके अवयवोंका परामर्श = पर्यालोचन करतें हैं...

जो मुनि अशस्त्र याने संयममें निपुणमति है वह हि दीर्घलोकशस्त्र (अग्नि) का **क्षेत्रज्ञ** है, अथवा तो संयम पूर्वक अग्निका (समारंभका) **खेदज्ञ** है... क्योंकि- अग्निके खेदज्ञता वाला हि संयमानुष्ठान है... यदि ऐसा न हो तब संयमानुष्ठान असंभव हि है... इस प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेकसे अथवा तो गत-प्रत्यागत प्रकारसे संयमानुष्ठानकी सिद्धि की है...

अब ऐसा संयमानुष्ठान किन्होंने प्राप्त किया ? इस प्रश्नके उत्तरमें, **सूत्रकार महर्षि** आगेका सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

दुनिया में अनेक तरह के शस्त्र हैं । परन्तु **अग्नि-शस्त्र** अन्य शस्त्रों से अधिक तीक्ष्ण एवं भयावह है । जितनी व्यापक हानि यह अग्नि करता है, उतनी अन्य किसी शस्त्र से नहीं होती । जरा सी असावधानी से कहीं आग की चिनगारी गिर पड़े, तो सब स्वाहा कर देती है, इसकी लपेट में आने वाला सजीव-निर्जीव कोई भी पदार्थ सुरक्षित नहीं रहता। जब यह भीषण रूप धारण कर लेती है, तो वृक्ष मकान, कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी; मनुष्य जो भी इसकी लपेट में आ जाता है, वह जल कर राख हो जाता है । अग्नि किसी को भी नहीं छोड़ती, गीले-सुखे, सजीव-निर्जीव सब इसकी लपटों में भस्म हो जाते हैं । अतः आग को सर्वभक्षी कहने की लोकपरम्परा बिल्कुल सत्य है । और इसी कारण अग्नि को सबसे तीक्ष्ण एवं भयानक शस्त्र माना गया है । आगम में भी कहा गया है कि अग्नि के समान अन्य शस्त्र नहीं है । यह पृथ्वी एवं अप्कायिक जीवों के शस्त्र के साथ वनस्पति के जीवों का भी शस्त्र है । और वनस्पति के लिए इसका उपयोग अधिक किया जाता है । घरों में शाक-भाजी बनाने एवं खाने-पकाने के लिए इसी अग्नि का उपयोग किया जाता है और वांस एवं चन्दन के गहन वनों में उनकी पारस्परिक रगड़ एवं टक्कर से प्रायः आग का प्रकोप होता रहता है । इस लिए इसे वनस्पतिकाय का शस्त्र रूप विशेषण से अभिव्यक्त किया गया है ।

प्रस्तुत सूत्र में **अग्नि** शब्द का प्रयोग न करके **'दीर्घलोक - शस्त्रं'** इतने लम्बे शब्द का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे एक विशेषता रही हुई है । वह यह है कि- **अग्नि** छह (६) कायजीवों का **शस्त्र** है । जब यह प्रज्वलित होती है, तो अपनी लपेट में आने वाले किसी भी प्राणी को सुरक्षित नही रहने देती । और जब यह **अग्नि** जंगल में लगती है, तो बड़े-बड़े वृक्षों को जलाकर भस्म कर देती है । और वृक्षके आश्रय में रहने वाले सभी स्थावर एवं त्रस जीवों को भस्म कर देती है, जैसे कि- वृक्ष के उपर कृमि, पिपीलिका (चिंटीयां) भ्रमर, पक्षी आदि त्रस जीव पाए जाते हैं, और उसकी कोटर एवं जड़ों में पृथ्वीकायिक और ओस के रूप

में अप्कायिक जीव तथा उसके पत्तों को कंपित करते हुए वायुकायिक जीव भी वहां पाए जाते हैं । इस तरह एक वृक्ष को विध्वंस करने के साथ ६ काय के जीवों का नाश हो जाता है । इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने **'अग्नि'** शब्द का प्रयोग न कर के **'दीर्घलोक' शस्त्र** शब्द का प्रयोग किया है ।

वनस्पति को दीर्घलोक कहने का तात्पर्य यह है कि- स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना ही सब से बड़ी है । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय के शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना विभिन्न प्रकार की है । कुछ वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना एक हज़ार योजन से भी कुछ अधिक है । आगम में वनस्पतिकाय के संबन्ध में विस्तृत विवेचन मिलता है, कई जगह उसे **दीर्घलोक** भी कहा है । एक बार **गौतम स्वामी** ने **भगवान महावीर** से पूछा कि- **हे भगवन्** ! वनस्पतिकाय में गया हुआ जीव, यदि वनस्पतिकाय में ही रहे, तो कितने काल तक रहता है ? **हे गौतम** ! यदि वनस्पति में गया हुआ जीव वनस्पतिकाय में ही जन्म-मरण करता रहे तो उत्कृष्ट अनन्त जन्म-मरण करता है और काल की अपेक्षा से अनन्त काल तक उसी में परिभ्रमण करता रहता है । इतना ही नहीं; असंख्यात पद्गल-परावर्तन उसी काय में पूरे कर देता है । अवगाहना के संबंध में पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए **भगवान महावीर** ने कहा-**हे गौतम** ! वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हज़ार योजना से भी कुछ अधिक है, इस लिए वनस्पतिकाय को आगम में **दीर्घलोक** कहा है ।

इस **दीर्घलोक-वनस्पतिकाय** का विनाशक शस्त्र **अग्नि** है । इस लिए जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ-समारम्भ करता है, वह ६ काय का विनाश करता है और जो इसके आरम्भ से निवृत्त है वह १७ प्रकार के संयम का आराधक है । इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि- जो व्यक्ति अग्निकाय के ज्ञाता है अर्थात् उस से होने वाले आरम्भ एवं विनाश तथा उससे बन्धने वाले कर्म के स्वरूप को भली-भांति जानता है, वह संयम का भी परिज्ञाता है और जो संयम का परिज्ञान रखता है, वह अग्निकाय के आरम्भ से भी निवृत्त होता है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'खेयण्णे' शब्द के संस्कृत में दो रूप बनते हैं-**१-क्षेत्रज्ञः** और **२-खेदज्ञः** इन उभय शब्दों का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है-

"क्षेत्रज्ञो निपुणः अग्निकायं वर्णादितो जानातीत्यर्थः । खेदज्ञो वा खेदः तद् व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनात्मकः पाकाद्यनेकशक्तिकलापोपचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्निव्यपदेशो यतीनामनारम्भणीयः तमेवंविधं खेदं अग्निव्यापारं जानातीति खेदज्ञः"

अर्थात्-अग्नि को वर्णादि रूप से जानने वाले को **क्षेत्रज्ञः** कहते हैं और अग्नि के

दहनादि रूप व्यापार का नाम खेद है और उसका परिज्ञाता **खेदज्ञ** कहलाता है ।

अशस्त्र शब्द का अर्थ है- **संयम** । क्योंकि- शस्त्र से जीवों का नाश होता है, उन्हें वेदना-पीड़ा होती है, परन्तु संयम से किसी भी जीव को वेदना, पीड़ा एवं प्राण हानि नहीं होती । इसलिए संयम को अशस्त्र कहा है । अस्तु जो अग्नि के स्वरूप का ज्ञाता होता है वही संयम का अराधक होता है । और जो संयम के स्वरूप को भली-भांति जानता है, वही अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त होता है । इस तरह संयम एवं अग्निकायिक आरम्भ निवृत्ति का घनिष्ट संबन्ध स्पष्ट किया है ।

यह **तत्त्व** महापुरूषों के द्वारा माना एवं कहा गया है, यह बात अब **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ 3 ॥ ॥ 3४ ॥

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं, सया जत्तेहिं, सया अपमत्तेहिं ॥ 3४ ॥

II संस्कृत-छाया :

वीरैः एतद् अभिभूय दृष्टं, संयतैः सदा यतैः, सदा अप्रमत्तैः ॥ 3४ ॥

III शब्दार्थ :

संजएहिं-संयत पुरुष । **सया**-सदा । **जत्तेहिं**-यत्न-शील । **सया**-सदा । **अप्पमत्तेहिं**-प्रमाद रहित, रह कर । **वीरेहिं**-वीर पुरुषों ने । **अभिभूय**-परिषहों को जीत कर तथा पूर्णज्ञान को प्राप्त कर । **एयं**-इस अग्निकाय रूप शस्त्र को । **दिट्ठं**-देखा है ।

IV सूत्रार्थ :

वीर पुरुषोंने इस संयमको मोहको हटाकर देखा है, ये वीर पुरुष, सदैव संयत, यत्नवंत एवं अप्रमत्त हैं...

V टीका-अनुवाद :

घनघाति चारों (४) कर्मोंके क्षयसे प्रगट हुए केवलज्ञान स्वरूप लक्ष्मीसे विराजमान वीर याने तीर्थंकरोंने अर्थसे उपदेश दीया, और गणधरोंने सूत्रसे सिद्धांत बनाये है, उन शास्त्रोंमें अग्नि को शस्त्र और संयम को अशस्त्र बतलाया है... और उन्होंने संयमका आचरण करके मोहका नाश (अभिभव) कीया है...

अभिभव के नामादि भेदसे चार निक्षेप होतें हैं, उनमें नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम हैं... और द्रव्य अभिभव याने शत्रु सेना आदिका पराजय... अथवा तो सूर्यके तेज-प्रकाशसे चंद्र,

ग्रह, नक्षत्र आदि तेजका पराभव... और भाव-अभिभव याने परीषह तथा उपसर्गकी सेना तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय कर्मोका क्षय... क्योंकि- परीषह एवं उपसर्गादिकी सेनाके विजयसे निर्मल चारित्र प्राप्त होता है, और विशुद्ध चारित्रसे हि ज्ञानावरणीयादि कर्मोका क्षय होता है... और उन घातिकर्मोके क्षयसे हि निरावरण एवं अप्रतिहत ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है... सारांश यह है कि- परीषह, उपसर्ग, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतरायका पराभव करके, केवलज्ञान पाकर उन वीर पुरुषोंने यह अग्नि को शस्त्र और संयम को अशस्त्र देखा है...

और वे वीर पुरुष प्राणातिपातादि पापोंसे संयत हैं, तथा सदैव मूल एवं उत्तर गुण स्वरूप चारित्रकी प्राप्तिमें निरतिचारवाले होनेसे यत्नवंत हैं तथा मद्य, विषय, कषाय, विकथा एवं निद्रा स्वरूप प्रमादके त्यागसे सदैव अप्रमत्त हैं... ऐसे स्वरूपवाले वीर पुरुषोंने केवलज्ञान चक्षुसे **दीर्घलोकशस्त्र** और **अशस्त्र** याने **संयम** को प्राप्त कीया है...

यहां "यत्न" शब्दसे ईर्यासमिति आदि गुण समझीयेगा और "अप्रमत्त" शब्दसे मद्य आदिसे निवृत्ति (विरमण) समझीयेगा...

इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंने कहे हुए अग्निशस्त्र के अपाय (उपद्रव) को देख कर अप्रमत्त साधुजन अग्निकायके आरंभका त्याग करतें हैं...

इस प्रकार अनेक दोषवाले अग्निशस्त्रको जानकर भी, जो शाक्य आदि साधु एवं गृहस्थ लोग उपभोगके लोभसे, प्रमादके आधीन बनकर अग्निशस्त्रका त्याग नहिं करतें हैं, अतः उन्हें होनेवाले अशुभ-विपाक को बतलाते हुए **सूत्रकार महर्षि** आगेका सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- पूर्व सूत्र में अग्निकाय रूप शस्त्र एवं अशस्त्र रूप संयम के स्वरूप को जानकर अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त हो कर संयम में प्रवृत्त होने की जो बात कही गई वह नितांत सत्य है, क्योंकि- वीर पुरुषों ने अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषों ने उसे देखा है । अतः अग्निकाय के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होने रूप संयम मार्ग, सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित होने से वास्तविक पथ है; इसमें संशय को जरा भी अवकाश नहीं है ।

इस तरह सूत्रकार ने मुमुक्षु के मन में ज़रा भी संशय पैदा न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र के द्वारा मुमुक्षु के मन का पूरा समाधान करने का प्रयत्न किया है । हम सदा देखते हैं कि- जब किसी बात पर किसी प्रमाणिक व्यक्ति की सम्मति मिल जाती है, तो व्यक्ति को उस बात पर पूरा विश्वास हो जाता है । अतः सूत्रकार ने इस बात को परिपुष्ट कर दिया

है कि- पूर्व सूत्र में कथित मार्ग, **वीतराग एवं सर्वज्ञ** द्वारा प्ररूपित है, उन्होंने अग्निकाय को शस्त्र रूप में और संयम को अशस्त्र रूप में देखा है । अस्तु, प्रस्तुत सूत्र, पूर्व सूत्र का परिपोषक है, साधक के मन में जगे हुए विश्वास को दृढ़ करने वाला है और आचार में तेजस्विता लाने वाला है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'वीर' शब्द तीर्थंकर एवं सामान्य केवलज्ञानी पुरूषों का परिबोधक है । क्योंकि वे राग-द्वेष एवं कषाय रूप प्रबल योद्धाओं को परास्त कर चुके हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर पड़े हुए आवरण सर्वथा अनावृत्त करके पूर्ण ज्ञान, दर्शन सुख एवं वीर्य शक्ति को प्रकट कर चुके हैं अतः वस्तुतः वे ही वीर कहलाने योग्य है और सर्वज्ञ होने के कारण वस्तु के वास्तविक स्वरूप बताने में भी वे ही समर्थ हैं । इसलिए सूत्रकार ने वीर शब्द का तीर्थंकर एवं सामान्य केवल ज्ञानी के लिए प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग, सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषों द्वारा अवलोकित है । केवल अवलोकित ही नहीं, आचरित भी है । यों कहना चाहिए कि- पूर्व सूत्र में कथित मार्ग पर गतिशील होकर ही उन्होंने सर्वज्ञता को प्राप्त किया है ।

शुद्ध चारित्र परिपालन करने के लिए परीषहों पर विजय पाना जरूरी है । जो साधक अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों में आकुल-व्याकुल नहीं होता, संयम मार्ग से विचलित नहीं होता, उसका चारित्र शुद्ध एवं निर्मल बना रहता है और उस विशुद्ध भावना से ज्ञानावरणीय; दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिक कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है या यों कहना चाहिए कि अनन्त ज्ञान, दर्शन, आत्मसुख एवं वीर्य की ज्योति अनावृत्त हो जाती है । साधक की दृष्टि में पूर्णता आ जाती है, उससे दुनिया की कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं रहती । और यह पूर्ण दृष्टि, संयम मार्ग पर प्रगति करके ही प्राप्त की गई है और अभी भी की जा रही हैं तथा भविष्य में प्राप्त की जा सकेगी । इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि- पूर्व सूत्र में कथित मार्ग सर्वज्ञ पुरूषों द्वारा अवलोकित एवं आचरित है । इसलिए साधक को निशंक भाव से उस पथ पर गतिशील होना चाहिए ।

संयत, सदायत और अप्रमत्त ये तीनों 'वीर' शब्द के विशेषण है । संयत का अर्थ है- **विषय-विकार एवं सावद्य कार्यों में प्रवृत्तमान योगों का सम्यक् प्रकार से निरोध करने वाला, और सदा विवेक के साथ प्रवृत्ति करने वाले को सदायत कहते हैं** । तथा अप्रमत्त का अर्थ है- **मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा आदि प्रमाद का परित्याग करने वाला** । उक्त गुणों से युक्त पुरुष **वीर** कहलाता है और ऐसे वीर पुरुष ने इस संयम मार्ग को देखा एवं बताया है ।

योगानुसारी प्रस्तुत सूत्र का अर्थ है- अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ से मन, वचन

और काय योग का निरोध करना और उससे जो लब्धि प्राप्त हो उसका आत्मिक अभ्युदय के लिए उपयोग करना ।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ अनर्थ का कारण है । फिर भी कई विषयासक्त एवं प्रमादी जीव विषय-वासना एवं प्रमाद के वश होकर अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ करते हैं । इसी बात को **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ३५ ॥

जे पमत्ते गुणट्ठीए, से हु दंडे त्ति पवुच्चइ ॥ ३५ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः प्रमत्तः गुणार्थी, सः खु दण्डः इति प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

III शब्दार्थ :

जे-जो व्यक्ति । **पमत्ते**-प्रमादी । **गुणट्ठीए**-गुणार्थी है । **से**-वह । **हु**-निश्चय ही । **दंडेत्ति**-दण्ड रूप । **पवुच्चइ**-कहा जाता है ।

IV सूत्रार्थ :

रसोइ बनाना इत्यादि गुणके कामनावाले जो प्रमादी है, वह हि दंड है... ऐसा कहा गया है... ॥ ३५ ॥

V टीका-अनुवाद :

जो मनुष्य मद्य-विषय आदि प्रमादसे असंयत है एवं रसोइ बनाना, पकाना, प्रकाश करना तथा आतापन आदि अग्निके गुणोके प्रयोजनवाला है वह हि दुष्ट मन वचन एवं कायावाला है, और अग्निशस्त्रका समारंभके द्वारा जीवोंको दंड = पीडा का कारण बननेसे उस मनुष्यको "दंड" कहा गया है जैसे घृत (घी) आदिको आयुष्य कहते है, वैसे... यहां कारणमें कार्यका उपचार कीया गया है...

अब जीस कारणसे जो लोग, ऐसे दंड स्वरूप हैं, उन्हे क्या करना चाहिये ? यह बात, अब **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- जो **व्यक्ति** प्रमत्त और गुणार्थी है, वह दण्ड रूप है । क्योंकि- प्रमाद एवं गुणार्थिता, इन दो कारणों से ही **व्यक्ति** अग्नि के आरम्भ में

प्रवृत्त होता है । और विषय-कषाय से युक्त होकर रंधन, पाचन, आताप प्रकाश आदि के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है, इसलिए उसकी इस प्रवृत्ति को अकुशल प्रवृत्ति कहा है । और इस प्रवृत्ति से प्राणियों को दण्डित होने में वह व्यक्ति कारण है, इसलिए उसे दण्ड रूप भी कहा है । ऐसा देखा गया है कि- वस्तु के गुण-दोष या प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु का नाम रख दिया जाता है । गुणानुसारी नाम करण की पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है । जैसे घृत आयुवर्द्धक है, इसलिए उसका **आयु** शब्द से निर्देश किया जाता है-''आयुर्वै घृतम्'' इसी तरह प्रमादी एवं गुणार्थी जीव अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर अग्निकायिक एवं उन के आश्रय में रहे हुए अन्य त्रस-स्थावर जीवों को दंडित (पीडित) करते हैं, इसलिए उन्हें **दण्ड** कहा गया है ।

प्रमादी और गुणार्थी व्यक्ति, दण्ड रूप कहा गया है । दण्ड से दुःखों की उत्पत्ति होती है, इस लिए **सूत्रकार** दंडत्व के परित्याग की बात, आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ३६ ॥

तं परिण्णाय मेहावी, इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ॥ ३६ ॥

II संस्कृत-छाया :

तं परिज्ञाय मेधावी, इदानीं न, यं अहं पूर्वं अकार्षं प्रमादेन ॥ ३६ ॥

III शब्दार्थ :

तं-इस अग्निकाय के आरम्भ को । **परिण्णाय**-जानकर । **मेहावी**-बुद्धिमान यह निश्चय करे । **जं**-जिस आरम्भ को । **पमाएणं**-प्रमाद से । **अहं**-मैंने । **पुव्वं**-प्रथम । **अकासी**-किया था, उसको । **इयाणिं**-इस समय । **णो**-नहीं करूंगा ।

IV सूत्रार्थ :

उस दंडको जानकर मेधावी, जो मैंने प्रमादसे पूर्वकालमें किया है, वह अब नहिं करुंगा ॥ ३६ ॥

V टीका-अनुवाद :

उस अग्निकायके समारंभका **दंड** स्वरूप फलको, ज्ञ परिज्ञासे जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग करके मेधावी = साधु, अग्निशस्त्रके समारंभका त्याग करता है... वह इस प्रकार- मैंने विषय और प्रमादसे व्याकुल चित्तवाला होकर, पूर्वकालमें बहोत प्रकार से अग्निकायका समारंभ कीया था, किंतु अब जिनवचनके ज्ञानसे, अग्निकायके समारंभ स्वरूप

दंड नहिं करुंगा...

अन्य मतवाले जो हैं, वे अन्यथा बोलतें है, और अन्यथा करतें हैं, यह बात अब, **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रबुद्ध पुरुष के यथार्थ जीवन का चित्रण किया गया है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि- जब तक जीवन में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, तब तक क्रिया में आचरण में तेजस्विता नहीं आ पाती । इसलिए अग्निकाय के आरम्भ से कितना अनर्थ एवं अहित होता है, इस बात का परिज्ञान होने के बाद मुमुक्षु उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता । इससे स्पष्ट हो जाता है कि- ज्ञान के बाद ही प्रत्याख्यान की अभिरूचि होती है, और आचरण के लिए कदम उठता है, अतः ज्ञानपूर्वक किया गया त्याग ही, वास्तविक आत्म विकास में सहायक होता है ।

भगवती सूत्र में बताया गया है कि- **गौतम स्वामी** ने **भगवान महावीर** से पूछा- हे भगवन् ! कोई जीव यह कहता है कि- मैंने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व कि हिंसा का त्याग कर दिया है, अतः यह **प्रत्याख्यान** सुप्रत्याख्यान है, या दुष्प्रत्याख्यान है ? भगवान महावीर ने कहा-हे गौतम ! यह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान भी है और दुष्प्रत्याख्यान भी, भगवान के हकार-नकार युक्त उत्तर को स्पष्ट समझने की अभिलाषा से गौतम स्वामी ने पुनः पूछा-भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ? भगवान ने कहा-हे गौतम ! जो जीव, जीव-अजीव आदि तत्त्वों को भली-भांति नहीं जानता, और त्रस एवं स्थावर के स्वरूप को भी नहीं पहचानता है । वह व्यक्ति यदि कहता है कि- मैंने प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य नहीं, अपितु झूठ बोलता है । क्योंकि- वह तीन करण एवं तीन योग से असंयत है । अव्रती है । पाप कर्म का त्यागी नहीं है। किंतु पापक्रिया युक्त है, असंवृत है, एकान्त दण्ड रूप है; एकान्त बाल-अज्ञानी है, इस लिए उसका प्रत्याख्यान, दुष्प्रत्याख्यान है । और जो **मनुष्य** जीवाजीव एवं त्रस-स्थावर आदि तत्त्वों का ज्ञाता है और यदि वह कहे कि- मैंने प्राण, भूत आदि की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य बोलता है, क्योंकि- वह तीन कारण एवं तीन योग से संयत है, व्रती है; पाप कर्म का त्यागी है, पापक्रिया रहित है, संवृत्त है, एकान्त पंडित याने ज्ञानी है, इसलिए उस का प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान है । अस्तु, इससे स्पष्ट हो गया कि- ज्ञान पूर्वक किया गया त्याग ही, कर्म बन्धन को तोड़ने में सहायक होता है, एवं निर्जरा का कारण बनता है ।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- **मुमुक्षु** अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ को जानने के पश्चात् उसमें प्रवृत्त नहीं होता । जब तक वह उसके स्वरूप को भलीभांति नहीं

जानता, तब तक प्रमाद के कारण अग्नि का आरम्भ करता है । परन्तु अग्निकाय का सम्यक्तया ज्ञान होने के बाद, वह साधु, उसका सर्वथा परित्याग कर देता है अर्थात् पूर्व समयमें जो आरम्भ किया है, उसका पश्चाताप करता है, और भविष्य के लिए उसका त्याग करके विवेक पूर्वक संयम में प्रवृत्त होता है ।

अग्निकाय के संबन्ध में जैनेतर संप्रदाय की जो मान्यताएं हैं, उसे **सूत्रकार महर्षि** स्वयं हि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ३७ ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति । तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जाइ मरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारभइ, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ । तं से अहियाए, तं से अबोहियाए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं नायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ३७ ॥

II संस्कृत-छाया :

लज्जमानाः पृथक् पश्य, अनगाराः वयं इति एके प्रवदन्तः, यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म समारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितव्यस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थं जाति-मरण मोचनार्थं, दुःखप्रतिघात हेतुं, सः स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारभते, अन्यैः वा अग्निशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते, तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधिलाभाय, सः तद् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणां वा, इह एकेषां ज्ञातं भवति - एषः खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एषः खलु मारः, एषः खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धः लोकः यदिदं विरूप-रूपैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारम्भमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ॥ ३७ ॥

III शब्दार्थ :

लज्जमाणा-स्वागमविहित अनुष्ठान करते हुए अथवा सावद्यानुष्ठान के कारण लज्जा का अनुभव करते हुए । **पुढो**-विभिन्न मतवालों को । **पास**-हे शिष्य ! देख । **अणगारामोत्ति**-हम अनगार हैं, इस प्रकार । **एगे**-कई एक वादी । **पवदमाणा**-बोलते हुए। **जमिणं**-जो यह

प्रत्यक्ष । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **अगणिकम्मसमारंभेण**–अग्नि कर्म समारम्भ से । **अगणि सत्थं समारम्भमाणे**–अग्नि शस्त्र का समारम्भ प्रयोग करते हुए । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकारके । **अण्णे**–अन्य । **पाणे**–प्राणियों की। **विहिंसंति**–हिंसा करते हैं । **तत्थ**–अग्निकाय के आरम्भ विषयक । **खलु**–निश्चय ही । **भगवता**–भगवान ने । **परिण्णा**–परिज्ञा । **पवेइया**–प्रतिपादन की है । **इमस्स चेव**–इसी । **जीवियस्स**–जीवन के लिए । **परिवंदण-माणण-पूयणाए**–प्रशंसा, मान-सम्मान और पूजा के लिए। **जाई-मरण-मोयणाए**–जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए । **दुक्खपडिघायहेउं**–दुःखों का नाश करने के लिए । **से**–वह । **सयमेव**–स्वयमेव । **अगणि सत्थं समारम्भइ**–अग्निकाय शस्त्र से समारम्भ करता है । **वा**–अथवा । **अण्णेहिं**–दूसरों से । **अगणि सत्थं**–अग्नि शस्त्र से । **समारम्भावेइ**–समारम्भ कराता है । **वा**–तथा । **अगणि सत्थं**–अग्नि शस्त्र का । **समारम्भमाणे**–समारम्भ करने वाले । **अण्णे**–अन्य व्यक्ति का । **समणुजाणइ**–समर्थन करता है । **तं**–वह आरम्भ । **से**–उसको । **अहियाए**–अहितकर होता है । **तं**–वह आरम्भ । **से**–उसको। **अबोहियाए**–अबोधि के लिए होता है । **से तं**–जिसको यह असदाचरण बता दिया गया है, वह शिष्य, **संबुज्झमाणे**–अग्नि के आरंभ को पाप रूप जानता हुआ । **आयाणीयं**–आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि को प्राप्त कर । **भगवओ**–भगवान के समीप । **वा**–अथवा । अणगाराणां–अणगारों के समीप । **सोच्चा**–सुनकर। **इहं**–इस लोक में । **एगेसिं**–किसी किसी व्यक्ति को । **णायं**–ज्ञात हो जाता है । **एस खलु**–यह अग्निकाय का समारम्भ निश्चय ही। **मोहे**–मोह का कारण है । **एस**–यह । **खलु**–निश्चय ही । **गंत्थे**–अष्ट कर्म की गांठ है । **एस खलु**–यह निश्चय ही । **मारे**–मृत्यु का कारण है । **एस खलु**–यह निश्चय ही । **णरए**–नरक का कारण है । **इच्चत्थं**–इस अर्थ के लिए । **गड्ढिए**–मूर्च्छित । **लोए**–लोक हैं । **जमिणं**–जो यह प्रत्यक्ष । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **अगणि कम्मसमारम्भमाणे**–अग्नि का समारम्भ करते हुए । **अण्णे**–अन्य । **पाणे**–प्राणियों की भी। **विहिंसइ**–हिंसा करते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

हे जम्बू ! तू इन विभिन्न धर्मानुयायियों को देख, जो स्वागमानुसार **साधु क्रिया** करके लज्जित होते हुए भी, अपने आप को **अनगार** कहते हैं । यह स्पष्ट है कि- वे विभिन्न शस्त्रों से, अग्निकर्म समारंभ से अग्निकायिक जीवों एवं अन्य अनेक तरह के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं । अतः भगवान ने **परिज्ञा** विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि- प्रमादी जीव, इस क्षणिक जीवन के लिए, प्रशंसा मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से, तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखो के विनाशार्थ, स्वयं अग्नि का आरंभ करते हैं, दूसरे व्यक्तिसे कराते हैं और करने वाले अन्य को अच्छा समझते हैं । परंतु यह समारम्भ उनके लिए अहितकर है, अबोधि का करण है । इस प्रकार भगवान से

या अनागारों से सुन कर, सम्यक्‌बोध प्राप्त हुए किसी किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि- यह **अग्नि समारंभ** अष्ट कर्मों की **गांठ** है, यह **मोह** का कारण है, यह **मृत्यु** का कारण है और यह **नरक** का भी कारण है । फिर भी विषय-भोगों में मूर्छित-आसक्त **व्यक्ति** अग्नि काय के समारम्भ से निवृत्त नहीं होता । वह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न शस्त्रों के द्वारा अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता हुआ, अन्य जीवों की भी हिंसा करता हैं ।

V टीका-अनुवाद :

इस सूत्र में कहे गये अर्थका सारांश कहतें हैं... कि- हे शिष्य ! अपने शास्त्रमें कहे गये अनुष्ठानको करनेवाले अथवा पापाचरणसे लज्जाको पानेवाले विभिन्न शाक्य आदि मतवाले साधुओंको देखो ! वे कहतें हैं कि- "हम अणगार हैं" और विरूप याने कठोर प्रकारके शस्त्रोंसे अग्निकर्मके समारंभके द्वारा अग्निशस्त्रका आरंभ करनेवाले वे, अन्य अनेक-प्रकारके प्राणीओंकी हिंसा करतें हैं... यहां परमात्माने परिज्ञा कही है, कि- इसी असार जीवितके वंदन-मानन एवं पूजनके लिये तथा जन्म एवं मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये वे **शाक्यादि साधु** स्वयं हि अग्निशस्त्रका आरंभ करतें है, अन्योंके द्वारा अग्निशस्त्रका समारंभ करवातें है, और अग्निशस्त्रका समारंभ करनेवालोंकी अनुमोदना करतें है... और यह अग्निका समारंभ, सुखार्थी ऐसे उनको इस लोकमें एवं परलोकमें अहितके लिये होता है, और अबोधिके लिये होता है... अग्निका समारंभ पाप के लिये होता है ऐसा जानकर, जो मनुष्य सम्यग् दर्शनादि संयम स्वीकार कर और तीर्थंकर या साधुओंके मुखसे सुनकर कितनेक साधुओंने यह जाना है कि- यह अग्निसमारंभ कर्मबंधका कारण होनेसे ग्रंथ है, तथा मोह है, मार है एवं नरक है, अग्निके समारंभमें आसक्त मनुष्य, विभिन्न प्रकारके शस्त्रोंसे अग्निका समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकारके प्राणीओंकी हिंसा करता है...

अग्निके समारंभमें प्रवृत्त अज्ञानी लोक, विविध प्रकारके प्राणीओंकी हिंसा करतें है यह बात **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत **सूत्र** पृथ्वीकाय और अप्काय के प्रकरण में सूत्र १६, १७ और २४ के सूत्र की तरह ही है । केवल इतना ही अन्तर है कि- वहां **पृथ्वीकाय** एवं **अप्काय** का वर्णन है और यहां **तेजस्काय** समझना चाहिए । शेष व्याख्या उसी प्रकार होने से, वहां से समझीएगा।

अब **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे, अग्निके समारम्भ से अन्य जीवों की हिंसा होती है, उसका उल्लेख करेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ३८ ॥

से बेमि, संति पाणा पुढवीनिस्सिया, तण निस्सिया, पत्तनिस्सिया, कट्ठनिस्सिया, गोमयनिस्सिया, कयवर-निस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति, अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उद्दायंति ॥ ३८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि, सन्ति प्राणिनः पृथ्वीनिश्रिताः, तृणनिश्रिताः, पत्रनिश्रिताः, काष्ठनिश्रिताः, गोमयनिश्रिताः कचवरनिश्रिताः, सन्ति संपातिमाः प्राणिनः, आहत्य सम्पतन्ति, अग्निं च खलु स्पृष्टाः एके सङ्घातं आपद्यन्ते, ये तत्र सङ्घातं आपद्यन्ते, ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति ॥ ३८ ॥

III शब्दार्थ :

से बेमि-वह मैं कहता हूं । **संति**-विद्यमान हैं । **पाणा**-प्राणी । **पुढविनिस्सि या**-पृथ्वीकाय के आश्रय में । तणणिस्सिया-तृणों के आश्रित । पत्तणिस्सिया-पत्तों के आश्रित । **गोमयनिस्सिया**-गोबर के आश्रित । कयवरणिस्सिया-कूड़े-कचरे के आश्रित । **संति**-विद्यमान हैं । **संपातिमा**-उड़ने वाले । **पाणा**-प्राणी । **आहच्च**-कदाचित् । **संपयंति**-अग्नि में गिर पड़ते हैं । **च**-फिर । **अगणिं**-अग्नि को । **पुट्ठा**-स्पर्श होते हैं । **खलु**-निश्चय ही । **एगे**-कोई । **संघायमावज्जंति**-शरीर संकोच को प्राप्त होते हैं । **ते**-वे जीव । **तत्थ**-वहां पर । **परियावज्जंति**-मूर्च्छित होते हैं । **ते**-वे जीव । **तत्थ**-वहां पर । **उद्दायंति**-प्राणों को छोड़ देते हैं अर्थात् निर्जीव हो जाते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

वह मैं **(सुधर्मास्वामी)** कहता हूं कि- पृथ्वीकी निश्रामें, तृणकी निश्रामें, पत्तेकी निश्रामें, काष्ठकी निश्रामें, गोमयकी निश्रामें और कचरेकी निश्रामें प्राणी-जीवों होतें हैं, संपातिम जीव आकरके अग्निमें पडतें हैं, और अग्निका स्पर्श होनेसे संघात पातें है, संघात पाये हुए वे मूर्च्छाको पातें है, मूर्च्छाको पाये हुए वे प्राणोंसे मुक्त होतें है ॥ ३८ ॥

V टीका-अनुवाद :

अग्निकायके समारंभसे विविध प्रकारके जीवोंकी हिंसा होती है, वह इस प्रकार- पृथ्वीकाय स्वरूप और पृथ्वीकायका आश्रय लेकर रह हुए कृमि, कंथुआ, चींटीयां, गंडूपद (गंडोले) साप, मेंढक, बीच्छु और कर्कटक आदि तथा वृक्ष, छोड एवं लता आदि... तथा तृण

(घास) एवं पत्तेका आधार लेकर रहे हुए पतंगीये एवं इयल आदि, तथा काष्ठका आश्रय लेकर रह हुए घुणे एवं उद्धेहि चींटीयांके अंडे आदि, तथा गोमयके आश्रय लेकर रहे हुए कंथुवे और पनक याने लील-फुग आदि, तथा कचरा याने तृण पत्र और धुलिका समूह (उकरडे) का आश्रय लेकर रहे हुए कृमि, कीडे, पतंगीये आदि जंतुओकी हिंसा होती है...

तथा अपने आप हि उडकर आकर पडनेवाले मखीयां, भ्रमर, पतंगीये, मच्छर, पक्षी एवं वायु आदिको संपातिम जीव कहतें हैं, वे स्वयं हि जलते हुए अग्निकी ज्वालामें आकर पडतें हैं...

इस प्रकार पृथ्वीकाय आदिकी निश्रामें रहे हुए जीवोंको पीडा एवं मरण अग्निकायके समारंभसे होता है यह बात सूत्रके पदोंसे हि कहते हैं... कि- रांधना, पकाना, तापना इत्यादि अग्निके उपभोगकी इच्छावाला मनुष्य अवश्य हि अग्निका समारंभ करेगा हि, और अग्निके समारंभमें पृथ्वीकाय आदिके आश्रयमें रहे हुए पूर्वोक्त जीव अब कहेंगे ऐसी मरण पर्यंतकी अवस्थाको पातें हैं... वह इस प्रकार- अग्निका स्पर्श होते हि कीतनेक जीव मोरके पींच्छेकी तरह गात्र (शरीरके अंगोपांग) के संकोचको पातें हैं, अग्निके स्पर्शसे हि शलभ याने पतंगीये आदि गात्र संकोचको पातें हैं, अग्निका ही यह प्रताप है... अग्निकी गरमीसे अभिभूत हुए ऐसे पतंगीये आदि जीव मूर्च्छाको पातें हैं, और मूर्च्छित हुए ऐसे कृमि, चींटीयां, भंवरे, नेउले (नकुल) आदि जीव, द्रव्य प्राणके त्याग स्वरूप मरणको पातें हैं... इस प्रकार अग्निके समारंभमें केवल (मात्र) अग्निकाय-जीवोंकी हि विराधना-हिंसा होती है, इतना हि नहिं, किंतु अन्य पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोमय एवं कचरे का आश्रय लेकर रहे हुए एवं संपातिम जीवोंका भी विनाश होता है... इसीलिये हि परमात्माने भगवती-सूत्रमें कहा है कि- समान उम्रवाले दो पुरुष एक-दुसरेके साथ अग्निकायका समारंभ करतें हैं, उनमें एक पुरुष अग्निकायको समुज्ज्वलित (जलाता) करता है, और दुसरा मनुष्य अग्निको बुझाता है, तो अब उन दोनो पुरुषोंमें से कौन पुरुष महाकर्मकारक है और कौन पुरुष अल्प कर्मकारक है ? हे गौतम ! जो पुरुष अग्निको जलाता है, वह महाकर्मकारक है, और जो अग्निको बुझाता है वह अल्पकर्मकारक है...

इस प्रकार बहोत जीवोंको पीडा एवं मरण पर्यंतका दुःख देनेवाले अग्निके समारंभको जानकर मन-वचन एवं कायासे तथा करण, करावण और अनुमोदनके द्वारा अग्निके समारंभका त्याग करना चाहिये, यह बात अब **सूत्रकार महर्षि** आगेके सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

यह हम देख चुके हैं कि- **अग्नि** सबसे **तीक्ष्ण शस्त्र** है । इसकी प्रज्वलित ज्वाला की लपेट में आने वाला सजीव या निर्जीव कोई भी पदार्थ, अपने रूप में सुरक्षित नहीं रह सकता । वह पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का विनाश करने के साथ

उनके आश्रय में रहे हुए, त्रस जीवों को भी जलाकर भस्म कर देती है । उसकी लपेट में आने वाले जीवों के कुछ नाम गिनाते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि पृथ्वी, तृण, पत्ते, काष्ठ, गोबर एवं कूड़े-करकट में स्थित जीवों को तथा आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु कभी आग में गिर पड़े तो वह अग्नि, उनके प्राणों का नाश कर देती है ।

यह स्पष्ट है कि- आग पृथ्वी पर प्रज्वलित होती है और पृथ्वी के आश्रय में जो अनेक जीव रहे हुए हैं । जैसे कि- कृमि, पिपीलिका, कीड़े-मकोड़े, बिच्छू, सर्प, मेंडक तथा वृक्ष, लता वेल आदि के जीव पृथ्वी के आधार ही स्थित है । अतः जब आग लगती है तो इनमें से अनेक जीवों की हिंसा होना संभव है ।

आग को प्रज्वलित करने में तृण, काष्ठ और गोबर का प्रयोग किया जाता है तथा घर के या गलियों के कूड़े-कचरे को एकत्रित करके उसमें आग लगा दी जाती है । परन्तु इससे अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है । क्योंकि- तृण, काष्ठ एवं गोबर के आश्रय में पतंगे, भ्रमर, लट, घृण, कुंथुवे, आदि अनेक जीव-जन्तु रहते हैं और कूड़े-कचरे में तो विभिन्न त्रस जीव रहते हैं-कीड़े-मकोड़े, पिपीलिका आदि का पाया जाना तो साधारण सी बात है । अतः इनको जलाने में अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जब आग जलती है, तो आकाश में उड़ने वाले मक्खी, मच्छर, भ्रमर एवं अन्य पक्षी गण कभी-कभी उसमें आ गिरते हैं । और अग्नि के जाज्वल्यमान ज्वाला के उष्ण संस्पर्श पाकर उनका शरीर सिकुड़ जाता है, वे तुरन्त मूर्च्छित होकर प्राण त्याग कर देते हैं ।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं, कि- अग्नि का समारम्भ सबसे भयानक है । इसमें छःकाय के जीवों की हिंसा होती है । इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि- अग्नि के समारंभ का परित्याग करें । इसी बात की प्रेरणा देते हुए, **सूत्रकार महर्षि** आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ३९ ॥

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी, नेव सयं अगणिसत्थं समारंभे, नेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ३९ ॥

II संस्कृत-छाया :

अत्र शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, तं परिज्ञाय मेधावी,

नैव स्वयं अग्निशस्त्रं समारभे, नैवाऽन्यैः अग्निशस्त्रं समारम्भयेत्, अग्निशस्त्रं समारभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात्, यस्य एते अग्निकर्मसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, सः खु (खलु) मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि ॥ ३९ ॥

III शब्दार्थ :

एत्थ–अग्निकाय के विषय में । **सत्थं**–स्वकाय और परकाय रूप शस्त्र का । **समारम्भमाणस्स**–समारम्भ करने वाले को । **इच्चेते**–यह । **आरम्भा**–आरंभ । **अपरिण्णाया भवन्ति**–अपरिज्ञात हैं । **तं**–उस अग्नि समारंभ को । **परिण्णाय**–परिज्ञात करके । **मेहावी**–बुद्धिमान । **णेव**–नहीं । **सयमेव**–स्वयमेव । **अगणि सत्थं**–अग्नि शस्त्र का । **समारम्भेज्जा**–समारंभ करे । **णेवऽण्णेहिं**–न अन्य से । **अगणि सत्थं**–अग्नि शस्त्र का । **समारंभावेज्जा**–समारंभ करावे । **अगणि सत्थं**–अग्नि शस्त्र का । **समारंभमाणे**–समारंभ करने वाले । **अण्णे**–अन्य व्यक्ति का । **न समणुजाणेज्जा**–अनुमोदन भी न करे । **जस्सेते**–जिसने यह । **अगणि कम्म समारंभा**–अग्नि कर्म समारंभ । **परिण्णाया**–परिज्ञात । **भवंति**–होते हैं । **से हु मुणी**–निश्चय पूर्वक वही मुनि । **परिण्णाय कम्मे**–परिज्ञात कर्मा है । **तिबेमि**–ऐसा मैं कहता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

अग्निकायमें शस्त्रका समारंभ नहिं करनेवालेने यह सभी आरंभ परिज्ञात कीये है, उन आरंभको जानकर मेधावी (साधु) स्वयं अग्निशस्त्रका आरंभ न करे, अन्यके द्वारा अग्निशस्त्रका समारंभ न करवाये, और अग्निशस्त्रका समारंभ करनेवाले अन्यका अनुमोदन न करे, जीसने यह सभी अग्निकर्मके समारंभ परिज्ञात कीये है वह हि मुनी परिज्ञातकर्मा है ऐसा मैं **(सुधर्मास्वामी) (हे जंबू !)** तुम्हे कहता हुं ॥ ३९ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां अग्निकायमें स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और उभयकायशस्त्र स्वरूप शस्त्रसे पचन-पाचनादि स्वरूप आरंभ करनेवालेने कर्मबंधके कारणोंको समझे नहिं है, और अग्निकाय-शस्त्रका समारंभ नहिं करनेवालेने यह सभी आरंभ **परिज्ञात** कीये है... अग्निशस्त्रकी **परिज्ञा** करके **मेधावी साधु** स्वयं अग्निशस्त्रका समारंभ न करें, अन्यके द्वारा अग्निशस्त्रका समारंभ न करवाये और अग्निशस्त्रके समारंभको करनेवाले अन्योंकी अनुमोदना न करे... जीस मुनिने यह सभी **अग्निकर्म समारंभ** ज्ञ परिज्ञासे जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग कीया है वह हि मुनी परमार्थ दृष्टिसे **परिज्ञातकर्मा** है... ऐसा हे जंबू ! मैं (सुधर्मास्वामी) तुम्हें कहता हुं...

VI सूत्रसार :

जो व्यक्ति ज्ञ परिज्ञा द्वारा अग्निकाय के स्वरूप का परिज्ञान करके, एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा अग्नि के आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करता है, वही वास्तव में **मुनि** है, और वह ही **परिज्ञात कर्मा** है । इस संबन्ध में दूसरे और तीसरे उद्देशक के अन्तिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से लिख चूके हैं, अतः वहां से देख लिजीएगा। 'त्तिबेमि का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए' ।

॥ शस्त्रपरिज्ञायां चतुर्थः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी**, **श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी**, एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान राजेन्द्र कोष** निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिये **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **"शिवमस्तु सर्वजगतः"**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ५

卐 वनस्पतिकाय 卐

चतुर्थ उद्देशक पूर्ण हुआ, अब पांचवे उद्देशकका आरंभ करतें हैं... यहां अनंतर (पूर्वकि) उद्देशकमें अग्निकायका स्वरूप कहा, अब संपूर्ण साधुके गुणोंकी प्राप्तिके लिये क्रमानुसार वायुकायका स्वरूप कहनेकी जगह वनस्पतिकायका स्वरूप कहतें हैं...

प्रश्न- यहां क्रमका उल्लंघन क्यों कीया ?

उत्तर- यह वायुकाय आंखोसे दिखता नहिं है, अतः वायुकी श्रद्धा दुःशक्य है, इसीलिये पृथ्वीकाय अप्काय, तेउकाय एवं वनस्पतिकाय आदि सभी एकेंद्रिय जीवोंके स्वरूपको जाननेके बाद हि वायुकायका बोध सरल बनता है... और क्रम वह हि हो शकता है कि- जीस क्रमसे शिष्य जीवादि तत्त्वोंको जानने-समझनेमें उत्साहित हो...

और वनस्पतिकाय तो आबालवृद्ध सभी लोकको स्पष्ट चिह्नोंसे दिखाइ देता है, अतः अग्निकायके बाद वनस्पतिकायका स्वरूप कहतें हैं... इस संबंधसे आये हुए इस पांचवे उद्देशकके चार अनुयोग द्वार तब तक कहना चाहिये कि- जब तक नाम निष्पन्न निक्षेपमें वनस्पति-उद्देशकका निरूपण (कथन) आये...

अब वनस्पतिकायके भेद-प्रभेदका विस्तार कहनेके लिये, पहले कहे हुए सिद्ध अर्थोके अतिदेश (हवाला) के माध्यमसे निर्युक्तिकार कहतें हैं...

नि. १२६

पृथ्वीकायको समझनेके लिये जीतने द्वार कहें हैं, वे सभी वनस्पतिकायमें भी होतें हैं, किंतु जहां विभिन्नता है, वह प्ररुपणा, परिमाण, उपभोग, शस्त्र और लक्षण द्वार विस्तारसे कहतें हैं... उनमें प्रथम प्ररूपणा का स्वरूप कहते हुए, **निर्युक्तिकार महर्षि** निर्युक्ति गाथा कहतें हैं...

नि. १२७

इस जगतमें वनस्पतिकायके मुख्य दो भेद हैं...

१. सूक्ष्म वनस्पतिकाय २. बादर वनस्पतिकाय...

उनमें सूक्ष्म वनस्पतिकाय संपूर्ण लोक-विश्वमें होतें हैं, किंतु वे चर्मचक्षुसे दिखतें हैः तथा उनका एक हि प्रकार है... और बादर वनस्पतिकायके दो भेद हैं... वह कहतें हैं...

नि. १२८

बादर वनस्पतिकायके प्रत्येक एवं साधारण ऐसा संक्षेपसे दो भेद हैं... प्रत्येक याने एक शरीरमें एक जीव... जैसे कि- पत्ते, पुष्प, मूल, फल, शाखा (डाली) वगैरह... और एक हि शरीरमें परस्पर जुडे हुए अनंत जीवों जहां रहतें हैं वह साधारण वनस्पतिकाय... प्रत्येक वनस्पतिकायके बारह (१२) भेद है, और साधारण वनस्पतिकायके अनेक भेद हैं तथा वनस्पतिकाय के संक्षेप से छह (६) भेद भी कहे गयें हैं...

अब प्रत्येक वनस्पतिकायके बारह भेद कहतें हैं...

नि. १२९

१. वृक्ष = वृक्षके दो प्रकार हैं, एकबीज एवं बहुबीज... उनमें एक बीजवाले पीचुमंद (लीमडो) अंकोट (पीस्तेका वृक्ष) आम, शाल-वृक्ष, अंकोल्ल (अंकोट वृक्ष-पीस्ता) पीलु का वृक्ष (पीलुडां), शल्लकीका वृक्ष वगैरह... और बहुबीजवाले वृक्ष = उदुंबर, कपित्थ (कोठा) अस्तिक, तिंदुक, बिल्व, आमला, पनस, दाडिम, मातुलिंग (बीजोरा) आदि अनेक बीजवाले वृक्ष हैं...

२. गुच्छ = वृंताक (बेंगन) कपास, जपा, आढकी, तुलसी, कुसुंभरी, पिप्पली, नीली आदि...

३. गुल्म = नवमालिका, सेरियक, कोरंटक, बंधुजीवक, बाणका पौधा, करवीर, सिंदुवार, विचलिक, जाइ, यूथिका आदि...

४. लता = पद्म, नाग (नागरवेल), अशोक, चंपक, चूत, वासंती, अतिमुक्तक, कुंद (चमेलीका एक प्रकार) इत्यादि...

५. वल्ली = कुष्मांडी, कालिंगी, त्रपुषी, तुंबी, वालुंकी, एला, लुकी, पटोली (ककडीकी जाति) आदि

६. पर्वगा = इक्षु (शेरडी) वीरण, शुंठ, शर, वेत्र, शतपर्व, वंश, नल, वेणुका, आदि...

७. तृण = श्वेतिका, कुश, दर्भ, पर्वक, अर्जुन, सुरभि, कुरुविंद, आदि...

८. वलय = ताल, तमाल, तक्कली, शाल, सरकाल केतकी कदली (केला) कंदली आदि...

९. हरित = तंदुलीयक, धूयारुह, वस्तुल, बदरक, चिल्ली, पालक आदि...

१०. औषधि = शाली (डांगर-चावल) व्रीहि (जव) गोधूम (गेहुं) यव, कलम, मसूर, तिल, मुद्ग (मृग), माष (उडद) निष्पाव, कुलत्थ, अतसी, कुसुंभ, कोद्रव, कंगु, आदि...

११. जलरुह = उदक, अवक, पनक, शैवल (सेवाल-लीलयुग) कलंबुक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, पुंडरीक आदि...

१२. कुहुण = भूमिस्फोटक, कुंडुक, उद्देहलिका आदि...

यह सभी प्रत्येक वनस्पतिकाय जीव वृक्षोंके मूल, स्कंध (थड) कंद, त्वक् (छाल) शाखा, प्रवाल आदिमें प्रत्येक जीव **असंख्य** होतें हैं...

साधारण वनस्पतिकाय अनेक प्रकारसे होते हैं...

वे इस प्रकार- अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सिंगोडे, मूले, कृष्णकंद, सूरणकंद, काकोली, क्षीरकाकोली आदि...

अब अन्य प्रकार से वनस्पतिकाय जीवोंका संक्षेपमें छह (६) प्रकार होतें हैं, उन्हे अब निर्युक्ति गाथासे कहतें हैं...

नि. १३०

१. अग्रबीज... कोरंटक आदि

२. मूलबीज... कदली (केला) आदि

3. स्कंधबीज... अरणिक (अरणि) आदि

४. पर्वबीज... इक्षु (शेलडी) वंश, वेत्र (नेतर) आदि

५. बीजरुह... शालि, व्रीहि आदि

६. संमूर्च्छनज... पद्मिनी, शृंगारक (शिंगोडे) सेवाल आदि...

इस प्रकार संक्षेपसे वनस्पतिकायके छह (६) प्रकार है... अर्थात् छह (६) प्रकारसे अधिक भेद नहिं है...

अब प्रत्येक वनस्पतिकायके लक्षण कहतें हैं...

नि. १३१

जिस प्रकार अनेक सरसव (राइ) का पिंड बनाने से, वे सभी सरसव विभिन्न होते हुए भी एक हो, एसा लगता है... अथवा रज्जु - दोरडी - रस्सीमें अनेक धागे - तंतु होते हुए भी वह रस्सी, एक हि दिखती है, ठीक इसी प्रकार वृक्ष के थड, डाली आदिमें प्रत्येक वनस्पतिकायके जीव, अनेक होते हुए भी, वह वृक्षका थड, डाली, आदि एक हो, ऐसा दिखता है... अर्थात् वृक्षके स्कंध (थड), शाखा - डाली में भी प्रत्येक वनस्पतिकाय जीव **असंख्य** होते हैं... अब इसी अर्थमें अन्य दृष्टांत कहतें हैं...

नि. १३२

जिस प्रकार तिल-पापडी बहोत तिलके दानेसे बनी हुइ होती है, वैसे हि प्रत्येक वनस्पतिकाय स्वरूप वृक्ष भी अनेक प्रत्येक वनस्पतिकायके शरीरोंका समूह है...

अब प्रत्येक वनस्पतिकाय जीव कहां एक और कहां अनेक होते हैं वह कहतें हैं

नि. १३३

विविध प्रकारके आकारके पत्ते एक जीवसे अधिष्ठित होतें हैं, और ताल, सरल, नारीयेल आदि वृक्षोंमें भी एक हि जीव अधिष्ठित होता है, और शेष वृक्षोमें अनेक जीव होतें हैं...

अब प्रत्येक वनस्पतिकाय जीवोंकी संख्या कहतें हैं...

नि. १३४

१. पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय जीव... घनीकृत लोकाकाशकी श्रेणीके असंख्येय भागमें रहे हुए आकाश प्रदेशोंकी राशि = संख्या प्रमाण होते हैं, और वे पर्याप्त बादर अग्निकाय जीवोंसे असंख्यगुण अधिक हैं... तथा अपर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय जीव असंख्य लोकाकाशके प्रदेश राशि प्रमाण है... और वे अपर्याप्त बादर तेउकायकी संख्यासे असंख्यगुण अधिक हैं... प्रत्येक वनस्पतिकाय अपर्याप्त या पर्याप्त, सूक्ष्म होतें नहिं हैं... वे केवल बादर हि होतें हैं... और साधारण वनस्पतिकाय सामान्यसे अनंत हैं... और वे सूक्ष्म और बादर दो प्रकारसे हैं, और पुनः वे दोनों अपर्याप्त एवं पर्याप्त भेदसे दो प्रकारके होतें हैं और वे चारों राशिके हर एक भेदमें **अनंतलोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्या प्रमाण अनंत जीव हैं**... वे इस प्रकार- पर्याप्त बादर साधारण वनस्पतिकाय से अपर्याप्त बादर **साधारण वनस्पतिकाय** असंख्यगुण अधिक हैं... और अपर्याप्त बादर साधारण वनस्पतिकाय जीवोंसे अपर्याप्त सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय जीव असंख्यगुण अधिक हैं, तथा अपर्याप्त सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय से, पर्याप्त सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय जीव **असंख्यगुण** अधिक हैं...

अब जो लोग वनस्पतिकायमें जीव नहिं मानतें उनके आगे वनस्पतिमें जीवत्वकी सिद्धि करते हुए निर्युक्तिकार स्वयं गाथासे कहतें हैं...

नि. १३५

यह प्रत्यक्ष दिखाइ जा रहे वनस्पति-वृक्ष स्वरूप शरीरसे वनस्पतिकाय जीव प्रत्यक्ष (साक्षात्) हि है... वे इस प्रकार- यह विविध प्रकारके आकार स्वरूप वनस्पति-वृक्षके जीवोंके शरीर जीवके प्रयत्न विना असंभव हि है... अनुमान प्रयोग इस प्रकार है...

१. हाथ-पाउं आदिके समूहकी तरह तथा इंद्रिय आदिकी उपलब्धि (प्राप्ति) के कारणसे वृक्ष जीवका हि शरीर है...

२. हाथ-पाउं आदिके समूहकी तरह तथा जीवके शरीर होनेके कारणसे वृक्ष सचित्त होतें हैं...

३. सोये हुए पुरुषकी तरह और अस्पष्ट चेतनावाले होनेके कारणसे वृक्ष, मंद (अल्प) ज्ञान-सुख आदिवाले होतें हैं...

कहा भी है कि- इंद्रिय आदिकी प्राप्तिके कारणसे तथा हाथ-पाउं आदिके समूहके तरह हि वृक्ष आदि वनस्पति, जीवोंके हि शरीर हैं... तथा शरीरवाले होनेके कारणसे सोये हुए मनुष्य आदिकी तरह अल्पज्ञान एवं अल्पसुखवाले वनस्पति सजीव हि हैं...

अब जो सूक्ष्म वनस्पतिकाय हैं, वे आंखोसे नहिं दिखाइ देतें, वे तो केवल प्रभु आज्ञा = वचनसे हि माने जातें हैं, और राग-द्वेषके अभाववाले वीतराग सर्वज्ञ प्रभुके वचनको हि आज्ञा कही गइ है...

अब साधारण वनस्पतिकायका लक्षण कहतें हैं...

नि. १३६

शरीर और आहार आदि जिन्होका एक हो वह साधारण... जहां अनंत जीवोंका एक हि शरीर हो, तथा आहार और श्वासोच्छ्वास भी एक साथ हि सभी जीवोंका हो, वह साधारण वनस्पतिकाय... सारांश यह है कि- एक जीव जब आहार ले तब सभी जीव आहार लेतें हैं और एक जीव जब श्वास ले तब सभीका श्वास लेना होता है, वैसे हि एक साथ सभीका निःश्वास होता है...

इसी हि बातकी स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि-

नि. १३७

जहां एक जीव श्वास योग्य पुद्गल लेता है वहां वह श्वास सभीके लिये होता है, इसी प्रकार जहां बहुत जीव श्वास ग्रहण करतें हैं वह एक को भी होता है... क्योंकि- साधारण वनस्पतिकाय जीवों की परिस्थिति हि ऐसी हैं...

अब जो वनस्पति बीजसे अंकुरित होतें है, वे किस प्रकार प्रगट होतें हैं, वह कहतें हैं...

नि. १३८

जीवोंकी उत्पत्ति स्थानको योनि कहतें हैं... बीजकी अवस्था दो प्रकारकी होती है, योनि-अवस्था और अयोनि-अवस्था... अर्थात् अक्षतयोनि और क्षतयोनि... जीवने त्याग कीया हुआ बीज जब तक योनि-अवस्थाका त्याग नहिं करता तब तक वह बीज योनिभूत अर्थात् अक्षतयोनि कहा जाता है... उस योनिभूत बीजमें जीव उत्पन्न होता है... वह बीज का जीव अथवा अन्य कोइ भी जीव वहां आकर उत्पन्न होता है... सारांश यह है कि- जब उस बीजके जीवने आयुष्यकर्म क्षय होनेसे बीजका त्याग कीया हो, उसके बाद जब उस बीजको पृथ्वी और जल आदिका संयोग मीले तब कभी (सायद) वह हि जीव आकर उत्पन्न होता है, अथवा तो और कोइ जीव आकर उत्पन्न होता है... अब जो जीव मूल रूपसे उत्पन्न हुआ हो वह हि जीव प्रथम (पहले) पत्र स्वरूप भी बनता है... क्योंकि- मूल-पत्तेको एक हि जीव बनाता है... पृथ्वी, जल और काल (समय) की अपेक्षा वाली यह हि बीजकी उत्पत्ति है... यह बात नियम सूचक है... बाकीके किशलय (कुंपल) आदि सभी अवयव मूल-जीवके परिणाम नहीं होतें, किंतु अन्य जीव आकर उत्पन्न होतें हैं... कहा भी है कि- सभी किशलय (कुंपल) उत्पन्न होती वख्त अनंतकाय **साधारण** होतें हैं... और बादमें **प्रत्येक** होतें हैं... ऐसा सूत्रमें कहा है...

अब साधारण वनस्पतिकायका लक्षण कहतें हैं...

नि. १३९

१. चक्रक = जिस वनस्पतिके मूल, कंद, छाल, पत्ते, फुल और फल आदिको तोडनेसे यदि चक्रके आकारसे समान टूकडे हो, वह चक्रक साधारण वनस्पतिकाय...

२. ग्रंथि = पर्व अथवा तो भंग (तुटने) का स्थान, कि जो चूर्ण (रजःकण) से व्याप्त (भरपुर) हो, वह...

अथवा जिस वनस्पतिको तोडने (भांगने) से पृथ्वीके सरीखे भेदसे जलसे भरे केदार (क्यारे) के उपर शुष्क-तरिकाकी तरह पुटभेदसे तुटती है, वह अनंतकाय (साधारण) है...

अब अन्य लक्षण कहतें हैं...

नि. १४०

गूढ सिरावाले पत्ते = जिनके सिरा = नस गुप्त हो... वे दो प्रकारके होतें हैं १. क्षीरवाले २. क्षीर रहित...

प्रनष्ट संधि = जिनकी संधियां न हो, उन्हें अनंतकाय (साधारण-वनस्पतिकाय) समझीयेगा...

इस प्रकार साधारण वनस्पतिकायके लक्षण कहनेके बाद अब नाम लेकर अनंतकाय बतातें हैं...

नि. १४१

सेवाल, कत्थभाणिक, अवक, पनक, किण्वहठ, आदि और ऐसे अन्य अनेक प्रकारके **अनंतकाय**- साधारण वनस्पतिकाय हैं...

अब प्रत्येक वनस्पतिकायके एक, दो, संख्यात यावत् असंख्यात आदि जीवोंने ग्रहण कीये हुए शरीरको दृश्यत्व कहतें हैं...

नि. १४२

ताल, सरल (चीड का वृक्ष), नारीयेल आदिके स्कंध (थड) एक जीवके शरीर स्वरूप होतें हैं... और वे चक्षुग्राह्य (आंखोसे दिखाइ देतें हैं) होतें हैं... तथा बिस, मृणाल, कर्णिका, कुणक, कटाह आदि भी एक जीवके शरीर होतें हैं, और वे भी चक्षुग्राह्य होतें हैं... इसी प्रकार दो, तीन, संख्यात और असंख्य जीवोंने ग्रहण कीये हुए प्रत्येक वनस्पतिकायके शरीर भी आंखोसे दृश्य-दिखतें हैं

प्रश्न- क्या अनंतकाय भी ऐसे होतें हैं ? उत्तर- ना, नहिं...

यह बात निर्युक्तिकी गाथासे कहतें हैं...

नि. १४३

एक-दो से लेकर असंख्य जीवोंका अनंतकायका शरीर आंखोसे दिखाइ नहि देतें, क्योंकि- ऐसे होते हि नहिं... अनंतकाय (साधारण वनस्पतिकाय) के शरीर एक, दो आदि असंख्य जीवोंका शरीर होता हि नहिं, **किंतु अनंत जीवोंका हि शरीर होता है...**

प्रश्न- तो फिर वो कैसे मालुम हो ?

उत्तर- अनंतकाय = बादर निगोदके शरीर आंखोसे दिखतें हैं, सूक्ष्म निगोदके शरीर नहिं दिखतें... क्योंकि- उन्हे सूक्ष्म नाम कर्मका उदय है, अतः अनंत-जीवके शरीर, **सूक्ष्म निगोद** आंखोसे नहि दिखाइ देतें... और निगोद निश्चित हि अनंतजीवोके समूह स्वरूप हि होतें हैं... कहा भी है कि- इस संपूर्ण विश्वमें निगोदके (साधारण = अनंतकाय स्वरूप वनस्पतिकाय) के असंख्य गोले हैं, और एक-एक गोलेमें असंख्य निगोद (अनंतकाय-शरीर) होतें हैं, और एक-एक निगोदमें अनंत-अनंत जीव होतें हैं...

इस प्रकार वनस्पतिकायके वृक्ष आदि एवं प्रत्येक आदि भेदोंसे तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्शके भेद-प्रभेदसे हजारों भेद होतें हैं, और **संख्यात अर्थात् १० लाख + १४ लाख = २४ लाख प्रकारकी योनि** वनस्पतिकायकी जानीयेगा... वे इस प्रकार- वनस्पतिकायकी योनि संवृत्त होती है, और वह भी सचित्त अचित्त एवं मिश्र भेदसे तीन प्रकारकी होती है, तथा शीत, उष्ण एवं मिश्र भेदसे एक-एकके तीन भेद होतें हैं...

१. प्रत्येक वनस्पतिकायकी दश लाख योनियां होती हैं,

२. साधारण वनस्पतिकायकी चौदह (१४) लाख योनियां होती हैं...

और दोनों प्रकारकी वनस्पतिकी कुलकोटि पच्चीस लाख (क्रोड) होती हैं...

इस प्रकार विधान याने भेद-द्वार कहने के बाद, अब **परिमाणद्वार** कहतें हैं... उनमें पहले सूक्ष्म अनंतकायका परिमाण कहतें हैं...

नि. १४४

जैसे कि- कोइक मनुष्य धान्य (अनाज) मापनेके प्रस्थ-कुडव आदिसे सभी धान्य माप कर अन्य जगह पर रखे, उसी प्रकार कोइक मनुष्य साधारण वनस्पतिकायको लोक-प्रमाण कुडवसे मापकर अन्य जगह पर रखे, तब इस प्रकार माप-गिनती करनेमें अनंत लोक हो जाय...

अब बादर निगोदका परिमाण कहतें हैं...

नि. १४५

घनीकृत संपूर्ण लोकके प्रतरके असंख्येय भागमें रहे हुए राशि-संख्या प्रमाण असंख्य पर्याप्त बादर निगोद होतें हैं... और वे पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकायके जीवोंसे असंख्यगुण अधिक होतें हैं, तथा शेष तीन राशिमेंसे एक एक राशि असंख्य लोकाकाशके प्रदेश प्रमाण

होती है... वे इस प्रकार- पर्याप्त बादर निगोद से अपर्याप्त बादर निगोद... । अपर्याप्त बादर निगोदसे अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद अधिक होतें हैं, और उनसे पर्याप्त सूक्ष्म निगोद अधिक-अधिकतर हैं... इस प्रकार चारों प्रकारके निगोद-अनंतकायका अल्पबहुत्व कहा... तथा साधारण वनस्पतिकायके जीव उनसे अनंतगुण अधिक होतें हैं, यह चारों प्रकारकी राशिके निगोदके जीवोंका परिमाण (संख्या) कहा...

परिमाण-द्वारके बाद अब उपभोग-द्वार कहतें हैं...

नि. १४६

१. आहार- फल, पत्ते, किशलय (कुंपल), मूल, कंद और छाल आदिसे बना हुआ आहार...

२. उपकरण- पंखा, कडे, कवल, कार्गल (कागज) आदि...

3. शयन... खाट पाटिये आदि...

४. आसन... कुर्शी (चेर) आदि...

५. यान... पालखी, आदि...

६. युग्य... गाडा (बैलगाडी) आदि...

७. आवरण... पाटिये, दरवाजे आदि...

८. प्रहरण... लकडी, मुसुंढी आदि...

९. शस्त्रोंके प्रकार... बाण, दातरडा, तरवार, छुरी, आदि गंड (हाथा) आदि स्वरूप उपयोग...

इसी प्रकार वनस्पतिकाय का और भी अनेक प्रकारसे उपयोग होता है...

नि. १४७

१. आतोद्य... पटह (ढोल) भेरी, वांसली, वीणा, झालर आदि...

२. काष्ठकर्म- प्रतिमा, थंभे, बारशाख आदि...

3. गंधांग- बालक प्रियंगु, पत्रक दमनक, त्वक् चंदन उशीर देवदारु आदि...

४. वस्त्र- वल्कल (छालके वस्त्र) कपास (रुइ) आदि

५. माला- नवमल्लिका, बकुल, चंपक, पुन्नाग, अशोक, मालती, विचकिल (मोगरो) आदि...

६. ध्मापन- इंधनसे जलाना...

७. वितापन... शीत (ठंड) दूर करनेके लिये लकडी जलाना...

८. तेल... तिल, अलसी, सरसों, इंगुदी, ज्योतिष्मती, करंज आदि...

९. उद्योत... वर्त्ति (दीवेट) तृण, चूडा, काष्ठ आदिसे

इस प्रकार वनस्पतिकायके उपभोगके **स्थान** = प्रकार कहकर, अब उपसंहार करते हुए कहतें हैं कि-

नि. १४८

इस प्रकार दो गाथांओंसे कहे गये कारणोंको लेकर साता-सुखके लिये मनुष्य प्रत्येक एवं साधारण वनस्पतिकायकी हिंसा करता है... जीव अपने वैषयिक साता-सुखके लिये अन्य वनस्पति आदि जीवोंको दुःख होता है...

अब शस्त्र द्वार कहतें हैं... द्रव्य और भाव भेदसे शस्त्रके दो प्रकार है, और उनमें द्रव्यशस्त्रके भी समास तथा विभाग ऐसे दो भेद है, उनमें समास द्रव्यशस्त्रका स्वरूप कहतें हैं...

नि. १४९

१. कल्पनी = जिससे वनस्पति छेदी जाये वह-

२. कुठारी = कुहाडी - पेड-वृक्ष काटनेका साधन...

३. असियग-दात्र हंसिया गंडासा (दातरडुं)

४. दात्रिका - छोटी हंसिया (दातरडी)

५. कुद्दालक - कुदाली, कुदाल, खंता

६. वासि वांसलो वसूला (फरसी)

७. परशु = कुहाडी, फरसी, कुहाडो...

यह सभी वनस्पतिके शस्त्र हैं तथा हाथ, पाउं, मुख, अग्नि आदि सभी, सामान्यसे

वनस्पतिकाय के शस्त्र हैं...

अब विभाग द्रव्य शस्त्रका स्वरूप कहतें हैं...

नि. १५०

१. स्वकायशस्त्र... लकडी, सोटी आदि...

२. परकायशस्त्र... पत्थर, अग्नि आदि...

3. उभयकायशस्त्र... दात्र, दात्रिका, कुहाडा (कुल्हाडा) यह सभी द्रव्य शस्त्र कहे. अब भावशस्त्र कहतें हैं...

भावशस्त्र = दुष्ट मन वचन एवं कायाकी चेष्टा=क्रिया स्वरूप असंयम हि भावशस्त्र है...

अब सभी निर्युक्ति गाथाओंके अर्थका उपसंहार सूचक अंतिम गाथा समाप्ति कहतें हैं...

नि. १५१

वनस्पतिकायके अधिकारमें कहे गये द्वारोंके अलावा शेष रहे द्वारोंका अर्थ पृथ्वीकायके अधिकारमें कहे गये द्वारोंके समान हि समझ लीजीयेगा... इस प्रकार वनस्पतिकायके अधिकारमें निर्युक्ति पूर्ण हुइ...

अब **सूत्रानुगम** में स्पष्ट रीतसे (बोलनेमें स्खलना न हो इस प्रकारसे) सूत्रका उच्चार करना चाहिये... वह सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४० ॥

तं नो करिस्सामि सुमुट्ठाए, मत्ता मईणं, अभयं विदित्ता, तं जे नो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चइ ॥ ४० ॥

II संस्कृत-छाया :

तत् न करिष्यामि समुत्थाय, मत्वा मतिमान्, अभयं विदित्वा, तम् यः न कुर्यात् (करोति) एषः उपरतः, एतस्मिन् उपरतः, एषः अनगारः इति प्रोच्यते ॥ ४० ॥

III शब्दार्थ :

तं–उस वनस्पतिकाय का आरम्भ । **णो करिस्सामि**–नहीं करूंगा । **समुट्ठाए**–सम्यक् प्रव्रजित होकर । **मत्ता**–जीवादि पदार्थों को जानकर । **मइमं**–हे मतिमान् शिष्य ! **अभयं**–संयम को । **विदित्ता**–जानकर । **तं**–उस वनस्पतिकाय के आरंभ-हिंसा को। **जे**–जो। **णो करए**–

नहीं करता है । **एसोवरए**-वही उपरत-संवृत है । **एत्थोवरए**-जिन मार्ग में ही ऐसा त्यागी मिलता है, अन्यत्र नहीं । **एस**-यही त्यागी । **अणगारेति**-अनगार । **पवुच्चई**-कहा जाता है।

IV सूत्रार्थ :

प्रव्रज्याको स्वीकार करके वनस्पतिको दुःख नहिं करुंगा. बुद्धिशाली साधु जीवोंको पहचान करके, अभय (संयम) को जानकरके, वनस्पतिके आरंभको जो नहि करे, वह हि उपरत है, और वह हि जिनमतमें परमार्थसे उपरत है, वह हि अणगार = साधु कहा जाता है...

V टीका-अनुवाद :

विषय - सुखकी इच्छावाले जीव वनस्पतिकाय जीवोंको दुःख देतें हैं, और दुःखवाले संसार समुद्रमें परिभ्रमणा करतें हैं... इस प्रकार कडवे संसारमें परिभ्रमणा स्वरूप फलको जानकर, सभी वनस्पतिकाय जीवोंको पीडा देनेवाले आरंभका त्याग करतें हैं, वह इस प्रकार- यह संसार कटु-विपाक याने दुःखदायक है, अतः अब मैं वनस्पतिका छेदन-भेदन स्वरूप दुःखदायक समारंभ मन-वचन-कायसे नहिं करुंगा, अन्यके द्वारा नहिं करवाउंगा और वनस्पतिके आरंभको करनेवाले अन्य की अनुमोदना नहिं करुंगा... इस प्रकार सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्माने बताये प्रव्रज्या-संयम मार्गको स्वीकार करके मैं सभी आरंभ-समारंभका त्याग करके वनस्पतिकायका आरंभ नहिं करुंगा... इस वाक्यसे संयम-क्रिया का निर्देश (कथन) कीया... किंतु केवल (मात्र) संयम-क्रियासे हि मोक्ष नहिं होता है, साथमें ज्ञान भी चाहिये... कहा भी है कि- ज्ञान एवं क्रियासे मोक्ष होता है... क्रिया रहित ज्ञान तथा ज्ञान रहित क्रिया... दोनों अकेले जन्म-मरणके दुःखोंका नाश करनेमें समर्थ नहिं हैं, अतः विशिष्ट मोक्षके कारण ज्ञानका प्रतिपादन करते हुए कहतें हैं कि- हे शिष्य ! प्रव्रज्या स्वीकार करके, जीव आदि पदार्थोंको जानकर मतिमान्-साधु मोक्षको प्राप्त करता है... इससे यह कहा कि- सम्यग् ज्ञानके साथ हि क्रिया मोक्ष-फल दायक बनती है...

जहां भय (डर) नहिं है ऐसे सत्तरह (१७) प्रकारके संयम (अभय) से हि सकल जीवोंका रक्षण होता है, और संसार-समुद्रसे पार पाया जाता है ऐसा जानकर वनस्पतिकायके आरंभसे विरमण करना चाहिये... वनस्पतिके आरंभसे होनेवाले कडवे फलको जाननेवाला साधु हि वनस्पतिके आरंभ को नहिं करता... ज्ञानके विना क्रिया करनेवाला अंधकी तरह अभिलषित मोक्ष स्थानको कभी भी प्राप्त नहिं कर शकता यह यहां सूत्रका सार है... और क्रिया रहित अकेले ज्ञानसे भी पंगु-लंगडेकी तरह मोक्ष नहिं होता... क्योंकि- अग्निसे सलगते हुए घरमें आंखोसे मार्गको देखनेवाला पंगु-लंगडा आदमी बहार निकलना चाहे तो भी पांउके अभावमें बहार निकल नहिं शकता... इस प्रकार ज्ञानसे जानकर एवं संयम-क्रियाको स्वीकार करके हि वनस्पतिके आरंभका त्याग करना चाहिये...

इस प्रकार जो साधु सम्यग् ज्ञानसे जीवोंको तथा उनकी होनेवाली हिंसाको जानकर निवृत्ति करता है, वह हि साधु सभी आरंभोसे निवृत्त होता है यह बात अब कहतें हैं... यहां कहा कि- वनस्पतिके सभी आरंभोंसे निवृत्त साधु, जीव आदि पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जानकर, आरंभ नहिं करता है, तो प्रश्न यह है कि- क्या शाक्य आदि मतमें यह बात संभव है कि मात्र जिन-प्रवचनमें हि ? उत्तर- मात्र जिन प्रवचनमें हि वास्तविक आरंभकी निवृत्ति है, अन्यत्र **शाक्य** आदि मतवालोंमें नहिं... प्रतिज्ञाके अनुसार निर्दोष अनुष्ठान करनेवाले जिनमतके साधु हि आरंभसे निवृत्त होतें हैं, अन्य शाक्य आदि साधु तो विपरीत आचरणवाले हैं, अतः उनको आरंभसे निवृत्ति नहिं होती...

जिनमतके साधु हि संपूर्ण अणगार पदको धारण करतें हैं... इस सूत्रके अर्थके अनुसार रहे हुए और जिनको अगार=घर नहिं हैं वे हि **अणगार** कहे गयें हैं...

अणगार पदके कारणभूत सभी गुणोंके समूहको धारण करनेवालोंमें हि अणगारका लक्षण घटित होता है... अन्य शाक्य आदि मतवालोंमें नहि...

वास्तविक अणगारके गुणोंसे रहित शाक्य आदि मतवाले शब्द आदि पांचों इंद्रियोंके विषय-सुखमें प्रवृत्त होकर वनस्पतिकाय-जीवोंकी हिंसा करतें हैं... क्योंकि- वनस्पतिसे हि बहोत सारे शब्दादि इंद्रियोंके विषय-गुण प्राप्त होतें हैं... और शब्दादि गुणोमें हि प्रवृत्त होनेवाले लोग, राग एवं द्वेष स्वरूप विषम विष (जहर) से व्याकुल होकर मूर्च्छित होतें हैं, और नरक आदि चारों गतिमें जन्म-मरण करते रहतें हैं, और नरक आदि चारों गतिमें घूमनेवाले जीव हि शब्दादि विषयोंको चाहतें हैं...

इसी अर्थकी स्पष्टताके लिये गत-प्रत्यागत (उलटी-सुलटी) प्रकारके सूत्रसे अब, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्राणी अनन्त काल से मोह एवं वासना के घोर अन्धकार में भटकता रहा है । अनेक तरह से विषयेच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करने पर भी उसकी इच्छा की तृप्ति नहीं हो पाती । तृष्णा की भूख नहीं बुझती । यों कहना चाहिए कि उसकी तृष्णा; आकांक्षा एवं वासना की क्षुधा, तृप्त होने के स्थान में प्रतिपल बढ़ती है और वह भोगेच्छा के वश होकर अनेक तरह से वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है । अपने विलास एवं सुख के लिए रात-दिन विभिन्न प्रकार की हरितकाय शाक-सब्जी एवं फल-फूलों के जीवों के आरम्भ-समारम्भ में संलग्न रहता है । इस तरह प्रमाद एवं मोह के वश में हुआ प्राणी वनस्पति काय की हिंसा करके कर्मों का बन्ध करता है । और फल स्वरूप दुःख एवं जन्म-मरण की परम्परा को

बढ़ाता है ।

वनस्पतिकाय का आरम्भ दुःख की परम्परा में अभिवृद्धि करने वाला है । इस बात को बताते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो बुद्धिमान पुरूष वनस्पतिकाय के आरंभ-समारंभ को तथा जीवाजीव आदि तत्त्वों का परिज्ञान करके संयम मार्ग पर गति करता है, वही वनस्पतिकाय के आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होता है और वही व्यक्ति दुःख परम्परा का या यों कहिए कर्म बीज का सर्वथा उन्मूलन कर देता है ।

प्रस्तुत सूत्र ज्ञान और चारित्राचार के समन्वय का आदर्श लिए हुए है । यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि चारित्र का मूल्य ज्ञान के साथ है । सम्यग् ज्ञान के अभाव में की जाने वाली क्रिया एवं तप-जप का आध्यात्मिक विकास या मोक्ष मार्ग की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है । और यही कारण है कि प्रशंसा एवं भौतिक सुख पाने की इच्छा-आकांक्षा से अज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप, तथा बिना आकांक्षा के सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचरित त्याग-तप के सोलहवें अंश के बारबर भी नहीं है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'तं णो करिस्सामि' के साथ 'मत्ता' पद का उल्लेख किया । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार में ज्ञान के कारण से ही तेजस्विता आती है, चमक बढ़ती है । अस्तु ज्ञान और क्रिया याने आचार एवं विचार का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है, अपवर्ग की राह है।

ज्ञानपूर्वक किए जाने वाले त्याग को ही त्याग कहने के पीछे एक मात्र यही उद्देश्य रहा हुआ है कि जब तक व्यक्ति वस्तु के हेय-उपादेय स्वरूप को भली-भांति नहीं जान लेता है, तब तक वह उसका परित्याग या स्वीकार नहीं कर पाता और कभी भावावेश या किसी प्रलोभन में आकर त्याग कर भी देता है, तो उसका सम्यक्तया परिपालन नहीं कर पाता । क्योंकि उसके गुण-दोष एवं स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, भटक जाता है । अस्तु त्याग के पूर्व जीवाजीव का ज्ञान होना ज़रूरी है । यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है ।

इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि वनस्पति जीवों के आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त एवं पूर्ण त्यागी मुनि, जिन-मार्ग में ही उपलब्ध होते हैं, यह बात **"तत्थोवरए-एतस्मिन्नुपरतः"** पद से अभिव्यक्त की है । टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है-**"एतस्मिन्नेव जैनेन्द्र प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र"** इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जैनेतर संप्रदाय के साधु-मुनि त्यागी होते ही नहीं । हम इस बात को मानते हैं कि धन, वैभव एवं गृहस्थी के त्यागी सन्त **साधु** जैनेतर संप्रदायों में भी मिलते हैं । और प्रायः सभी सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों में त्याग प्रधान मुनि जीवन का विधान भी मिलता है । परन्तु आरम्भ-समारम्भ के कार्यों से जितनी निवृत्ति एवं त्याग जिन-मार्ग पर गतिशील मुनियों में पाया जाता है, उतना

अन्यत्र नहीं मिलता । यह हम पहले ही बता चुके है कि पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा में सावधानी एवं विवेक जैनेतर संप्रदाय के साधुओं में नहीं पाया जाता । अतः उत्कट त्याग वृत्ति को जीवन में साकार रूप देने वाले तथा सावद्य कार्यों से सर्वथा निवृत्त साधुओं को विशिष्ट त्यागी एवं वास्तविक अनगार कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है और न किसी सम्प्रदाय के साधु की अवहेलना करने का ही भाव है ।

"एस अणगारेत्ति पवुच्चई" का अर्थ है-जो साधक वनस्पतिकाय की हिंसा से निवृत्त है, किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है, वही सच्चा अनगार कहा गया है ।

अनगार के स्वरूप का वर्णन करके अब, **सूत्रकार महर्षि** संसार एवं संसार-परिभ्रमणा के कारण के संबन्ध में आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ४१ ॥

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ॥ ४१ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः गुणः सः आवर्त्तः, यः आवर्त्तः, सः गुणः ॥ ४१ ॥

III शब्दार्थ :

जे-जो । **गुणे**-शब्दादि गुण । **से**-वह । **आवट्टे**-आवर्त-संसार है । **जे**-जो । **आवट्टे**-संसार है । **से**-वह । **गुणे**-गुण है ।

IV सूत्रार्थ :

जो गुण है वह हि आवर्त्त है, एवं जो आवर्त्त है वह हि गुण है...

V टीका-अनुवाद :

जो शब्दादि गुण है, वह हि **जीव** जहां परिभ्रमणां करतें हैं ऐसा **आवर्त्त** है... याने संसार है... यहां कारणमें कार्यका उपचार कीया गया है... जैसे कि- नड्वलोदक हि पादरोग है... इसी प्रकार यह शब्द रूप गंध रस एवं स्पर्श आदि गुण हि, आवर्त्त याने संसार है... क्योंकि शब्दादि गुण संसार याने आवर्त्तके कारण हैं...

यहां एक-वचनका प्रयोग इसलिये किया है कि- जो पुरुष शब्दादि गुणोमें प्रवृत्त होता है वह हि पुरुष, आवर्त्त याने संसारमें रहता है, और जो पुरुष संसारमें रहता है, वह हि शब्दादि विषय-गुणोमें प्रवृत्त होता है...

यहां कुमतवाले प्रश्न करतें हैं कि- जो कोइ शब्दादि गुणों मे प्रवृत्त होता है, वह प्राणी आवर्त याने संसारमें भटकता है, किन्तु जो जीव संसारमें रहते हैं वे सभी शब्दादि गुणोंमें निश्चय प्रकारसे प्रवृत्त होते हि है, ऐसा नियम नहीं है... जैसे कि- जिनमत के साधु, संसारमें अर्थात् शरीरको धारण किये हुए होते हैं, तो हि वे शब्दादि गुणोमें प्रवृत्त नहीं होते... यह कैसे हो ?

उत्तर- यह बात सही है, साधु संसार-आवर्त्तमें होतें हैं किंतु शब्दादि गुणोंमें प्रवृत्त नहिं होतें... क्योंकि- यहां राग-द्वेषके साथ शब्दादि गुणोंमें प्रवृत्त होनेका अधिकार है... और ऐसी राग-द्वेषके साथ शब्दादि गुणोंमें प्रवृत्ति साधुओंको नहिं होती... क्योंकि- उन्हे राग-द्वेषका अभाव होता है... इसीलिये दुःखवाले संसार रूप आवर्त्तमें परिभ्रमणा भी नहिं होती...

जिनमतके साधुओंको सामान्यसे संसार-विश्वमें रहनेका, एवं सामान्यसे शब्दादि गुणोंकी प्राप्ति भी होती है, अतः प्राप्तिका निषेध हम नहिं करतें किंतु उनमें होनेवाले राग एवं द्वेषका निषेध करतें हैं... कहा भी है कि- आंखकी नजरमें आये हुए रूपको देखना नहि टाल शकतें किंतु उन रूपमें होनेवाले राग-द्वेषको प्राज्ञ पुरुष अवश्य टाले...

वनस्पतिमें शब्दादि बहोत सारे गुण होतें हैं... वे इस प्रकार-

(१) शब्द- वेणु, वीणा, पटह, मुकुंद आदि वाजिंत्रोंकी उत्पत्ति वनस्पतिसे होती है, और उनसे मनोहर शब्द उत्पन्न होतें हैं... यहां वनस्पतिकी प्रधानता है, क्योंकि- वनस्पतिसे बनी हुइ वीणामें भी तंत्री, चमडा और हाथ आदिके संयोगसे हि शब्द निकलता है...

(२) रूप- काष्ठसे बनी हुइ स्त्रीकी प्रतिमा आदिमें... घरके तोरण, वेदिका एवं थंभे आदिमें आंखोको देखनेकी इच्छा हो, ऐसा रूप होता है...

(3) गंध- कपूर, पाटला, लवली, लवंग, केतकी, सरस, चंदन, अगरु, कक्कोलक, इलायची, जायफल, तेजपत्ते, केशर, मांसी (कंकाल वनस्पति) की छाल, पत्ते आदिकी सुगंध नासिकाको मुग्ध करती है...

(४) रस = बिस, मृणाल, मूल, कंद, पुष्प, पत्ते, कंटक, मंजरी, छाल, अंकुर, किसलय, अरविंदकेसर आदि रसनेंद्रिय (जिह्वा) को आनंद देतें हैं = मोह-मुग्ध बनातें हैं...

(५) स्पर्श = पद्मिनीके पत्ते, कमलकी पांखडी, मृणाल, वल्कल, दुकुल, शाटक, ओशिका, रुइ, बिछाने (ढांकने) के कपडे आदि स्पर्शेंद्रियके विषय सुखोंको प्रगट करतें हैं...

इस प्रकार वनस्पतिसे उत्पन्न हुए शब्द आदि गुणोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होता है वह आवर्त्त याने संसारमें भटकता रहता है... और जो आवर्त्तमें होता है वह राग-द्वेषवाला होनेसे

शब्दादि गुणोंमें होता है...

आवर्तके नामादि भेदसे चार प्रकारके निक्षेप होतें हैं... १. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य ४. भाव... नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम है... द्रव्य-आवर्त्त स्वामित्व, करण एवं अधिकरण के विभागसे तीन (३) प्रकारसे है...

१. स्वामित्व- नदी आदिके जलके परिभ्रमणको द्रव्य आवर्त्त कहतें है... (द्रव्यस्य आवर्त्तः) अथवा... हंस, बतख, चक्रवाक आदि आकाशमें क्रीडा करते करते आवर्त्त (कुंडाले) बनातें हैं वह द्रव्य आवर्त्त... (द्रव्याणां आवर्त्तः)

२. करण- चक्राकारसे भमते हुए जल-द्रव्यसे तृण एवं चटाइ आदि जो कभी कभी गोल गोल आवर्त्त करतें हैं वह करण आवर्त्त... (द्रव्येण आवर्त्तः) तथा त्रपु (कलइ), सीसा, लोहा, चांदी, सोना (सुवर्ण) आदि गोल गोल घुमते हैं, तब द्रव्योंसे जो आवर्त्त बनता है वह करण आवर्त्त (द्रव्यैः आवर्त्तः)

३. अधिकरण आवर्त्त- एक जल द्रव्यमें आवर्त्त या तो अनेक चांदी, सोना, पीत्तल, कांसा, कलइ, सीसा, आदि एक जगह कीये हुए बहोत द्रव्योंमें जो आवर्त्त होता है वह अधिकरण आवर्त्तः... (द्रव्ये आवर्त्तः - द्रव्येषु आवर्त्तः)

भाव- आवर्त्त याने परस्पर भावका संक्रमण... अथवा औदयिक भावोंके उदयसे नरक आदि चारों गतिमें जीव परिभ्रमणा करतें हैं...

यहां इस सूत्रमें भाव-आवर्त्तका अधिकार है... शेष आवर्त्त तो आनुषंगिक कहे गये है...

संसारमें परिभ्रमणाके कारण स्वरूप वनस्पतिसे उत्पन्न हुए शब्दादि गुण, क्या कोइ एक नियत दिशामें रहे हुए है या सभी दिशाओंमें रहे हैं ? इस प्रश्नका उत्तर अब सूत्रकार स्वयं आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

यह संसार क्या है ? इसके संबन्ध में दार्शनिकों एवं विचारकों के मन में यह प्रश्न उठता रहा है, तर्क-वितर्क होता रहा है । परन्तु संसार के वास्तविक स्वरूप को जानने में सफलता नहीं मिली । प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने इसका वास्तविक समाधान किया है । सूत्रकार के शब्दों में हम देख चुके हैं कि शब्दादि गुण ही संसार है और संसार ही शब्दादि गुण है । इस तरह संसार और शब्दादि विषय-गुण का पारस्परिक कार्यकारण भाव है ।

जो श्रोत्र, चक्षु, घ्राणा, रसना और स्पर्शन इन पांचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, गन्ध, रस

और स्पर्श ये पांच विषय हैं, उन्हें गुण कहते हैं । और आवर्त्त संसार का परिबोधक है– आवर्त्तन्ते–परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्तः–संसार अर्थात् जिसमें प्राणियों का आवर्त्त–परिभ्रमण होता रहे उसे आवर्त्त-संसार कहते हैं ।

शब्दादि विषय संसार परिभ्रमण के कारण है । क्योंकि– इन से कर्म का बन्ध होता है और कर्म बन्ध के कारण आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है । इस तरह यह विषय याने गुण संसारका कारण । और शब्दादि गुणों से जीव कर्म बान्धते हैं, कर्म से आत्मा में विषयादि गुणों की परिणति होती है । इस दृष्टि से विषयादि गुण को संसार कहा गया है । और दोनों जगह कारण में कार्य का आरोप होने से विषयादि गुणों को संसार एवं संसार को विषयादि गुण कहा गया है ।

वस्तुतः देखा जाए तो राग-द्वेष युक्त भावों से गुणों में या विषयों में प्रवृत्ति करने का नाम ही संसार है । क्योंकि संसार में परिलक्षित होने वाली विभिन्न गतियें एवं योनियें राग-द्वेष एवं गुणों-विषयों की आसक्ति पर ही आधारित है । राग-द्वेष से कर्म बन्धते है, कर्म बन्ध से जन्म-मरण का प्रवाह चालू रहता है और जन्म मरण ही वास्तविक दुःख है । इससे स्पष्ट हो गया कि संसार का मूल राग-द्वेष है, गुण है, विषय-विकार है ।

'गुण' शब्द में एक वचन का प्रयोग किया है । इस से गुण शब्द व्यक्ति से भी संबन्धित है । जब इसका संबन्ध व्यक्ति के साथ जोड़ते हैं, तो प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होगा– जो व्यक्ति शब्दादि गुणों में प्रवृत्त है, वह संसार में परिभ्रमणशील है और जो व्यक्ति संसार में गतिमान है वह गुणों में प्रवृत्तमान है ।

यहां यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जो व्यक्ति गुणों में प्रवृत्त है, वह संसार में वर्त्तता है, यह कथन तो ठीक है; परन्तु जो संसार में वर्तता है, वह गुणों में वर्तता है । यह कथन युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि संयमशील साधु संसार में रहते हैं परन्तु गुणों में प्रवृत्ति नहीं करते । अतः संसारमें रहे हुए लोगोंको नियम से गुणों में प्रवृत्तमान मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

यह ठीक है कि यहां गुणों का अर्थ राग-द्वेष युक्त गुणों में प्रवृत्ति करने से लिया गया है । क्योंकि गुणों में प्रवृत्ति होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता, कर्म का बन्ध राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से होता है । यह सत्य है कि, संयम से बन्ध नहीं, किन्तु कर्मों की निर्जरा होती है । परन्तु छट्ठे गुणस्थान मे संयम के साथ जो सरागता है, उससे भी कर्म का बन्ध होता है । यह नितांत सत्य है कि सावद्य कार्य में प्रवृत्ति न होने के कारण पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु धर्म, गुरु एवं सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्त पर सराग भाव होने से पुण्य का बन्ध होता है और इसी कारण छट्ठे गुणस्थान में देवलोक का आयु कर्म बन्धता है । देव

आयुष्य के बन्ध में बताए गए चार कारणों में सराग संयम को भी एक कारण बताया गया है और देवलोक भी संसार ही है । यह ठीक हैं कि, छट्ठे गुणस्थान में प्रवृत्तमान साधु संसार को अधिक लम्बा नहीं बढ़ाता, परन्तु जब तक सरागता है तब तक शुभ कर्मका अनुबन्ध तो करता ही है इस अपेक्षा से वह संसार में भी वर्तता हुआ गुणों में भी प्रवृत्ति करता है ।

यह सत्य है कि, **वीतराग संयम** में प्रवृत्तमान साधु या सर्वज्ञ संसार में प्रवर्तते हुए भी कर्म को नहीं बांधते और न स्वर्ग का द्वार ही खटखटाते हैं । क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष का समूलतः उन्मूलन कर दिया है । राग-द्वेष कर्म वृक्ष का बीज है, मूल है और जब बीज एवं मूल ही नष्ट हो गया तब फिर कर्म की शाखा-प्रशाखा का पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होना तो असंभव ही है । इस दृष्टि से उनको कर्मों का बन्ध नहीं होता । उनमें राग-द्वेष का अभाव होने के कारण उस रूप में गुणों में प्रवृत्ति नहीं होती । परन्तु जब तक योग का व्यापार चालू है तब तक सामान्य रूप से तो गुणों में प्रवृत्ति होती हि है । बस; अन्तर इतना ही है कि राग-द्वेष युक्त जीवों को कर्म का बन्ध होता है और वीतराग पुरुषों को कर्म का बन्ध नहीं होता। या यों कहिए कि- उन की प्रवृत्ति ऐसे गुणों में नहीं होती, जो कर्म बन्ध के कारण है । अतः इस अपेक्षा से जो संसार में प्रवर्तते हैं वे गुणों में प्रवृत्तमान हैं, ऐसा कहना अनुचित एवं आपत्ति जनक प्रतीत नहीं होता ।

प्रस्तुत उद्देशक वनस्पतिकाय से सम्बन्धित है । अतः इसमें वनस्पतिकायिक जीवों सम्बन्धी वर्णन होना चाहिए । फिर इसमें शब्दादि विषयों का अप्रासंगिक वर्णन क्यों किया गया ?

प्रस्तुत उद्देशक में शब्दादि गुणों का वर्णन, एक अपेक्षासे अप्रासंगिक प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक में अप्रासंगिक नहीं है । क्योंकि- शब्दादि गुणों की उत्पत्ति का मूलस्थान प्रायः वनस्पतिकाय है । अर्थात् समस्त विषयों की पूर्ति वनस्पति से ही होती है । व्यवहार इस सत्य को स्पष्टतया प्रमाणित कर रहा है । जैसे कि- अपनी मधुर ध्वनि से श्रोत्र इन्द्रिय को तृप्त करने वाली वीणा आदि विभिन्न वाद्यों का निर्माण वनस्पतिकायसे ही होता है और वनस्पतिकाय के हि आधार स्तंभों पर चित्रित मनोहर चित्र एवं फर्नीचर से सुसज्जित कमरों को देखते हुए आंखें थकती नहीं । घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करने वाले केसर, चन्दन तथा विभिन्न रंग-बिरंगे सुवासित फूल वनस्पति के ही अनेक रूप हैं । जिह्वा के स्वाद की तृप्ति करने वाले विविध व्यञ्जन एवं पक्वान्न, वनस्पति से ही बनते हैं । और स्पर्श इन्द्रिय को सुख पहुंचाने वाले तथा शीत-ताप से बचाने वाले एवं सुशोभित करने वाले विभिन्न रंग एवं आकार के सूत से बने वस्त्र, वनस्पति की ही देन है। इस प्रकार जब हम गहराई से सोचते-विचारते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि शब्दादि विषयों का वनस्पति के साथ सीधा संबन्ध है,

। अतः वनस्पति के प्रकरण में उसका वर्णन ऊचित एवं प्रासंगिक ही है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि संसार परिभ्रमण के कारण भूत यह शब्दादि विषय किसी एक नियत दिशा में उत्पन्न होते हैं या सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं ? उक्त प्रश्न का समाधान सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रमें करेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ४२ ॥

उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासइ, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु यावि ॥ ४२ ॥

II संस्कृत-छाया :

ऊर्ध्वं अधः तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति, ऊर्ध्वं अधः प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चाऽपि ॥ ४२ ॥

III शब्दार्थ :

उड्ढं-ऊर्ध्व-ऊंची दिशा । **अहं**-नीची दिशा । **तिरियं**-तिर्यक् दिशा चारों दिशा-विदिशाएं इनमें तथा । **पाईणं**-पूर्वादि दिशाओं में । **पासमाणे**-देखता हुआ । **रूवाइं**-रूपों को । **पासति**-देखता है, और । **सुणमाणे**-सुनता हुआ । **सद्दाइं**-शब्दों को । **सुणेति**-सुनता है, तथा । **उड्ढं**-ऊंची दिशा । **अहं**-नीची दिशा में । **पाईणं**-पूर्वादि दिशाओं में । **मुच्छमाणे**-मूर्छित होता हुआ। **रूवेसु**-रूपों में । **मुच्छति**-मूर्छित होता है । **च**-और । **सद्देसु**-शब्दों में मूर्छित होता हैं । **आवि**-संभावना या समुच्चयार्थ में है, इससे गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयों को ग्रहण किया जाता है ।

IV सूत्रार्थ :

उपर, नीचे, तिरछा पूर्व आदि दिशाओंमें रूपको देखता है, शब्दोंको सुनरहा हुआ वह, शब्दोंको सुनता है, उपर, नीचे पूर्व आदि दिशाओंमें मूर्च्छा को पाता हुआ रूपमें मूर्च्छा पाता है, और शब्दोंमें भी मूर्च्छा पाता है ॥ ४२ ॥

V टीका-अनुवाद :

प्रज्ञापक-दिशाकी अपेक्षासे दिशाओंमें रहे हुए रूप-गुणको **देखता है**...

१. उपर - महल एवं हवेली - भवनके उपर रहे हुए रूपको देखता है...

२. नीचे- पर्वतके शिखर एवं महलके उपरकी मंझील पर रहा हुआ मनुष्य भूमि तल उपर रहे हुए रूपको देखता है...

३. तिर्यक्- तिरछा याने घर- दिवाल आदिमें रहे हुए रूपको देखता है...

तिर्यक् शब्दसे यहां चार दिशा एवं चार विदिशाएं समझीयेगा... इन सभी दिशाओंमें आंखोसे दिख शके ऐसी रूपवाली वस्तुओंको मनुष्य आंखोसे देखता है... इसी प्रकार इन सभी दिशाओंमें रहे हुए शब्दोंको श्रोत्र = कर्ण (कान) से सुनता है... अन्यथा नहिं, अर्थात् आंखोंके विना देख नहिं शकता तथा कान के विना सुन नहिं शकता है...

यहां उपलब्धि = प्राप्तिकी केवल बात है, और शब्द आदिकी प्राप्ति मात्रसे हि संसारमें परिभ्रमणा नहिं होती, किंतु यदि जीव शब्द आदिमें (राग या द्वेष करके) मूर्च्छित हो तब संसारमें परिभ्रमणा होती है... यहां 'अपि' शब्द संभावना अर्थमें है अथवा समुच्चय अर्थमें है... यहां रूप और शब्दका ग्रहण कीया है, इससे शेष गंध रस एवं स्पर्शका भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि न्याय है कि- एक को ग्रहण करनेसे उनके जातिवालोंका भी ग्रहण हो जाता है... अथवा तो आदि और अंतके ग्रहणसे भी उनके बीच (मध्य) का भी ग्रहण हो जाता है, ऐसा स्वयं हि समझ लीजीयेगा...

इस प्रकार विषय-लोकको कहकर अब प्रस्तुत बात सूत्रकार महर्षि कहेंगे...

VI सूत्रसार :

शब्द आदि विषय किसी एक दिशा में उत्पन्न नहीं होतें, ऊर्ध्व, अधो और पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशा-विदिशा में उत्पन्न होते हैं और जीव, ऊपर-नीचे, दाएं, बाएं चारों ओर रूप-सौन्दर्य का अवलोकन करता है, शब्दों को सुनता है, गन्ध को सूंघता है, रसों का आस्वादन करता है तथा विभिन्न पदार्थों का स्पर्श करता है । और इन्हें देख-सुन कर या सूंघ-चख कर या स्पर्श कर अनेक जीव उन विषयों में आसक्त हो जाते हैं, मूर्छित होने लगते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में दो बातें बताई गई हैं । एक तो विषयों का अवलोकन करना । उन्हें ग्रहण करना और दूसरा, उन अवलोकित विषयों में आसक्त होना, राग-द्वेष करना । इन दोनों क्रियाओं में बड़ा अंतर है । जहां तक अवलोकन का या ग्रहण करने का प्रश्न है, वहां तक यह विषय आत्मा के लिए दुःख रूप नहीं बनते, कर्म बन्ध का कारण नहीं बनते । यदि मांत्र देखने एवं ग्रहण करने से ही कर्म बन्ध माना जाएगा तब तो फिर कोई भी जीव कर्म बन्ध से अछूता नहीं रह सकता । संसार में स्थित सर्वज्ञों की बात छोड़िए, सिद्ध भगवान भी विषयों का अवलोकन करते हैं, क्योंकि- उनका **निरावरण ज्ञान** लोकालोक के सभी पदार्थों को देखता-जानता है और सिद्ध भी विषयों को ग्रहण करते (जानते) हैं अतः यदि विषयों को ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध होता हो, तो फिर वहां भी कर्म बन्ध मानना पड़ेगा । और वहां कर्म का बन्ध होता नहीं । सिद्ध अवस्था में तो क्या तेरहवें गुणस्थान में भी कर्म बन्ध नहीं

होता । इससे स्पष्ट है कि विषयों को देखने एवं ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता। और न दखने मात्र से संसार परिभ्रमण का प्रवाह ही बढ़ता है ।

कर्म बन्ध का कारण उन विषयों को ग्रहण करना मात्र नहीं, अपितु उनमें आसक्त होना है अर्थात् उनमें राग-द्वेष करना है । हम पहले देख चुके हैं कि कर्म बन्ध का मूल राग-द्वेष एवं आसक्ति है । इसी वैभाविक परिणति के कारण आत्मा कर्मों के साथ आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करती है और विभिन्न विषयों में आसक्त होकर शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन करके स्वर्ग-नरक आदि गतियों में चक्कर काटती है । इसी बात को सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में "मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति" वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त किया है । इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्म बन्ध का कारण विषयों का अवलोकन एवं ग्रहण मात्र नहीं, परन्तु उसमें रही हुई आसक्ति ही हैं ।

इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ४३ ॥

एस लोए वियाहिए, एत्थ अगुत्ते अणाणाए ॥ ४३ ॥

II संस्कृत-छाया :

एषः लोकः व्याख्यातः, एतस्मिन् अगुप्तः अनाज्ञायाम् ॥ ४३ ॥

III शब्दार्थ :

एस-यह पांच विषय रूप । **लोए**-लोक । **वियाहिए**-कहा गया है । **एत्थ**-इसमें जो । **अगुत्ते**-अगुप्त है अथवा शब्दादि विषयों में आसक्त हो रहा है वह । **अणाणाए**-आज्ञा में नहीं है ।

IV सूत्रार्थ :

यह शब्दादि विषयलोक कहा, इन शब्दादिमें जो अगुप्त है, वह आज्ञामें नहि है ॥४३॥

V टीका-अनुवाद :

जो देखा जाता है या जाना जाता है वह लोक, यह शब्दादि रूप-गंध-रस-स्पर्श एवं शब्द-विषय स्वरूप लोकका स्वरूप कहा... इन शब्दादि विषयोंमें जो साधु मन-वचन-कायासे गुप्त नहिं है, अर्थात् मनसे राग या द्वेष करता है, वचनसे शब्दादिकी प्रार्थना करता है, और कायासे शब्दादि विषय जहां है उस स्थानमें जाता है... इस प्रकार जो गुप्त नहिं है वह जिनेश्वरके वचनानुसार आज्ञामें नहिं है...

इस प्रकार शब्दादि गुणसे जो दोष होते हैं, वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में शब्दादि पांच विषयों को लोक कहा है । जो व्यक्ति मन, वचन और शरीर से विषयों में आसक्त है, उसे अगुप्त कहा है । मन से विषयों का चिन्तन करना, वाणी से उन्हें प्राप्त करने की प्रार्थना करना और शरीर से उन्हें पाने का प्रयत्न करना, यह त्रियोग की अगुप्तता है । जिस व्यक्ति के तीनों योग विषयों में ही लगे रहते हैं, वे **लोग** जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में नहीं है ।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि- वीतराग भगवान की आज्ञा, विषयों में आसक्त होने की नहीं है, किन्तु त्रियोगको विषयों से गुप्त-गोपन करके रखने की है । कारण यह है कि- विषयों में आसक्त व्यक्ति रात दिन संसार में ही उलझा रहता है और इस कारण वह संयमकी सम्यक् साधना-आराधना नहीं कर सकता । और जिनेश्वर भगवानकी आज्ञा संयम-साधनाकी है, न कि संसार बढ़ानेकी । इस अपेक्षा से शब्दों में आसक्त व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा में नहीं है ।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ४४ ॥

पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे ॥ ४४ ॥

II संस्कृत-छाया :

पुनः पुनः गुणास्वादः, वक्रसमाचारः ॥ ४४ ॥

III शब्दार्थ :

पुणो-पुणो-बार-बार । **गुणासाए**-शब्दादि गुणों का आस्वादन करने से वह मनुष्य । **वंक समायारे**-असंयम का सेवन करने वाला हो जाता हैं ।

IV सूत्रार्थ :

बार बार शब्दादि गुणोंका आस्वाद होता है, इससे वक्र (असंयम) का आचरण होता है ॥ ४४ ॥

V टीका-अनुवाद :

बार बार शब्दादि विषयगुणमें लुब्ध ऐसा यह जीव अपने आत्माको शब्दादि विषय

सुखसे रोक नहिं सकता... और शब्दादि विषयोंसे अनिवृत्त ऐसा वह मनुष्य बार बार मन-वचन-कायाकी क्रियासे विषय-गुण सुखका स्वाद लेता है... ऐसा होनेसे नरकादि गतिमें जानेवाला वह मनुष्य वक्र याने कुटिल (असंयमी) बन कर असंयमका आचरण करता है... कहा भी है कि- शब्द आदि विषयोंके अभिलाषी जीव वनस्पति आदि जीवोंको पीडा = दुःख देनेवाला होता है...

शब्दादि विषय सुखके अंशके स्वादसे आसक्त ऐसा यह संसारी जीव अपथ्य आम्रफलको खानेवाले राजाकी तरह अपने आपको विषयोंसे रोक नहि शकनेसे तत्काल विनाशको प्राप्त करता है...

इस प्रकार शब्दादि विषय सुखके आस्वादनसे अतिशय पराजित यह **जीव** खंत-पुत्रकी तरह जो करता है वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI **सूत्रसार** :

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि- जो शब्दादि विषयों में आसक्त रहता है, वह संयम से दूर ही रहता है । क्योंकि- उसके त्रियोग की प्रवृत्ति, विषयों में होने से वह रात-दिन रूप-रस आदि का आस्वादन करने में ही संलग्न रहता है । उसका मन सदा विषयों के चिन्तन-मनन में लगा रहता है और वचन की प्रवृत्ति भी विषय सुख की और लगी रहती है और शरीर से भी विषयों का आनन्द लेने में अनुरक्त होने के कारण उस का आचार सम्यक् नहीं रहता। इसी कारण सूत्रकार ने विषयों में आसक्त व्यक्ति को "वंक-समायरे" वक्र अर्थात् कुटिल आचार युक्त कहा है । 'वंक-समायारे' शब्द की व्याख्या करते हुए **टीकाकार** ने कहा है कि–

"वक्रः = असंयमः कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्, समाचरणं समाचारः- अनुष्ठानं, वक्रः समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचारः असंयमानुष्ठायीत्यर्थः"

अर्थात्–नरकादि गतिके हेतुभूत असंयम का ही दूसरा नाम वक्रसमाचार है ।

इससे स्पष्ट हुआ कि शब्दादि विषयों में आसक्त **व्यक्ति** असंयम में प्रवृत्त होता है । असंयम में प्रवृत्त होने से उसका परिणाम क्या होता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I **सूत्र** ॥ ६ ॥ ॥ ४५ ॥

पमत्तेऽगारमावसे ॥ ४५ ॥

II संस्कृत-छाया :

प्रमत्तः अगारं आवसति ॥ ४५ ॥

III शब्दार्थ :

पमत्ते–प्रमादी-विषयों में आसक्त व्यक्ति । **अगारमावसे**-घर में जा वसता है ।

IV सूत्रार्थ :

प्रमादी घरमें निवास करता है ॥ ४५ ॥

V टीका-अनुवाद :

विषय-विषसे मूर्च्छित प्रमादी वह मनुष्य घरमें निवास करता है... शब्द आदि विषयसुखमें प्रमादी ऐसा वह द्रव्यलिंगधारी साधु विरति स्वरूप भावलिंगके अभावमें गृहस्थ हि है...

अन्य मतवाले हंमेशा अन्यथावादी हैं, और अन्यथाकारी भी हैं, यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में विषयों में आसक्त रहने वाले साधु की क्या स्थिति होती है, इस बात का स्पष्ट निरूपण किया गया है । जो **साधक** त्रियोग का गोपन नहीं करते हुए, विषयोंमें प्रवृत्त रहता है, वह संयम से पराङ्मुख होकर घर-गृहस्थ में फिर से जा फंसता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्य वेशका परित्याग न करने पर भी उसे भाव साधुत्व के अभाव में गृहस्थ ही कहा है । क्योंकि- उसकी **भावना** संयम से, साधुता से विमुख हो चुकी है, इस लिए सूत्रकार ने उसके लिए 'अगारमावसति' शब्द का प्रयोग किया है ।

जब हम आध्यात्मिक दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र पर विचार करते हैं, तो गृहवास का अर्थ होता है-क्रोध, मान, माया, लोभ एवं राग-द्वेष रूप दोषों में निवास करना और प्रमत्त व्यक्ति या शब्दादि विषयों में आसक्त व्यक्तिकी प्रवृत्ति सदा राग-द्वेष एवं कषायों में होती है । अतः वह द्रव्य से घर नहीं रखते हुए भी सदा घर में ही निवास करता है । उसका कषाय युक्त घर सदा उसके साथ रहता है ।

इस लिए साधकको विषयों में आसक्त नहीं रहना चाहिए । विषयों में आसक्त नहीं रहने का स्पष्ट अर्थ है, कि वनस्पतिकायिक जीवोंके आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। जो विषयों में आसक्त रहता है, वह वनस्पति के आरंभ में भी संलग्न रहता है और

इस कारण उसे साधु न कह कर गृहस्थ कहा है । इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ४६ ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति, एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारभमाणा अण्णे अणेग-रूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खपडिघाय-हेउं, से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा वणस्सइ-सत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए, इहमेगेसिं नायं भवति- एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ-कम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ४६ ॥

II संस्कृत-छाया :

लज्जमानाः पृथक् पश्य, अनगाराः वयं इति एके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्म-समारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितव्यस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थं, जातिमरणमोचनार्थं, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारभते, अन्यैः वा वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते, तं तस्य अहिताय, तं तस्य अबोधिलाभाय (अबोधये) सः तं सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके, इह एकेषां ज्ञातं भवति - एषः खलु ग्रन्थः एषः खलु मोहः, एषः खलु मारः, एषः खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धः लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पति-कर्मसमारम्भेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ॥ ४६ ॥

III शब्दार्थ :

लज्जमाणा–लज्जा करते हुए । **पुढो**–विभिन्न वादियों को । **पास**–तू देख, **एगे**–कुछ एक व्यक्ति । **अणगारामोत्ति**–हम अनगार है, इस प्रकार । **पवदमाणा**–बोलते हुए । **जमिणं**–जो ये । **विरूवरूवेहिं**–अनेक तरह के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **वणस्सइ कम्मसमारम्भेण**–वनस्पति कर्म समारंभ से । **वणस्सइ सत्थं**–वनस्पति शस्त्र का । **समारंभमाणा**–समारम्भ करते हुए । **अण्णे**–अन्य । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के । **पाणे**–प्राणियों की । **विहिंसंति**–हिंसा करते हैं । **तत्थ**–वहां वनस्पति के विषय में । **भगवया**–भगवान ने । **परिण्णा पवेदिता**–

परिज्ञाविशिष्ट ज्ञान से प्रतिपादन किया है । **चेव**-समुच्चय और अवधारण अर्थ में है । **इमस्स-जीवियस्स**-इस जीवन के लिए । **परिवन्दण**-माणण-पूयणाए-प्रशंसा, मान एवं पूजा की अभिलाषा से । **जाई-मरण-मोयणाए**-जन्म-मरण से मुक्त होने की आकांक्षा से। **दुक्खपडिघायहेउं**-दुःख से छुटकारा पाने हेतु । **से**-वह । **सयमेव**-स्वयमेव । **वणस्सइसत्थं**-वनस्पति के शस्त्र से । **समारंभइ**-वनस्पतिकाय का समारंभ करता है । **वा**-अथवा । **अण्णेहिं**-अन्य से । **वणस्सइसत्थं**-वनस्पति शस्त्र से । **समारम्भावेइ**-समारंभ कराते हैं । **वा**-अथवा। **वणस्सइ सत्थं**-वनस्पति शस्त्र से । **समारंभमाणे**-आरम्भकरनेवाले । **अण्णे**-अन्य व्यक्ति को। **समणुजाणइ**-अच्छा जानते हैं । **तं**-यह वनस्पतिकाय का आरंभ । **से**-उसको । **अहियाए**-अहितकर है । **तं**-यह । **से**-उसको । **अबोहीए**-अबोध का कारण है । से-वह । **तं**-उस आरम्भ के स्वरूप को । **संबुज्झमाणे**-भली-भांति समझकर । **आयाणीयं-सम्यग्दर्शन**-ज्ञान और चारित्र का । **समुट्ठाय**-स्वीकार करके । **भगवओ**-भगवान । **वा**-अथवा। **अणगाराणं**-अनगारों के । **अन्तिए**-समीप में । **सोच्चा**-सुनकर । **इहं**-इस लोक में। **एगेसिं-किसी**-किसी व्यक्ति को । **णायं भवति**-ज्ञात हो जाता है कि । **एस**-यह आरंभ । **खलु**-निश्चय रूप से। **गंथे**-अष्ट कर्मों की गांठ है । **एस खलु**-यह निश्चय ही । **मोहे**-मोह रूप है । **एस खलु**-यह निश्चय ही । **मारे**-मृत्यु का कारण है । **एस खलु**-यह निश्चय ही। **णरए**-नरक का कारण है । **इच्चत्थं**-इस प्रकार अर्थ-विषय-वासना में । **गड्ढिए**-आसक्त बना हुआ । **लोए**-लोक-प्राणी समूह । **जमिणं**-जिससे कि यह । **विरूवरूवेहिं**-विभिन्न प्रकार के । **सत्थेहिं**-शस्त्रों से वणस्सइ कम्म समारंभेणं-वनस्पति कर्म समारंभ से । **वणस्सइ सत्थं**-वनस्पति शस्त्र से । **समारंभमाणे**-आरम्भ करता हुआ । **अण्णे**-अन्य । **अणेगरूवे**-अनेक प्रकार के । **पाणे**-प्राणियों की । **विहिंसंति**-हिंसा करता हैं ।

IV सूत्रार्थ :

इस सूत्रका हिंदी अनुवाद, पूर्व कहे गये सूत्र क्रमांक - २४ अनुसार समझीयेगा... केवल अप्कायकी जगह वनस्पतिकाय कहीयेगा... वह इस प्रकार...

हे जम्बू ! तू, सावद्य-अनुष्ठान से लज्जमान विभिन्न मत वाले व्यक्तियों को देख । जो अपने आपको अनगार कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रों से तथा वनस्पति कर्म समारंभ से वनस्पतिकायिक, जीवों की तथा उसके साथ वनस्पति के आश्रय में रहे हुए अन्य द्वीन्द्रियादि प्राणियों की हिंसा करते हैं । भगवान ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि-वे विनश्वर जीवन के लिए, प्रशंसा-मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से - एवं जन्म-मरण से मुक्त होने की आकांक्षा से तथा मानसिक एवं शारीरिक दुःखों से छुटकारा पाने हेतु स्वयं वनस्पतिकाय का आरंभ करते हैं, दूसरों के द्वारा कराते हैं तथा आरंभ करते हुए अन्य व्यक्ति का समर्थन करते हैं । उनके लिए यह आरंभ अहित और अबोधि का कारण

होता है, इस प्रकार स्वयं भगवान या अनगारों के पास से वनस्पतिकायिक आरंभ के अनष्टि फल को सुन कर, सम्यक् श्रद्धा से बोध को प्राप्त हुआ **व्यक्ति** यह जान लेता है कि- यह वनस्पतिकाय का आरंभ, अष्ट कर्मों की गांठ रूप है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है ।

फिर भी विषय-वासना में आसक्त **व्यक्ति** विभिन्न शस्त्रों के द्वारा और वनस्पति कर्म से वनस्पतिकायिक जीवों का तथा उसके आश्रय में स्थित अन्य त्रस एवं स्थावर अनेक जीवों की हिंसा करता है ।

V टीका-अनुवाद :

इस सूत्रकी टीकाका भावानुवाद पूर्वकी तरह समझीयेगा... केवल पृथ्वीकायकी जगह वनस्पतिकाय का आलापक बनाना है... अब वनस्पति-जीवोंके होनेके चिह्न का निर्देश करने के लिए **सूत्रकार महर्षि** आगेका सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

इस विषय का वर्णन पृथ्वीकाय एवं अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं । उसी के अनुसार यहां भी समझना चाहिए, अन्तर इतना है कि पृथ्वी एवं अप्काय की जगह वनस्पति समझना चाहिए ।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि- वनस्पति **सजीव** है । फिर भी कुछ लोगों को समझ में नहीं आता । इस लिए **सूत्रकार** कुछ हेतु देकर वनस्पति की सजीवता प्रमाणित करते हुए आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ४७ ॥

से बेमि, इमं पि जाइधम्मयं एयं पि जाइधम्मयं, इमं पि वुड्ढिधम्मयं, एयं पि वुड्ढिधम्मयं इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं इमं पि छिण्णं मिलाइ, एयं पि छिन्नं मिलाइ, इमं पि आहारगं एयं पि आहारगं, इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं, इमं पि असासयं एयं पि असासयं, इमं पि चओवचइयं एयं पि चओवचइयं, इमं पि विपरिणामधम्मयं एयं पि विपरिणामधम्मयं ॥ ४७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि, इदमपि जातिधर्मकं, एतदपि जातिधर्मकम् । इदमपि वृद्धिधर्मकं, एतदपि वृद्धिधर्मकम् । इदमपि चित्तवत् एतदपि चित्तवत् । इदमपि छिन्नं म्लायति एतदपि छिन्नं म्लायति । इदमपि आहारकं एतदपि आहारकम् । इदमपि अनित्यकं एतदपि अनित्यकम् । इदमपि अशाश्वतं एतदपि अशाश्वतम् । इदमपि चयोपचयिकं एतदपि चयोपचयिकम् । इदमपि

विपरिणामधर्मकं एतदपि विपरिणामधर्मकम् ॥ ४७ ॥

III शब्दार्थ :

से-तत्त्व का परिज्ञाता । **बेमि**-मैं कहता हूं । **इमंपि जाइधम्मयं**-यह मनुष्य शरीर जैसे जाति-जन्म धर्म वाला है, ठीक उसी तरह । **एयंपि जाइधम्मयं**-यह वनस्पतिकायिक शरीर भी जन्म धर्म वाला है । **इमंपि वुड्ढिधम्मयं**-जैसे मनुष्य शरीर वृद्धि धर्म वाला है, वैसे ही । **एयंपि वुड्ढिधम्मयं**-वनस्पति का शरीर भी वृद्धि धर्म वाला है । **इमंपि चित्तमंतयं**-जैसे मनुष्य शरीर चेतना युक्त है, वैसे ही । **एयंपि चित्तमंतयं**-वनस्पति का शरीर भी चेतना संयुक्त है । **इमंपि छिण्णं मिलाइ**-जैसे मनुष्य का छेदन किया हुआ-काटा हुआ शरीर मुर्झा जाता है, वैसे ही । **एयंपि छिण्णं मिलाइ**-वनस्पति का छेदन किया हुआ शरीर मुर्झा जाता है । **इमंपि आहारगं**-जैसे मनुष्य आहार करता है, वैसे ही । **एयंपि आहारगं**-वनस्पति भी आहार करती हैं । **इमंपि अणिच्चयं**-जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अनित्य है, उसी तरह । **एयंपि अणिच्चयं**-वनस्पति का शरीर भी अनित्य है । **इमंपि असासयं**-जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अशाश्वत हैं; उसी तरह । **एयंपि असासयं**-वनस्पति का शरीर भी अशाश्वत है । **इमंपि चओवचइयं**-जिस प्रकार मनुष्य का शरीर चय और उपचय वाला हैं, उसी तरह । **एयंपि चओवचइयं**-वनस्पति का शरीर भी चय-उपचय युक्त हैं । **इमंपि विपरिणाम धम्मयं**-जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणाम धर्म वाला-अनेक तरह के परिवर्तनों से युक्त हैं, वैसे ही । **एयंपि विपरिणामधम्मयं**-वनस्पति का शरीर भी परिणमनशील हैं अर्थात् विभिन्न प्रकार से बदलने वाला हैं ।

IV सूत्रार्थ :

वह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं कि- यह (मनुष्य शरीर) भी जन्म धर्मवाला है, वह (वनस्पतिकाय) भी जन्म धर्मवाला है । यह भी वृद्धि धर्मवाला है, वह भी वृद्धि धर्मवाला है। यह भी सचित्त है, वह भी सचित्त है... यह भी छेदनसे करमाता है, वह भी छेदनसे करमाता है... यह भी आहार लेता है, वह भी आहार लेता है । यह भी अनित्य है, वह भी अनित्य है.. यह भी अशाश्वत है, वह भी अशाश्वत है । यह भी वृद्धि एवं हानिवाला है वह भी वृद्धि एवं हानिवाला है । यह भी विरूप परिणाम धर्मवाला है, वह भी विरूप परिणामके धर्मवाला है॥ ४७ ॥

V टीका-अनुवाद :

प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना ज़ा शके ऐसे वनस्पतिकाय जीवोंको पहचान करके उपलब्ध तत्त्व ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं कि- जिस प्रकार यह शरीर उत्पत्ति धर्मवाला है, वैसे हि वह वनस्पतिकाय-शरीर भी उत्पत्ति धर्मवाला है... और जिस प्रकार यह मनुष्यका शरीर बाल, कुमार, यौवन एवं वृद्धत्व ने परिणामवाला होनेसे स्पष्ट रूपसे सचेतन

दिखांइ देता है वैसे हि वनस्पति-शरीर भी... वह इस प्रकार- केतकीका वृक्ष बाल, युवा एवं वृद्ध होता है... अतः दोनोंमें समानता होनेसे वनस्पति-शरीर भी उत्पत्ति धर्मवाला है...

प्रश्न- उत्पत्ति धर्मवाला होने पर भी मनुष्य आदिका शरीर सचेतन है, वैसा वनस्पति-शरीर नहिं है... क्योंकि- उत्पत्ति धर्म तो केश (बाल), नख, दांत आदिमें भी है... लक्षण सदैव निर्दोष होना चाहिये... इसलिये उत्पत्ति धर्म हि जीवका चिह्न कहना युक्तियुक्त नहिं है...

उत्तर- आपकी बात सही है... केवल उत्पत्ति कहें तब... किंतु मनुष्य शरीरमें प्रसिद्ध ऐसे बाल, कुमार आदि अवस्था की उत्पत्तिके समान उत्पत्ति, केश आदिमें स्पष्ट नहिं है... इसीलिये आपकी बात अयोग्य है... और केश, नख भी सचेतन शरीरमें हि उत्पन्न होतें हैं अथवा बढतें है... और आप तो वनस्पति-वृक्षको सचेतन मानते नहि हो, अतः आपके मतके अनुसार पृथ्वी आदि अचेतन है, इसलिये आपकी बात युक्तियुक्त नहिं है... अथवा सूत्रमें कहे गये जाति (उत्पत्ति) धर्म आदिका एक हि हेतु है, अलग अलग हेतु नहिं है, और केश आदिमें समुदाय-हेतु नहिं है अतः दोष नहिं है...

तथा जिस प्रकार यह मनुष्यका शरीर निरंतर (सदैव) बाल, कुमार आदि अवस्थाओंसे वृद्धि पाता (बढता) है, वैसे हि वह वनस्पति-शरीर भी अंकुर, किशलय (कुंपल) शाखा (डाली) प्रशाखा (छोटी डाली) आदि प्रकारसे बढता है... और जिस प्रकार यह मनुष्यका शरीर सचेतन है, वैसे हि वह वनस्पति शरीर भी सेचतन है... कैसे ? तो- सुनो ! जिसमें चेतना हो वह **चित्त** याने ज्ञान... जिस प्रकार मनुष्यका शरीर ज्ञानसे युक्त है, वैसे हि वनस्पति-शरीर भी... वह इस प्रकार धात्री (आंवलेका वृक्ष), प्रपुन्नाट = चक्रमर्द नामका वृक्ष आदिमें सोना (निद्रा) और जगना (निद्रात्याग) का सद्भाव दिखता है... तथा भूमिमें रखे हुए द्रविण (धन) के ढेरको अपने जड-मूलिये से घेरके रहना, वर्षाकी जलधाराके आवाज एवं शिशिर = ठंडे पवनके स्पर्शसे अंकुरका निकलना (उगना) तथा मस्ती एवं कामविकारोंके साथ स्खलना (लडथडती) पाती हुइ गति (चाल) से चकर-वकर (चंचल) आंखोवाली विलासिनी-स्त्रीके नूपुर (झांझर-पायजेब) वाले पाउं (चरण) से ताडित (स्पर्श कीये हुए) अशोक वृक्षमें पल्लव (पत्ते) एवं कुसुम (फुल) की उत्पत्ति होती है... तथा सुगंधि मुंहभर (कवल) की पीचकारीसे (मदिराकी धारासे) बकुलमें स्पष्ट हि अंकुरित याने नये कुंपल उत्पन्न होना, और हाथ आदिके स्पर्शसे बकुलमें संकोच आदि क्रिया स्पष्ट हि दिखती है... यह कहे गये अशोक आदि वृक्षोंकी क्रिया-चेष्टाएं ज्ञानके बिना नहिं हो शकती, अतः वनस्पतिका सचेतन-पना सिद्ध हुआ...

तथा जिस प्रकार यह मनुष्यका शरीर अंगोपांग हाथ आदिके कट जाने (छेदने) से मुरझाता (करमाता) है, वैसे हि वनस्पति-शरीर भी पत्ते, फल, फुल आदिके छेदनेसे मुरझाता

है... और अचेतनमें ऐसा कभी नहिं होता है...

तथा जिस प्रकार यह मनुष्यका शरीर स्तनपान, शाक, चावल आदि आहारको ग्रहण है, वैसे हि वनस्पतिका शरीर पृथ्वी, जल, आदिका आहार ग्रहण करता है... यह आहार ग्रहणकी क्रिया अचेतनमें नहिं दिखाइ देती है...

तथा जिस प्रकार- यह मनुष्यका शरीर अनित्य है, हंमेशां एकसा रहता नहिं है, वैसे हि यह वनस्पति-शरीर भी मर्यादित आयुष्यवाला होनेसे अनित्य हि है... वह इस प्रकार- वनस्पतिकाय-जीवोंका अधिकसे अधिक दश हजार वर्षका आयुष्य होता है और कमसे कम अंतमुहूर्त्त (आंखके पलकारे जितना) आयुष्य होता है...

तथा जिस प्रकार यह मनुष्यका **शरीर** प्रतिक्षण आवीची-मरण (आयुष्य कर्मदलके भुगतान स्वरूप निर्जरण) के स्वरूप मरनेके कारणसे अशाश्वत है, वैसे हि वनस्पति-शरीर भी अशाश्वत है...

तथा जिस प्रकार यह मनुष्यका शरीर इष्ट आहारकी प्राप्तिसे वृद्धि स्वरूप चय (पुष्ट) होता है और अनिष्ट आहारकी प्राप्तिसे हानिस्वरूप अपचय (दुर्बल) होता है...

तथा जिस प्रकार- यह मनुष्यका शरीर विविध रोगसे पांडुपर्ना (फिक्का पडना) उदरवृद्धि (जलोदर) शोफ (सूजन) शोथ, कृशत्व (दुर्बलता - सुखना) इत्यादि अथवा बाल-यौवन आदि विविध परिणामवाले होतें हैं और रसायन, तैल आदिके उपयोगसे विशिष्ट कांति, बल, आदिकी पुष्टि स्वरूप विविध परिणामको पातें हैं वैसे हि यह वनस्पतिशरीर भी विविध रोगोंके कारणसे पुष्प, फल, त्वक् (छाल) आदि विकृति होतें हैं, तथा विशिष्ट अभिलाषा स्वरूप दोहदको देनेसे पुष्प-फल आदिका उपचय (पुष्टि) भी होती है...

इस प्रकार कहे गये धर्मो-लक्षणोंसे वनस्पतिकाय-वृक्ष सचेतन हि है, इसमें कोइ संशय न रखें... इस प्रकार वनस्पतिमें चैतन्यकी सिद्धि करके अब उनके आरंभ (वध) में कर्मबंध तथा आरंभके परिहार स्वरूप विरतिके आसेवनसे **(साधुत्व)** मुनिपना दिखाते हुए एवं उद्देशकका उपसंहार करते हुए, इस उद्देशकका अंतिम सूत्र **सूत्रकार महर्षि** अब कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वनस्पति की सजीवता को सिद्ध करने के लिए उसकी मनुष्य शरीर के साथ तुलना की गई है और यह स्पष्ट कर दिया है कि- जो धर्म या गुण मनुष्य के शरीर में पाए जाते हैं, वे ही धर्म वनस्पति के शरीर में भी परिलक्षित होते हैं ।

मनुष्य शरीर की चेतनता प्रायः सभी विचारकों को मान्य है । अतः मनुष्यमें उपलब्ध

समस्त लक्षण वनस्पतिमें भी स्पष्ट दिखाई देते हैं और यह लक्षण उन्हीं में पाए जाते हैं, जो सजीव हैं । निर्जीव पदार्थों में ये गुण नहीं पाए जाते । इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणोंका चेतना के साथ अविनाभाव संबन्ध है । क्योंकि- जिस शरीर में चेतना होती है, वहां उक्त लक्षणों का सद्भाव होता है और जहां चेतनता नहीं होती है वहां उनका भी अभाव होता है । यथा-**जहां धूम होता है वहां अग्नि अवश्य होती है** । इसी न्याय से पर्वत या दूरस्थ स्थानपर स्थित अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम को देख कर अनुमान प्रमाण से यह निश्चय कर लेते हैं कि उस स्थान पर अग्नि हैं । **क्योंकि- धूम और अग्नि का सहचर्य है, अविनाभाव संबन्ध है अर्थात् यों कहिए कि धूम का अस्तित्व अग्नि के बिना नहीं होता । इसी तरह उक्त लक्षणों एवं सजीवता का अविनाभाव संबन्ध है । जहां उक्त लक्षण होगें, वहां सजीवता अवश्य होगी। इसी न्याय से वनस्पति की सजीवता को हम भली-भांति जान एवं समझ सकेंगे ।**

हम देखते हैं कि- मनुष्य माता के गर्भ से जन्म धारण करता है और जन्म के पश्चात् प्रतिक्षण अभिवृद्धि करता हुआ बाल, युवा एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है । उसी तरह वनस्पति भी योग्य मिट्टी, पानी वायु एवं आतप का संयोग मिलने पर बीज में से अंकुरित होती है और क्रमशः बढ़ती हुई बाल्य, यौवन एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होती है । पेड़-पौधों एवं लताओं से यह क्रम स्पष्ट दिखाई देता है ।

मनुष्य और वनस्पति दोनों के शरीर में चेतना भी समान रूप से है । चेतनाका लक्षण या गुण ज्ञान है और ज्ञानका अस्तित्व दोनों में पाया जाता है । कुछ पौधोंकी क्रियाओंके संबन्धमें देखते-पढ़ते हैं, तो उस से उनमें भी ज्ञानके अस्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। जैसे धात्री और प्रपुन्नाट आदि वृक्ष सोते भी हैं और जागृत भी होते हैं । वे अपनी जड़ों में गाड़े हुए धनको सुरक्षित रखने के लिए अपने शाखा-प्रशाखाओं को फैलाकर उस स्थानको आवृत्त कर देते हैं । और वर्षा काल में मेघ की गर्जना सुनकर तथा शिशिर ऋतुमें शीतल वायु का संस्पर्श पाक अंकुरित हो उठते हैं । बांसका पौधा भी मेघकी गर्जना सुनकर अंकुरित होता है । और मद विकृत कामिनीके पैर का संस्पर्श पाकर अशोक वृक्ष हर्षातिरेक से पल्लवित एवं पुष्पित होता है, पुरूषके हाथका संस्पर्श पाते ही लाजवन्तीका सुकोमल पौधा अपने आप को संकोच लेता है, उसके पत्ते सिकुड़ जाते हैं । और इस बात को भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस ने वैज्ञानिक साधनों के द्वारा प्रत्यक्ष में दिखा दिया कि कुछ पौधे अपनी प्रशंसा से प्रभावित होकर प्रफुल्लित हो उठते हैं और निन्दा-तिरस्कार के शब्दोंसे विकर्षित होकर मुर्झा जाते हैं । यह सभी क्रियाएं, वनस्पति में भी **ज्ञान** के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि ज्ञान के अभाव में ऐसा हो नहीं सकता । इससे वनस्पति में भी ज्ञान है ऐसा मानना चाहिए ।

मनुष्य के हाथ-पैर आदि किसी भी अंग-उपांग को काट देते हैं, तो वह अंग मुर्झा

जाता है । उसी तरह वनस्पतिका काटा हुआ हिस्सा भी कुमला जाता है, म्लान हो जाता है। इस तरह छेदन क्रियासे भी दोनोंके अंगोकी समान स्थिति होती है ।

आहारकी अपेक्षासे भी दोनोंमें समानता है । जैसे मनुष्यको समयपर पौष्टिक एवं अच्छा आहार मिलता रहे तो स्वस्थ एवं बलवान रहता है । उसी प्रकार वनस्पति को अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी एवं खाद मिलती रहे तो वह भी पल्लवित-पुष्पित एवं विकसित होती रहती है । प्रतिकूल आहार मिलने पर उसे भी रोग हो जाता है और उस रोगको औषध के द्वारा मिटाया भी जाता है ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि- मनुष्य तो आहार करता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु वनस्पति स्पष्ट रूप से आहार करती हुई नहीं दीखती । तो फिर वह आहार कैसे करती हैं ?

इसका समाधान करते हुए आगममें बताया गया है कि वनस्पतिका मूल, पृथ्वी से संबद्ध है, अतः वह पृथ्वी से आहार लेकर उसे अपने शरीरके रूप में परिणमन करती है । मूल से स्कन्ध संबद्ध है, इसलिए वह मूलसे आहार ग्रहण करके उसे अपने शरीर के रूप में परिणत करती है । इसी तरह शाखा, प्रशाखा, पत्ते, फूल, फल एवं बीज अपने अपने पूर्व से संबद्ध है, और वे उनसे आहार लेकर अपने शरीर रूप में परिणंत करते हैं इसी तरह वनस्पतिकाय क्रम पूर्वक आहार करती है । जैसे मनुष्य थाली में से भोजन का एक ग्रास हाथमें उठाकर मुंह में रखता है, फिर दांत चवर्ण करते हैं, जिह्वा आदि अवयव उसे गलेमें पहुंचाते है, वहांसे नीचे उतर कर पेटमें पहुंचता है, और वहां उसका रस, खून, वीर्य आदि पदार्थ बनकर शरीरमें यथा स्थान पर पहुंच जाते हैं । उसी तरह वनस्पतिकाय के जीव भी मूलके द्वारा पृथ्वीसे आहार ग्रहण करते हैं, फिर मूलसे स्कंध और स्कंधसे शाखा-प्रशाखा, पत्र पुष्प, फल और अपने-अपने पूर्व से ग्रहण कर लेते हैं । इस तरह वनस्पतिकायिक जीव भी आहार करते हैं और उसी के आधार पर अपने शरीरका निर्माण करते हैं ।

मनुष्य और वनस्पतिकाय दोनोंका शरीर अनित्य एवं अशाश्वत-अस्थिर है दोनों के शरीर में चय-उपचय होता रहता है । अनुकूल एवं प्रतिकूल आहार एवं वातावरण से दोनों के शरीर में ह्रास एवं परिपुष्टता देखी जाती है । और दोनोंके शरीरमें अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहते हैं ।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पतिमें भी चेतना है । आजके वैज्ञानिक युग में तो किसी प्रकार के संदेह को अवकाश ही नहीं रहता । भारतीय प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोसने वैज्ञानिक साधनोंसे जनता एवं वैज्ञानिकोंको वनस्पतिकी सजीवता को प्रत्यक्ष दिखा दिया। इससे जैनागमकी मान्यता परिपुष्ट होती है और साथ में यह भी प्रमाणित होता है कि

जैनागम सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट है । डा० बोस ने भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट बातको **वैज्ञानिक** साधनों से प्रत्यक्ष दिखाकर विश्वके वैज्ञानिकोंको वनस्पतिमें चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया, इसके लिए वे **साधुवाद** के पात्र हैं ।

इस तरह यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति सजीव है । अतः उसका आरम्भ करने से पाप कर्म का बन्ध होगा और संसार परिभ्रमण बढ़ेगा, इस लिए साधुको उसके आरम्भ-समारम्भका त्याग करना चाहिए । इसी बातका उपदेश देते हुए **सूत्रकार महर्षि** आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ ४८ ॥

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, नेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सइसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ४८ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतस्मिन् शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति, एतस्मिन् शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति । तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पतिशस्त्रं समारभेत, नैवाऽन्यैः वनस्पतिशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवाऽन्यान् वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् यस्य एते वनस्पतिशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, सः खु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि ॥ ४८ ॥

III शब्दार्थ :

एत्थ-इस वनस्पतिकाय के विषय में । **सत्थं**-शस्त्र का । **समारंभमाणस्स**-समारंभ करने वाले को । **इच्चेते**-यह सभी । **आरंभा**-आरंभ-समारंभ । **अपरिण्णाया**-अपरिज्ञात। **भवंति**-होते हैं । **एत्थ**-इस वनस्पतिकाय के विषय में । **सत्थं**-शस्त्र का । **असमारम्भमाणस्स**-समारम्भ नहीं करने वाले को । **इच्चेते आरम्भा**-यह सभी आरम्भ । **परिण्णाया भवन्ति**-परिज्ञात होते हैं । **तं परिण्णाय**-उस आरम्भ का परिज्ञान करके । **मेहावी**- बुद्धिमान पुरुष । **णेव सयं**-न तो स्वयं । **वणस्सइसत्थं**-वनस्पति शस्त्र का । **समारम्भेज्जा**-आरम्भ करे । **णेवण्णेहिं**-न अन्य से । **वणस्सइसत्थं**-वनस्पति शस्त्र का । **समारम्भावेज्जा**-समारम्भ करावे। **णेवण्णे**-और न अन्य व्यक्ति का, जो । **वणस्सइ सत्थं समारंभंतेऽवि**-वनस्पति शस्त्रका आरम्भ कर रहा है । **समणुजाणेज्जा**-समर्थन ही करे । **जस्सेते**-जिसको यह ।

वणस्सइसत्थसमारंभा-वनस्पति शस्त्र समारम्भ । **परिण्णाया भवंति**-परिज्ञात होते हैं । **से हु मुणी**-वही मुनि । **परिण्णाय कम्मे**-परिज्ञात कर्मा हैं । **त्तिबेमि**-ऐसा मैं कहता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

सुगम होनेसे पूर्वकी तरह समझ लीजीयेगा... इस वनस्पतिमें शस्त्रका समारंभ करनेवालोंने यह सभी आरंभोंकी परिज्ञा नहिं की है, और वनस्पतिमें शस्त्रका आरंभ नहिं करनेवालोंने यह सभी आरंभोंकी परिज्ञा की है... आरंभोंकी परिज्ञा करके मेधावी-साधु स्वयं वनस्पति-शस्त्रका आरंभ न करे, अन्योंके द्वारा वनस्पति-शस्त्रका आरंभ न करवाये, और वनस्पति-शस्त्रका आरंभ करनेवाले अन्योंकी अनुमोदना न करे... जिस मुनिने इन वनस्पतिशस्त्रके आरंभोकी **परिज्ञा** की है, वह हि मुनी **परिज्ञातकर्मा** है ऐसा मैं **(सुधर्मस्वामी)** कहता हुं... ॥ ४८ ॥

V टीका-अनुवाद :

इस वनस्पतिकायमें द्रव्य एवं भाव शस्त्रके समारंभको करनेवालेने इन सभी आरंभोंकी परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान नहिं किया है... और इन वनस्पतिकायमें शस्त्रका आरंभ नहिं करनेवालेने इन सभी आरंभोंकी परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान कीया है... इत्यादि पूर्वकी तरह स्वयं हि समझ लीजीयेगा... तब तक यावत... वह हि मुनि **परिज्ञातकर्मा** है... इति मैं **(सुधर्मास्वामी) हे जंबू** ! तुम्हें कहतां हूं...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या, पृथ्वीकाय, एवं अप्काय के अंतिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से कर चुके हैं । अतः यहां चर्वित-चर्वण करना उपयुक्त न समझ कर,.विशेष विवेचन नहीं कर रहे हैं । **पाठक** यथास्थान पर देख लेवें ।

त्तिबेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें ।

॥ शस्त्रपरिज्ञायां पञ्चमः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी**, एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान राजेन्द्र कोष** निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य

व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिये **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **"शिवमस्तु सर्वजगतः"**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ६

卐 त्रसकाय 卐

पांचवा उद्देशक पूर्ण हुआ... अब छठे उद्देशकका आरंभ करतें हैं... पांचवे उद्देशकमें वनस्पतिकायका प्रतिपादन कीया, अब वनस्पतिकायके बाद त्रसकायका आगमसूत्रमें कथन होनेसे त्रसकायके स्वरूपका बोध-ज्ञानके लिये इस छठे उद्देशकका आरंभ करतें हैं... इस छठे उद्देशकका उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार तब तक स्वयं समझ लीजीये कि- जब तक नाम निष्पन्न निक्षेपमें त्रसकाय - उद्देशकका स्वरूप कथन करें...

त्रसकायके अधिकारमें पृथ्वीकायकी तरह सभी द्वार होतें हैं किंतु जहां भिन्नता है वहां अतिदेश (हवाले) के द्वारा एवं विधान (भेद) आदि द्वार निर्युक्तिकार कहतें हैं...

नि. १५२

पृथ्वीकायके अधिकारमें कहे गये द्वार यहां त्रसकायके अधिकारमें भी होतें हैं किंतु विधान (भेद), परिमाण, उपभोग, शस्त्र तथा लक्षण द्वार निर्युक्तिकी गाथाओंसे कहतें हैं...

विधान (भेद - प्रकार) द्वार...

नि. १५३

त्रसन याने स्पंदन करनेवाले त्रस तथा जीवन याने प्राणोंको धारण करनेवाले जीव... त्रस स्वरूपवाले जो जीव वह त्रसजीव... उनके दो भेद है...

१. लब्धित्रस २. गतित्रस...

१. लब्धित्रस = लब्धिसे त्रस वह लब्धित्रस... जैसे कि- तेउकाय एवं वाउकाय...

लब्धि याने शक्तिमात्र... लब्धित्रस ऐसे तेउकाय एवं वाउकायका यहां अधिकार नहिं है, क्योंकि- तेउकाय का स्वरूप कह चुके हैं और वाउकायका स्वरूप आगे कहेंगे... अतः सामर्थ्यसे गतित्रसका हि यहां अधिकार है...

२. गतित्रस = गतित्रस कौन कौन है ? और उनके कितने भेद हैं ? वह अब निर्युक्तिकी गाथासे कहतें हैं...

नि. १५४

१. रत्नप्रभा आदि पृथ्वीमें रहनेवाले नारकोंके सात भेद है...

२. तिर्यंच भी बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय एवं पंचेंद्रिय भेदसे चार प्रकारके हैं...

३. मनुष्यके दो भेद. १. गर्भज २. संमूर्च्छिमज...

४. देवोंके चार प्रकार. १. भवनपति २. व्यंतर
३. ज्योतिष्क ४. वैमानिक देव

इस प्रकार **गतित्रस** जीवोंके मुख्य भेद चार हैं...

गतिनामकर्मके उदयसे नरक आदि गतिकी प्राप्ति जिन्हें हुइ है, वे जीव **गतित्रस** कहलातें हैं...

यह सभी नारक आदि जीव पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेदसे दो दो प्रकारके होतें हैं... पर्याप्ति पूर्व कहे गये प्रकारसे छह (६) प्रकारकी है...

१.	आहार पर्याप्ति	=	आहारके परिणमनकी शक्ति.
२.	शरीर पर्याप्ति	=	शरीर बनानेकी शक्ति.
३.	इंद्रिय पर्याप्ति	=	इंद्रियोंको निर्माण करनेकी शक्ति
४.	श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	=	श्वास परिणमनकी शक्ति
५.	भाषा पर्याप्ति	=	भाषा बोलनेकी शक्ति
६.	मनः पर्याप्ति	=	विचार (चिंतन) करनेकी शक्ति...

१. एकेंद्रिय जीवको चार पर्याप्ति
२. बेइंद्रिय जीवको पांच पर्याप्ति
३. तेइंद्रिय जीवको पांच पर्याप्ति
४. चउरिंद्रिय जीवको पांच पर्याप्ति
५. पंचेंद्रिय (असंज्ञी) जीवको पांच पर्याप्ति
६. पंचेंद्रिय (संज्ञी) जीवको छह (६) पर्याप्ति...

अपने योग्य पर्याप्तियोंसे पूर्ण वे पर्याप्त... और अपने योग्य पर्याप्तियोंसे जो अपूर्ण है वे अपर्याप्त... अपर्याप्त जीवोंका आयुष्य अंतर्मुहूर्त-काल होता है... अब गतित्रस जीवोंका उत्तरभेद कहतें हैं...

नि. १५५

शीत उष्ण एवं मिश्र भेदसे योनीयोंके तीन भेद है...
सचित्त अचित्त एवं मिश्र भेदसे योनीयोंके तीन भेद है...
संवृत विवृत एवं मिश्र भेदसे योनीयोंके तीन भेद है...

इस प्रकार योनीयोंके अनेक तीन तीन भेद हैं... उनमें नारकोंकी प्रथम तीन भूमिमें शीत योनि होती है... चौथी नरक भूमिमें उपरके भागमें शीत योनि तथा नीचेके भागोंके नारकोंकी उष्ण योनि होती है, और पांचवी छट्ठी एवं सातवी नरक भूमिमें उष्ण योनि होती है... अन्य नहिं... गर्भज तिर्यंच पंचेंद्रिय एवं गर्भज मनुष्योंकी शीतोष्ण (मिश्र) योनी होती है, सभी देवोंकी शीतोष्ण (मिश्र) योनी होती है... बेइंद्रिय - तेइंद्रिय - चउरिंद्रिय एवं संमूर्च्छिम पंचेंद्रिय तिर्यंच एवं मनुष्योंकी शीत, उष्ण और शीतोष्ण (मिश्र) तीनों प्रकारकी योनीयां होती है... तथा नारक एवं देवोंकी अचित्त योनि होती है, अन्य नहिं... और बेइंद्रियसे लेकर संमूर्च्छिम पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा मनुष्योंको सचित्त अचित्त एवं मिश्र योनीयां होती है... गर्भज तिर्यंच एवं मनुष्योंकी एक हि सचित्त + अचित्त (मिश्र) योनी होती है, अन्य नहिं... देव और नारकोंको संवृत्त योनि होती है... अन्य नहिं... बेइंद्रिय से लेकर संमूर्च्छिम पंचेंद्रिय तिर्यंच एवं मनुष्योंको विवृत योनि होती है, अन्य नहिं... तथा गर्भज तिर्यंच एवं मनुष्योंको संवृतविवृत (मिश्र) योनि होती है, अन्य नहिं... नारकको नपुंसक योनि होती है, तिर्यंच गतिमें स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक तीनो योनियां होती है... देवोंमें स्त्री एवं पुरुष दो हि योनीयां होती है...

मनुष्य-योनिके अन्य भी तीन प्रकार होतें है... वह इस प्रकार-

१. कूर्मोन्नता- इस योनिमें अरिहंत, चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषोकी उत्पत्ति होती है...

२. शंखावर्त्ता- चक्रवत्तीके स्त्रीरत्नकी योनि शंखावर्त्त होती है, इस योनीमें जीवोंकी उत्पत्ति तो होती है, किंतु निष्पत्ति याने जीवन नहिं होता... अर्थात् उत्पन्न होते हि थोडी सी देरमें **जीव** मर जातें है...

3. वंशीपत्ता- इस योनी में शेष सभी **मनुष्य** उत्पन्न होतें हैं...

और भी योनीयोंके तीन प्रकार होतें है, वह इस प्रकार...

१. अंडज	-	पक्षी आदि...
२. पोतज	-	वल्गुली, गज (कलभक) आदि...
3. जरायुज	-	गाय - भेंस - मनुष्य आदि...

त्रस जीवोंके और भी भेद होतें हैं, वे इस प्रकार...

१. बेइंद्रिय	-	कृमि, अलसीया, पोरा...
२. तेइंद्रिय	-	कीडी, जु, उद्धेही (उद्धइ)...
3. चउरिंद्रिय	-	मक्खी, मच्छर, भमरा, पतंगीया...
४. पंचेंद्रिय	-	देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक...

इस प्रकार यह त्रस जीवोंका भेद-प्रभेद योनी- आदिके माध्यमसे कहा... कहा भी है कि- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वाउकायकी प्रत्येककी सात लाख- सात लाख योनीयां होती हैं... ७ × ४ = २८ लाख...

पृथ्वी आदि... ४ × ७ लाख योनीयां	=	२८ लाख योनीयां...
प्रत्येक वनस्पतिकायकी		१० लाख योनीयां...
साधारण वनस्पतिकायकी		१४ लाख योनीयां...
बइंद्रिय जीवोंकी		२ लाख योनीयां...
तेइंद्रिय जीवोंकी		२ लाख योनीयां...
चउरिंद्रिय जीवोंकी		२ लाख योनीयां...
नारक जीवोंकी		४ लाख योनीयां...
देव जीवोंकी		४ लाख योनीयां...
तिर्यंच पंचेंद्रिय जीवोंकी		४ लाख योनीयां...
मनुष्य जीवोंकी		१४ लाख योनीयां...
	कुल	८४ लाख योनीयां...

इस प्रकार कुल योनीयां चौराशी (८४) लाख होती हैं...

अब कुल - कोटि का परिमाण कहतें हैं...

एकेंद्रिय-	३२ लाख कुल कोटि...
बेइंद्रिय-	८ लाख कुल कोटि...
तेइंद्रिय-	९ लाख कुल कोटि...
चउरिंद्रिय-	७ लाख कुल कोटि...
हरित (वनस्पति) काय	२५ लाख कुल कोटि...
जलचर तिर्यंच पंचेंद्रिय-	१२.५ लाख कुल कोटि...
खेचर (पक्षी) "	१२ लाख कुल कोटि...

चतुष्पद गाय - हाथी वगैरे...	१० लाख कुल कोटि...
उरःपरिसर्प... नाग वगैरे...	१० लाख कुल कोटि...
भुजपरिसर्प... नउला वगैरे...	९ लाख कुल कोटि...
नारक	२५ लाख कुल कोटि...
देव	२६ लाख कुल कोटि...
मनुष्य	१२ लाख कुल कोटि...

सर्व मीलाकर कुल - १, ९७, ५०, ०००, कुल कोटि...

अब लक्षण द्वार कहतें हैं...

नि. १५६-१५७

१. दर्शन = सामान्य उपयोग स्वरूप... चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवल दर्शन... दर्शन परिणाम...

२. ज्ञान = ज्ञानावरणके दूर होनेसे स्पष्ट तत्त्वबोध स्वरूप... मतिज्ञान आदि... स्व एवं परके बोध स्वरूप जीवका ज्ञान परिणाम...

3. चारित्र- सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म संपराय एवं यथाख्यात... स्वरूप चारित्र परिणाम...

४. देशविरति (चारित्राचारित्र) स्थुल प्राणातिपातादिके विरमण स्वरूप श्रावकोंके १२ व्रत...

५. दानादि १० लब्धि... दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, एवं श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना तथा स्पर्शेन्द्रिय...

✲ **लक्षण = जीवके साथ सदा रहे, जीवके सिवाय कहिं न रहे... जैसे कि- चेतना...**

६. उपयोग- १. साकारोपयोग... ज्ञान... ५ + 3 = ८

२. अनाकारोपयोग... दर्शन ४

७. योग... मन - वचन एवं काययोग-

८. अध्यवसाय- सूक्ष्म... मनके परिणामसे उत्पन्न होनेवाले अध्यवसायोंके अनेक प्रकार है...

९. लब्धि- विविध प्रकारकी औदयिक लब्धियां क्षीराश्रव, मध्वाश्रव आदि... यह लब्धियां ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मकी स्वशक्तिके परिणाम स्वरूप है...

१०. लेश्या- कृष्ण नील कापोतलेश्या... अशुभ है...
तेजो पद्म शुक्ललेश्या... शुभ है...
यह लेश्या कषाय एवं योगके परिणामसे होती है...

११. संज्ञा... आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह स्वरूप चार संज्ञाएं... अथवा दश संज्ञा... उपर कही चार एवं क्रोधादि चार तथा ओघसंज्ञा एवं लोकसंज्ञा...

१२. श्वासोच्छ्वास = प्राण = श्वास लेना और छोडना...

१३. कषाय = कष याने संसार और आय याने लाभ... और वे **कषाय** अनंतानुबंधि आदि भेदोंसे सोलह (१६) प्रकारसे है...

एकेन्द्रिय जीवों के **लक्षण** पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय के वर्णनमें कह चूके हैं, अतः इन दो गाथाओंमें कहे गये तेरह (१३) लक्षण बेइंद्रिय आदि त्रस जीवोंके हैं... ऐसे लक्षणोंका समूह, घट - वस्त्र आदिमें नहिं है, अतः वे घट-पट-आदि अचेतन हैं...

अब लक्षण द्वाराका उपसंहार तथा परिमाण द्वारके कथनके लिये निर्युक्तिकार कहतें हैं कि-

नि. १५८

बेइंद्रिय आदि त्रस जीवोंमें उपर कहे गये दर्शन आदि तेरह (१३) लक्षण परिपूर्ण है, अर्थात् इनसे अधिक और कोइ लक्षण नहिं हैं...

✲ अब परिमाण = संख्या कहतें हैं...

(१) क्षेत्रकी दृष्टिसे घनीकृत लोकाकाशके प्रतरके असंख्येय भागमें रहे हुए प्रदेशोंकी राशि = संख्या प्रमाण **पर्याप्त त्रसकाय** जीव हैं... और वे पर्याप्त बादर तेउकाय (अग्नि) से **असंख्यगुण** अधिक हैं...

(२) पर्याप्त त्रसकाय जीवोंसे अपर्याप्त त्रसकाय जीव असंख्यगुण अधिक हैं तथा कालकी दृष्टिसे- वर्तमानकालमें कमसे कम सागरोपम पृथक्त्व (२ से ९ सागरोपम) के समयकी राशि = संख्या प्रमाण त्रसकाय जीव होतें हैं और अधिकसे अधिक- लाख सागरोपम पृथक्त्व (२ लाखसे ९ लाख सागरोपम) के समयकी राशि प्रमाण होतें हैं...

कहा भी है कि- हे भगवन् ! वर्तमान कालमें रहे हुए त्रसकाय जीव कितने कालमें निर्लेप (खाली) हो ? हे गौतम ! कमसे कम सागरोपम पृथक्त्व और अधिकसे अधिक सागरोपम-लक्ष-पृथक्त्व...

※ उद्वर्तन याने **निष्क्रमण** = मरण और **उपपात** याने प्रवेश = जन्म...

त्रसकाय जीव कमसे कम- एक, दो, तीन उत्पन्न होतें हैं... और अधिकसे अधिक- प्रतरके असंख्येय भाग प्रदेशकी संख्या प्रमाण **असंख्य** उत्पन्न होतें हैं...

अब निरंतर प्रवेश एवं निर्गम की संख्या कहतें हैं...

नि. १५९

जघन्यसे त्रसकायमें निरंतर एक, दो या तीन जीव उत्पन्न होतें हैं और मरण पातें हैं... उत्कृष्टसे त्रसकायमें आवलिकाके असंख्येय भागके समय प्रमाण असंख्य उत्पन्न होतें हैं और मरण पातें हैं...

एक जीवकी अपेक्षासे त्रसकायमें निरंतर रहनेका काल... जघन्यसे - अंतर्मुहूर्त काल... अर्थात् अंतर्मुहूर्त कालके बाद मरण पाकर पृथ्वीकाय आदि एकेंद्रियमें उत्पन्न होता है...

उत्कृष्ट से- दो हजार सागरोपम काल... अर्थात् एक जीव अधिकसे अधिक त्रसकायमें दो हजार सागरोपम काल पर्यंत जन्म-मरण करता हुआ रहता हैं, यदि इतने कालमें वह **जीव** मोक्ष-पद प्राप्त न करे, तब पुनः स्थावर याने एकेन्द्रियमें अवस्य उत्पन्न होता हैं...

※ प्रमाण द्वार कहा, अब उपभोग, शस्त्र और वेदना यह तीन द्वारका स्वरूप कहतें हैं...

नि. १६०

१. उपभोग- मांस, चमडा, केश, रोम, नख, पिच्छा, दांत, स्नायु, हड्डी, शींगडे, आदि सजीव या निर्जीव त्रसकायका उपभोग है...

२. शस्त्र- खड्ग (तरवार), तोमर (लोहेका डंडा, भाला) छुरी आदि... तथा जल, अग्नि, आदि अनेक प्रकारके स्वकाय, परकाय एवं उभयकाय स्वरूप अनेक प्रकारके शस्त्र, त्रसकायके विनाशक होतें हैं...

3. वेदना- वेदनाके दो प्रकार है... १. शरीरमें होनेवाली २. मनमें होनेवाली

१. शरीरकी वेदना - शल्य तथा शलाका आदिके द्वारा छेदन भेदन से होनेवाली वेदना-

२. मनकी वेदना - प्रियका वियोग एवं अप्रियके संयोग आदि से होनेवाली मानसिक चिंता-पीडा...

और भी अनेक प्रकारसे वेदना- ज्वर, अतीसार, कास (खांसी), श्वास (दम), भगंदर, शिरोरोग = माथेकी पीडा, शल्य, गुदकीलक = बवासोर आदि रोगोंसे उत्पन्न होनेवाली पीडा...

* अब विस्तारसे **उपभोग** का स्वरूप कहतें हैं...

नि. १६१-१६२

१. मांसके लिये- मृग (हरण), सुअर (भूंड) आदि...
२. चमडेके लिये- चित्ता आदि...
3. रोमके लिये- चूहा आदि...
४. पिंच्छेके लिये- मोर, गीध...
५. पुच्छके लिये... चमरी आदि...
६. दांतके लिये... हाथी, वराह आदि... का वध...
७. कितनेक लोग उपर कहे गये प्रयोजन (कारण) से त्रस जीवोंका वध करतें हैं, और कितनेक लोग प्रयोजन विना हि केवल क्रीडा के लिये हि त्रसजीवोंका वध करतें हैं... और कितनेक मनुष्य... प्रसंग दोषसे... जैसे कि- मृग (हरण) का लक्ष्य बनाकर फेंके हुए पत्थर, बाण आदिसे बीचमें रहे हुए अनेक कबुतर, टिटिहिरी, पोपट, सारिका आदिका वध हो जाता है...

कर्म याने कृषि आदि अनेक प्रकारके कर्म करनेवाले मनुष्य बैल आदिको रज्जु - दोरडीसे बांधतें है, चाबुक एवं लकडीसे मारतें हैं, और अनेक छोटे-बडे त्रसजीवोंके प्राणोका नाश करतें हैं...

इस प्रकार विधान (भेद) आदि द्वारोंका समूह कह कर अब उपसंहार करतें हैं...

नि. १६3

यहां कहे गये विधान (भेद) आदि द्वारोंसे अतिरिक्त बाकीके शेष सभी द्वार पृथ्वीकायकी तरह हि समझीयेगा... इस प्रकार यहां त्रसकायकी नाम निक्षेप निर्युक्ति पूर्ण हुइ...

अब सूत्राऽनुगममें सूत्रके पदोंका अस्खलित रीतसे उच्चार करना चाहिये... वह सूत्र यह है... पढिये...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ४९ ॥

से बेमि संतिमे तसा पाणा, तं जहा- अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, समुच्छिमा, उब्भियया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चइ ॥ ४९ ॥

II **संस्कृत-छाया :**

सोऽहं ब्रवीमि, सन्ति त्रसाः प्राणिनः, तद्-यथा-अण्डजाः पोतजाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदजाः, सम्मूर्च्छिमाः उद्भेदजाः, औपपातिकाः, एषः संसारः इति प्रोच्यते ॥ ४९ ॥

III **शब्दार्थ :**

से-वह मैं । **बेमि**-कहता हूं । **इमे**-यह । **तसा**-त्रस । **पाणा**-प्राणी । **संति**-हैं । **तंजहा**-जैसे कि । **अण्डया**-अण्डे से उत्पन्न होने वाले कपोत आदि पक्षी । **पोयया**-पोतज रूपसे जन्मने वाले हाथी आदि । **जराउआ**-जरायुसे वेष्टित उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और मनुष्य आदि प्राणी । **रसया**-विकृत रससे अत्यधिक खट्टी छाछ, कांजी आदि में उत्पन्न होने वाले जीव । **संसेयया**-स्वेद पसीनेसे उत्पन्न होने वाले जूं, लीख आदि जीव । **समुच्छिमा**-समूर्च्छिम उत्पन्न होने वाले चींटी, मक्खी; मच्छर, बिच्छू आदि जीव । **अब्भियया**-**उद्भिदज**-उद्भेद से उत्पन्न होने वाले पतंगे, तीड, बहूटी आदि । **उववाइया**-उपपात से उत्पन्न होने वाले देव और नारकके जीव । **एस**-यह अष्ट प्रकार के त्रस जीव । **संसारेत्ति**-संसार है अर्थात् इन त्रस जीवों को संसार । **पवुच्चई**-कहा जाता है ।

IV **सूत्रार्थ :**

वह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं कि- त्रस जीव है, वे इस प्रकार- अंडज़, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्भिदज और औपपातिक... यह संसार कहा गया है... ॥ ४९ ॥

V **टीका-अनुवाद :**

इस छट्ठे उद्देशकके प्रथम सूत्रका संबंध पूर्वकी तरह समझीयेगा... परमात्माके मुख-कमलसे प्रगट हुइ वाणीसे वस्तु-पदार्थकि तत्त्वको जैसा है वैसा हि समझकरके, मैं **सुधर्मास्वामी हे जंबू** ! तुम्हें कहता हूं कि- बेइंद्रिय आदि त्रस जीव हैं, और उनके आठ प्रकार हैं...

१. अंजज- अंडेसे उत्पन्न होनेवाले... पक्षी, गीरोली आदि...

२. पोतज- हाथी, वल्गुली (गीदड)

3. जरायुज- जरायुके साथ जन्म पानेवाले- गाय, भेंस, बकरे, घेंटे (भेड), मनुष्य आदि...

४. रसज- छास, चावलका पसाव (ओसामण) दहीं तीमन (सूप - दाल - कडी) आदिमें

उत्पन्न होनेवाले पायु कृमि (करम) आकृतिवाले बहुत छोटे जीवजंतु...

५. संस्वेदज- पसीनेमें उत्पन्न होनेवाले मत्कूण (खटमल) जू, कानखजूरे आदि...

६. संमूर्च्छिम- पतंगीया, चीटिंया, मक्खी, आशालिक आदि संमूर्च्छन प्रकारसे उत्पन्न होनेवाले...

७. उद्भिदज- उद्भेनसे उत्पन्न होनेवाले- पतंगीया, खंजरीट पारिप्लव आदि...

इस प्रकार संसारी त्रसजीवोंके आठ हि भेद हैं... इन आठ प्रकारके अलावा (अन्य) और कोइ प्रकार, जन्म की अपेक्षासे संसारमें त्रसजीवोंके नहिं है...

अन्य शास्त्रमें तीन प्रकार भी कहा है...

१. संमूर्च्छन- रसज, स्वेदज, उद्भेदज... (३ प्रकार)
२. गर्भज- अंडज, पोतज, जरायुज... (३ प्रकार)
३. उपपातज- देव और नारक... (२ प्रकार)

इस प्रकार तीन प्रकारके जन्मके उत्तर भेद आठ होतें हैं...

इस प्रकार आठ प्रकारके जन्ममें सभी त्रसजीवोंका समावेश होता है... इन आठके सिवाय अन्य कोइ प्रकार नहिं है...

यह आठ प्रकारके योनीवाले जीव बाल-स्त्री आदि लोगोंको प्रत्यक्ष हि है... "सन्ति" इस पदसे त्रस जीव इस विश्वमें तीनों कालमें होतें हैं, संसारमें त्रसजीवोंका अभाव कभी नहिं होता है... यह अंडज आदि आठ प्रकारके जीवोंके समूहको हि संसार कहतें हैं... त्रसजीवोंका उत्पत्तिका प्रकार इन आठके अलावा और कोइ नहिं है... यह इस सूत्रका सार है...

इन आठ प्रकारके त्रसजीवोंमें, कौन कौन जीव उत्पन्न होतें हैं ? यह बात, अब **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

आगमों में जीव के दो भेद कहे गए हैं—१-सिद्ध और २-संसारी । संसारी जीव भी दो प्रकारके हैं—१-स्थावर और २-त्रस । स्थावर जीवों के पांच भेद किए गए हैं—१-पृथ्वीकाय, २-अप्काय, ३-तेजस्काय, ४-वायुकाय, और ५-वनस्पतिकाय । इनमें तेजस्काय और वायुकायको लब्धि त्रस भी माना है, परन्तु इनकी योनि स्थावर नाम कर्मके उदयसे प्राप्त होती है तथा इनके एक स्पर्श इन्द्रिय ही होती है, इस लिए इन्हें स्थावर माना गया है । त्रस जीवों के मुख्य चार भेद किए गए हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय । इनके अनेक भेद-उपभेद हैं-जिनका आगमों में विस्तार से वर्णन किया गया है ।

त्रस का अर्थ है-"**त्रस्यन्तीति त्रसाः--त्रसनात्-स्पन्दनात् त्रसाः जीवनात्-प्राणाधारणात् जीवाः त्रसा एव जीवाः त्रसजीवाः ।**" अर्थात् जो प्राणी त्रास पाकर उससे बचने के लिए चेष्टा करते हों, एक स्थान से दूसरे स्थानको आ जा सकते हों, उन्हें त्रस जीव कहते हैं । या हम यों भी कह सकते हैं कि जिनकी चेतना स्पष्ट परिलक्षित होती है, जो अपनी शारीरिक हरकत एवं चेष्टाओंके द्वारा सुख-दुःखानुभूति करते हुए स्पष्ट देखे जाते हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी होते हैं और वे असंख्यात हैं । पर उनके उत्पत्ति स्थान आठ माने गए हैं और प्रस्तुत सूत्र में उन्ही का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार हैं-

१-अंडज - अंडे से उत्पन्न होने वाले- कबूतर, हंस, मयूर, कोयल आदि पक्षी ।

२-पोतज- पोत-चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले- हाथी; वल्गुनी, चर्मजलूक आदि पशु ।

३-जरायुज - जेर से आवेष्टित उत्पन्न होने वाले- गाय, भैंस, मनुष्य इत्यादि पशु एवं मानव-

४-रसज- खाद्य पदार्थों में रसके विकृत होने-बिगाड़नेसे उसमें उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रियादि जीव-अधिक दिनको खट्टी छाछ; कांजी आदि में नन्हीं-नन्हीं कृमिऐं उत्पन्न हो जाती हैं ।

५-संस्वेदज- पसीने से उत्पन्न होने वाली - जूं-लीख आदि ।

६-समूर्च्छन- स्त्री-पुरुष के संयोग विना उत्पन्न होने वाले - चींटी, मच्छर, भ्रमर आदि जीव-जन्तु ।

७-उद्भिदज - भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाले - टीड, पतंगे इत्यादि जन्तु ।

८-औपपातिक- उपपात - देव शय्या एवं कुंभी में उत्पन्न होने वाले देव एवं नारकीके जीव ।

संसारमें जितने भी त्रस जीव हैं, वे सब आठ प्रकारसे उत्पन्न होते हैं । इस तरह समस्त त्रस जीवोंका इन आठ भेदोमें समावेश हो जाता है । और इनके समन्वित रूपको ही संसार कहते हैं अर्थात् जहां इन सब जीवोंका आवागमन होता रहता है, एक गतिसे दूसरी गतिमें संसरण होता है, उसे ही संसार कहते हैं । क्यों कि जीवोंके एक गतिसे दूसरी गतिमें परिभ्रमण करने के आधार पर ही संसार का अस्तित्व रहा हुआ है । इसी कारण इन उत्पत्तिशील या भ्रमणशील जीवों को संसार कहा गया है ।

त्रस जीवोंके उत्पत्ति स्थान के संबन्ध में एक और मान्यता भी है । तत्त्वार्थ सूत्रके रचयिता **वाचक श्री उमास्वातिजी**, त्रस जीवोंके उत्पत्ति स्थान, तीन प्रकारके मानते हैं- समूर्च्छन,

गर्भज और औपपातिक । इन दोनों विचारधाराओंमें केवल संख्याका भेद दृष्टिगोचर होता है। परंतु वास्तवमें दोनोंमें सैद्धांतिक अंतर नहीं है । दोनों विचार एक-दूसरेसे विरोध नहीं रखते। क्योंकि-रसज, संस्वेदज, उद्भिदज एवं सम्मूर्च्छनज, यह चारों भेद **समूच्छन** जीवोंके ही भेद हैं, तथा अंडज, पोतज और जरायुज ये तीनों **गर्भज** जीवों के भेद हैं और देव एवं नारकोंका **उपपात** से जन्म होने के कारण वे **औपपातिक** कहलाते हैं । अतः तीन और आठ भेदोंमें कोई अंतर नहीं है । यों कह सकते हैं कि- त्रस जीवों के मूल उत्पत्ति स्थान तीन प्रकारके हैं और आठ प्रकार **उत्पत्ति स्थान** उन्हीं के विशेष भेद हैं, जिससे साधारण व्यक्ति भी सुगमता से उनके स्वरूपको समझ सके ।

इससे स्पष्ट हो गया कि उत्पत्ति स्थानके तीन या आठ भेदों में कोई सैद्धांतिक भेद नहीं है । यह सभी उत्पत्ति स्थान जीवोंके कर्मों की विभिन्नता के प्रतीक है । प्रत्येक संसारी प्राणी अपने कृत कर्मके अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं । आत्म द्रव्यकी अपेक्षासे सब आत्माओं में समानता होने पर भी कर्म बंधनकी विभिन्नताके कारण कोई आत्मा विकासके शिखरपर आ पहुंचती है, तो कोई पतनके गड्ढे में जा गिरती है । आगममें भी कहा है कि अपने कृत कर्मके कारण कोई देवशय्यापर जन्म ग्रहण करता है, तो कोई कुंभी (नरक) में जा उपजता है । कोई एक असुरकाय में उत्पन्न होते हैं, तो कोई मनुष्य शरीर में भी क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण, चंडाल-बुक्कस आदि कुलोमें जन्म लेते हैं और कोई प्राणी पशु-पक्षी, टीड-पतंग, मक्खी, मच्छर, चींटी आदि जंतुओकी योनिमें जन्म लेते हैं । इस तरह विभिन्न कर्मों में प्रवृत्तमान प्राणी संसारमें विभिन्न योनियोंमें जन्म ग्रहण करते रहते हैं ।

योनि और जन्म, यह दो शब्द हैं और दोनोंका अपना स्वतंत्र अर्थ है । यह आत्मा अपने पूर्व स्थानके आयुष्य कर्मको भोगकर अपने बांधे हुए कर्मके अनुसार जिस स्थानमें आकर उत्पन्न होता है, उसे योनि कहते हैं और उस योनिमें आकर अपने औदारिक या वैक्रिय शरीरके बनानेके लिए आत्मा औदारिक या वैक्रिय पुद्गलों का जो प्राथमिक स्थिति में ग्रहण करता है, उसे जन्म कहते हैं । इस तरह योनि और जन्म का आधेय-आधार संबंध है । योनि आधार है और जन्म आधेय है ।

जैनदर्शनमें शरीरके पांच भेद बताए गए हैं- १-औदारिक, २-वैक्रिय, ३-आहारक, ४-तैजस और ५-कार्मण इसमें आहारक शरीर विशिष्ट लब्धि युक्त मुनिको ही प्राप्त होता है और **वैक्रिय शरीर** देव और नारकी तथा लब्धिधारी मनुष्य तिर्यञ्चोंको प्राप्त होता है । औदारिक शरीर मुनष्य और तिर्यञ्च गति में सभी जीवोंको प्राप्त होता है । तैजस और कार्मण शरीर संसारके सभी जीवोंमे पाया जाता है । औदारिक या वैक्रिय शरीरका कुछ समयके लिए अभाव भी पाया जाता है, परन्तु तैजस और कार्मण शरीर का संसार अवस्था में कभी भी अभाव नहीं होता । जब आत्मा एक योनिके आयुष्य कर्मको भोग लेता है, तो उसका उस योनिमें प्राप्त

औदारिक या वैक्रय शरीर वहीं छूट जाता है । उस समय केवल तैजस और कार्मण शरीर ही उसके साथ रहता है, जो उसके किए हुए कर्मके अनुसार उसे (आत्माको) उस योनि तक पहुंचा देता है । वहां आत्मा जन्म धारण करता है और कार्मण शरीरके द्वारा वहां पर स्थित पुद्गलोंका आहार ग्रहण करके उसे औदारिक या वैक्रिय शरीरके रूप में परिणत करता है । इस प्रकार उसका उत्पन्न होना जन्म है और जिस स्थान में उत्पन्न होता है, वह स्थान योनि कहलाता है ।

तत्त्वार्थ सूत्र में उत्पत्ति स्थान तीन माने गए हैं–**१-समूर्च्छन, २-गर्भाशय और ३-औपपातिक** । स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना ही योनि-उत्पत्ति स्थानमें स्थित औदारिक पुद्गलोंको सर्वप्रथम ग्रहण करके औदारिक शरीर रूपमें परिणत करना **समूर्च्छन** जन्म है ।

स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पत्ति स्थान-गर्भाशयमें स्थित रज-शुक्र (वीर्य) या शोणित के पुद्गलोंको पहले-पहल शरीर बनानेके हेतु ग्रहण करने का नाम **गर्भज** जन्म है ।

देव शय्या या नरक कुंभीमें स्थित वैक्रिय पुद्गलोंको प्रथम समयमें वैक्रिय शरीरका निर्माण करने के लिए ग्रहण करने के स्थान का नाम **उपपात** जन्म हैं । देव शय्या के ऊपर का भाग दिव्य वस्त्रसे प्रच्छन्न रहता है, उस प्रच्छन्न भाग में देवों का जन्म होता है और कुम्भी, वज्रमय कुम्भ जैसे स्थान, नारकोंका उपपात क्षेत्र हैं । इन उभय स्थानोमें स्थित वैक्रिय पुद्गलोंको देव और नारक ग्रहण करते हैं ।

इन उत्पत्ति स्थानोमें कौन कौन **जीव** जन्म लेते हैं, इसी बातको अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५० ॥

मंदस्स अवियाणओ ॥ ५० ॥

II संस्कृत-छाया :

मन्दस्य अविजानतः ॥ ५० ॥

III शब्दार्थ :

मंदस्स–मंद व्यक्ति का । **अवियाणओ**–जो तत्त्व से अनभिज्ञ है, उसका संसार में भ्रमण होता है ।

IV सूत्रार्थ :

हितको नहिं जाननेवाले मंदको यह संसार होता है ॥ ५० ॥

V टीका-अनुवाद :

द्रव्य एवं भाव भेदसे मंदके दो प्रकार है...

(१) द्रव्य मंद - अतिशय स्थूल अथवा अतिशय दुर्बल...

(२) भावमंद - मंद बुद्धिवाला अथवा कुशास्त्रको जाननेवाले... यह भी सद्बुद्धिके अभावमें बाल हि है...

यहां भाव-मंदका अधिकार है... हित एवं अहितको नहि जाननेवाले, विशेष समझके अभावमें अच्छे आचार-विचार न होनेसे बाल-जीवको हि इस संसारमें परिभ्रमणा होती रहती है...

यदि ऐसा है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रमें कहेंगे....

VI सूत्रसार :

उक्त उत्पत्ति में कौन व्यक्ति जन्म लेता है ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने 'मंदस्स' शब्द प्रयोग किया है । अर्थात् जो मंद बुद्धिवाला है, वह संसार में परिभ्रमण करता है । भेद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'अवियाणओ' शब्द का प्रयोग किया है । अर्थात् मंद बुद्धिवाला वह है, जो जीव-अजीव आदि तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है । इन्हें आगमिक भाषा में बाल भी कहते हैं । क्योंकि प्रायः बालक का ज्ञान अधिक विकसित न होने से वह अपने जीवन की समस्याओं को हल करने में तथा अपना हिताहित सोचने में असमर्थ रहता है । इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी तत्त्व ज्ञान से रहित होने के कारण अपनी आत्मा का हिताहित नहीं समझ पाता और इसी कारण विषय-वासना में आसक्त हो कर संसार बढ़ाता है । इसी अपेक्षा से अज्ञानी व्यक्ति को बाल कहा गया है । बालक के जीवन में व्यवहारिक ज्ञान की कमी है; तो इसमें आध्यात्मिक ज्ञान का विकास नहीं हो पाया है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति सम्यग् ज्ञान रहित है, वही संसार में परिभ्रमण करता है ।

कुछ व्यक्तियों का कथन है कि- हम देखते हैं कि जो व्यक्ति तत्त्व ज्ञान से युक्त हैं, वे भी उक्त उत्पत्ति स्थानों में किसी एक उत्पत्ति स्थान में जन्म ग्रहण करते हैं । अनेक साधु संयम का परिपालन करते हुए भी देवगति का आयुष्य बांधते हैं और मनुष्य का आयुष्य भोग कर उपपात योनि में जन्मते हैं और स्वर्ग का आयुष्य पूरा करके फिर से गर्भज योनि में जन्मते हैं । इससे यह कहना कहां तक उचित है कि मंद बुद्धिवाला अतत्वज्ञ व्यक्ति ही इन उत्पत्ति स्थानों में जन्म लेता है ?

प्रस्तुत सूत्र में जो कहा गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से कहा गया है और वह

अपेक्षा है–संसार परिभ्रमण की । यह ठीक है कि- सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं साधु भी उपपात, गर्भज आदि जन्मों को ग्रहण करते हैं । परन्तु जब से उन्हें तत्त्व ज्ञान हो जाता है तब से वे संसार परिभ्रमणको बढ़ाते नहीं हैं । यह सत्य है कि तत्त्वज्ञ जन्म लेते भी हैं । परन्तु तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञके जन्म लेने में अंतर इतना ही है कि एक का संसार परिमित है और दूसरे का अपरिमित । जब से आत्मा ने सम्यक्त्वका संस्पर्श कर लिया; तब से उसे परिमित संसारी कहा है, संसार का छोर याने किनारा उसके सामने आ गया है । यह ठीक है कि उसे पार करके अपने लक्ष्य स्थान तक पहुंचने में उसे कुछ समय लग सकता है और इसके लिए वह अनेक उत्पत्ति स्थानों में जन्म भी ग्रहण कर सकता है । परन्तु उसका जन्म ग्रहण करना, संसार वृद्धिका नहीं, परन्तु संसारको घटानेका, कम करने का ही कारण है ।

इसके विपरीत अतत्त्वज्ञ व्यक्ति का संसार अपरिमित है । उसके सामने अभी तक कोई स्पष्ट मार्ग नहीं है, जिस पर गति करके वह किनारेको पा सके । अभी तक उसे अपने लक्ष्य स्थान एवं किनारे का भी ज्ञान नहीं है । इस लिए उस का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक कदम एवं प्रत्यके जन्म संसारको बढ़ाने वाला है, जन्म-मरण के प्रवाहको प्रवाहमान रखने वाला है । तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ में रहे हुए इसी अंतर को सामने रखकर प्रस्तुत सूत्रमें कहा गया है कि जो मंद है, अतत्त्वज्ञ है, वही संसार परिभ्रमणको बढ़ाता है, बार-बार इन उत्पत्ति स्थानों में जन्म-मरण करता है ।

इस परिभ्रमण से बचनेके लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे करेंगे...

I सूत्र ॥ 3 ॥ ॥ ५१ ॥

निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं, सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ॥ ५१ ॥

II संस्कृत-छाया :

निध्याय, प्रतिलिख्य, प्रत्येकं परिनिर्वाणं, सर्वेषां प्राणिनां, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्त्वानाम्, असातं अपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखं इति ब्रवीमि । त्रस्यन्ति प्राणिनः प्रदिक्षु दिक्षु च ॥ ५१ ॥

III शब्दार्थ :

निज्झाइत्ता–चिन्तन करके । **पडिलेहित्ता**–देखकर । **पत्तेयं**–प्रत्येक जीव। **परिनिव्वाणं**–सुख के इच्छुक हैं । **सव्वेसिं**–सर्व । **पाणाणं**–प्राणियों को । **सव्वेसिं भूयाणं**–

सर्व भूतों को । **सव्वेसिं जीवाणं**-सर्व जीवों को । **सव्वेसिं सत्ताणं**-सर्व सत्त्वों को । **अस्सायं**-असाता । **अपरिनिव्वाणं**-अशांति । **महब्भयं**-महाभय है । **दुक्खं**-दुःख रूप है । **त्तिबेमि**-इस प्रकार मैं कहता हूं । **दिसासु**-दिशाओं में । **य**-और । **पदिसो**-विदिशाओं में । **पाणा**-यह प्राणी। **तसंति**-त्रास को प्राप्त करतें हैं ।

IV सूत्रार्थ :

विचार कर एवं देखकर, हर एक जीव अपना अपना सुख भुगततें हैं... सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव एवं सभी सत्त्व... को असाता- दुःख एवं अपरिनिर्वाण महाभय तथा दुःख है... ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हुं... और जीवों एक दिशासे अन्य दिशाओंमें त्रास पातें हैं... ॥ ५१ ॥

V टीका-अनुवाद :

इस प्रकार यह आबालगोपाल प्रसिद्ध त्रसकाय जीवोंको मनसे शोच-विचार कर एवं आंखोसे देखकर ऐसा लगता है, कि- सभी जीवों अपने अपने परिनिर्वाण स्वरूप सुखको चाहतें हैं... अन्य जीवके सुखको अन्य जीव नहि भुगतता... और यह बात सभी जीवोंमें एक समान हि लागु पडती है... वह इस प्रकार-

१. सभी प्राणी - बेइंद्रिय तेइंद्रिय एवं चउरिंद्रिय जीव...

२. सभी भूत = प्रत्येक एवं साधारण तथा सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त वनस्पतिकाय...

3. सभी जीव- गर्भज एवं संमूर्च्छिम पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य और देव तथा नारक...

४. सभी सत्त्व- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय तथा वायुकाव जीव...

यहां प्राणी - भूत - जीव और सत्त्व यह चारों शब्द, जीवके हि वाचक है, तो भी उपर कहे गये विधानसे संसारी जीवों के चार प्रकार लिखे गये हैं... कहा भी है कि-

दो, ती, चार इंद्रियवाले जीव...	-	प्राणी...
सभी प्रकारके वनस्पतिकाय...	-	भूत...
पंचेंद्रिय जीव	-	जीव...
पृथ्वी, पाणी, अग्नि एवं वायुजीव	-	सत्त्व... कहे गये है...

अथवा तो शब्दके व्यत्पत्ति-अर्थको ग्रहण करनेवाले समभिरूढ-नयके मतसे जो भेद है वह कहतें हैं...

१.	सतत प्राणोंको धारण करने से	प्राणी...
२.	तीनों कालमें विद्यमान होनेसे	भूत...
३.	तीनों कालमें जीवन धारण करनेसे	जीव...
४.	हंमेशां विद्यमान होनेसे	सत्त्व...

इस प्रकार चिंतन करके एवं देखकरके जानियेगा कि- सभी जीवोंको अपरिनिर्वाण स्वरूप असाता हि महाभय है और दुःख है.. जो पीडा दे वह दुःख... असाता-वेदनीयकर्मका विपाक-फल वह असाता... चारों और से परिनिर्वाण = सुख न हो वह अपरिनिर्वाण... अर्थात् चारों और से शारीरिक एवं मानसिक पीडा... महान् = सबसे बडा भय वह महाभय- कि- जिससे बडा भय जीवको और कोइ नहिं है... इस प्रकार- इस विश्वमें सभी संसारी जीव शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे पीडित है, यह बात परमात्मासे जानकर, मैं आपको कहता हूं....

मैं कहता हूं कि- असाता आदि विशेषणवाले दुःखोंसे जिनके प्राण उद्वेग = त्रास पातें हैं ऐसे जीव = प्राणी त्रास पाकर प्रज्ञापक - अपेक्षासे एक दिशा (जन्म) से मरण प्राप्त करके अन्य पूर्व आदि दिशाओंमें उत्पन्न होतें (जन्म लेतें) हैं... ऐसा कोइ जीव नहिं है कि- जो त्रास पाकर एक दिशासे अन्य शेष सभी दिशाओंमें धुमता न हो... मकडी (करोडीया) जिस प्रकार चारों औरसे भय प्राप्त डरके कारणसे, आत्म-संरक्षणके लिये जाला बनाकरके सुरक्षित रहना चाहता हैं...

भाव दिशा (नरक आदि १८ भाव दिशा) भी कोइ ऐसी नहिं है कि- जहां रहा हुआ जंतु त्रास पाता न हो... नरक आदि चारों गतिमें रहे हुए सभी जीव, शारीरिक एवं मानसिक दुःखोंसे त्रास पाकर पीडा पाते हुए मरतें हैं...

इस प्रकार सभी दिशा और विदिशाओंमें त्रस जीव हैं... और वे दिशा और विदिशाओंमें त्रास पातें रहतें हैं... क्योंकि- त्रसजीवोंके आरंभ करनेवाले **मनुष्य** त्रस जीवोंका वध करतें हैं...

प्रश्न- ऐसा क्या कारण है ? कि- मनुष्य, त्रस जीवों का वध करे ? इस प्रश्न का उत्तर, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

संसार में प्रत्येक प्राणी सुखाभिलाषी है, दुःख से बचना चाहता है । फिर भी अपने कृत कर्मके अनुसार सुख-दुःखका स्वयं उपभोक्ता है । दुनिया में कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो एक के सुख-दुःख को दूसरा व्यक्ति भोग सके । सभी प्राणी अपने कृत कर्मके अनुरूप ही सुख-दुःख का संवेदन करते हैं । परन्तु अंतर इतना ही है कि सुख संवेदन की अभिलाषा सबको रहती है । **सुख** सभी प्राणियोंको प्रिय लगता है, आनन्द देनेवाला प्रतीत होता है, और

दुःख कटु प्रतीत होता है । इस लिए दुनिया का कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, वह दुःख से घबराता है, भयभीत होता है । फिर भी प्राणी दुःखसे संतप्त एवं संत्रस्त होते हैं । सभी दिशा-विदिशाओंमें ऐसा कोई स्थान नहीं, जहां उन्हें दुःख का संवेदन न होता हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व सामान्यतः जीव के संसूचक हैं । निरन्तर प्राण के धारक होने के कारण प्राण, तीनों काल में रहने के कारण भूत, तीनों काल में जीवन युक्त होने से जीव और पर्यायों का परिवर्तन होने पर भी त्रिकालमें आत्मद्रव्य की सत्ता में अंतर नहीं आता, इस दृष्टि से सत्त्व कहलाता है इस अपेक्षा से सभी शब्द जीव के ही परिचायक हैं । इस तरह समभिरूढनय की अपेक्षा से इनमें भेद परिलक्षित होता है ।

इन सबमें थोड़ा भेद भी है, वह यह है-**प्राण** से तीन विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी लिए हैं, **भूत** से वनस्पतिकायिक जीवों को लिया जाता है, **जीव** से पञ्चेन्द्रिय देव, नारक, तिर्यञ्च एवं मनुष्यों का ग्रहण किया जाता है और **सत्त्व** से पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को लिया जाता है ।

"परिनिर्वाण" शब्द का अर्थ सुख है, इस दृष्टि से अपरिनिर्वाण का अर्थ दुःख होता है । और दिशा-विदिशा से द्रव्य और भाव उभय दिशाओं का ग्रहण करना चाहिए ।

इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुःख नहीं चाहता । फिर भी विभिन्न दुःखोंका संवेदन करता है । इसका कारण यह है कि वह विविध आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर कर्म बन्धनसे आबद्ध होकर दुःखोंका संवेदन करता है । परन्तु जीव आरम्भ-समारम्भ-हिंसा के कार्य में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसका कारण, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ५२ ॥

तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावंति । संति पाणा पुढो सिया ॥ ५२ ॥

II संस्कृत-छाया :

तत्र तत्र पृथक् पश्य, आतुराः परितापयन्ति, सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः ॥ ५२ ॥

III शब्दार्थ :

तत्थ-तत्थ–उन-उन कारणों में । **पुढो**–विभिन्न प्रयोजनों के लिए । **पास**–हे शिष्य ! तू देख । **आतुरा**–विषयों में आतुर-अस्वस्थ मन वाले जीव । **परितावंति**–अन्य जीवों को परिताप देते हैं-दुःखों से पीड़ित करते हैं, किन्तु । **पाणा**–प्राणी । **पुढो**–पृथक्-पृथक् । **सिया**–पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित । **संति**–विद्यमान हैं ।

IV सूत्रार्थ :

उन उन स्थानोमें उत्पन्न हुए कारणोंसे हे शिष्य ! देखो... आतुर लोक उन्हें पीडा देतें हैं, विविध जीव पृथ्वीकाय आदिके आश्रय लेकर रहे हुए हैं... ॥ ५२ ॥

V टीका-अनुवाद :

पूजा, चमडा, रुधिर आदि विविध प्रयोजन (कारण) उत्पन्न होनेसे हे शिष्य ! देखो मांसभक्षण आदिमें आसक्त अस्वस्थ मनवाले आरंभशील मनुष्य विविध प्रकारकी वेदना = पीडा उत्पन्न करनेके द्वारा अथवा तो जीवोंके वधके द्वारा त्रसजीवोंको संताप (पीडा) देतें हैं... यावत् वध करतें हैं... पृथ्वीकाय आदिका आश्रय लेकर रहे हुए विविध बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय जीव सभी जगह रहे हुए है... यह बात जानकर, मनुष्य को निर्दोष अनुष्ठानवाला होना = बनना चाहिये, यह इस सूत्रका सार है...

अन्य मतवाले तो कुछ और बोलतें हैं और कुछ और ही करते हैं, यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

भारतीय चिन्तन धारा के प्रायः सभी चिन्तकों ने, विचारकों ने, हिंसा को पाप माना है, और त्याज्य भी कहा है । फिर भी हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि जब हिंसा दोष युक्त है, तो फिर अनेक जीव उसमें प्रवृत्त क्यों होते हैं ? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि विषय-वासना में आतुर बना व्यक्ति हिंसा के कार्य में प्रवृत्त होता है ।

हिंसा में प्रवृत्ति के लिए सूत्रकार ने "आतुर" शब्द का प्रयोग किया है । वस्तुतः आतुरता-अधीरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है । जीवन व्यवहार में भी हम देखते हैं कि आतुरता के कारण अनेकों काम बिगड़ जाते हैं । क्योंकि जब जीवन में किसी कार्य के लिए आतुरता, अधीरता या विवशता होती है, तो वह व्यक्ति उस समय अपने हिताहित को भूल जाता है । परिणाम स्वरूप बाद में काम बिगड़ जाता है और केवल पश्चाताप करना ही अवशेष रह जाता है । इसलिए महापुरूषों का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि कार्य करने के पूर्व खूब गहराई से सोच-विचार लेना चाहिए और धीरता के साथ काम करना चाहिए । जैसे व्यवहारिक कार्य के लिए धीरता आवश्यक है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना के लिए भी धीरता आवश्यक है ।

इससे स्पष्ट हो गया कि आतुरता जीवन का बहुत बड़ा दोष है । आतुर व्यक्ति जीवन का एवं प्राणियों का हिताहित नहीं देखता । वह तो अपना प्रयोजन पूरा करने की चिन्ता में

रहता है । भले ही, उसमें अनेक जीवों का नाश हो या उन्हें परिताप हो; वह यह नहीं देखता। क्योंकि- आतरता में उसकी दृष्टि धुंधली हो जाती है । अपने मानसिक विषय-वासना के अतिरिक्त उसके सामने कुछ रहता ही नहीं । इसी अपेक्षा से कहा गया कि विषय-वासना में आतुर व्यक्ति त्रस जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । और पृथ्वी; पानी, वायु आदि के आश्रय में रहे हुए विभिन्न जीवों को विभिन्न प्रकार से परिताप देते हैं । अतः हिंसा में प्रवृत्त होने का कारण आतुरता एवं वैषयिक मनोभावना ही है, ऐसा समझना चाहिए ।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि- आतुरता हिंसा का कारण है । इसलिए मुमुक्षु पुरुष को आतुरता का त्याग करके हिंसा से दूर रहना चाहिए । उसे प्रत्येक कार्य धीरता के साथ विवेक एवं यतनापूर्वक करना चाहिए ।

इस संबन्ध में अन्य मतवालों की आचरणा का स्वरूप, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ५३ ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति, एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकाय-सत्थं समारभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्ख पडिघायहेउं, से सयमेव तसकायसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अनगाराणं अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ ५३ ॥

II संस्कृत-छाया :

लज्जमाना पृथक् पश्य, अनगाराः वयं इति एके प्रवदन्तः, यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारम्भेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिंसन्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितव्यस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थं, जाति-मरण-मोचनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं, सः स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते, अन्यैः वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते, तं तस्य अहिताय, तं तस्य अबोधये, सः तं सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, श्रुत्वा भगवतः अनगाराणां अन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति - एषः खलु ग्रंथः, एषः खलु मोहः, एषः खलु मारः, एषः खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धः लोकः, यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारम्भेण त्रसकायशस्त्रं समारभमाणः

अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ॥ ५३ ॥

III शब्दार्थ :

लज्जमाणा–लज्जा पाते हुए । **पुढो**–पृथक्-पृथक् वादियों को । **पास**–हे शिष्य ! तू देख । **अणगारामोत्ति**–हम अनगार हैं । **एगे**–कोई कोई वादी । **पवयमाणा**–कहते हुए । **जमिणं**–जो यह प्रत्यक्ष । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **त्रसकायसमारंभेण**–त्रसकाय के समारंभ-हिंसा के निमित्त । **तसकाय सत्थं**–त्रसकाय शस्त्र का। **समारम्भमाणा**–समारम्भका प्रयोग करते हुए । **अण्णे**–अन्य । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के। **पाणे**–प्राणियों की । **विहिंसंति**–हिंसा करते हैं । **तत्थ खलु**–वहां निश्चय ही । **भगवया**–भगवान ने । **परिण्णा पवेइया**–परिज्ञा ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है । **इमस्स चेव जीवियस्स**–इस जीवन के निमित्त । **परिवंदण**–प्रशंसा के लिए । **माणण**–सम्मान के लिए । **पूयणाए**–पूजा के लिए । **जाइ-मरण-मोयणाए**–जन्म-मरण से छूटने के लिए । **दुक्खपडिघायहेउं**–दुःख प्रतिघात के लिए । **से**–वह । **सयमेव**–स्वयं । **तसकायसत्थं**–त्रसकाय शस्त्र का । **समारभइ**–समारंभ-हिंसा करता है । **वा**–अथवा । **अण्णेहिं**–दूसरों से । **तसकायसत्थं**–त्रसकाय शस्त्र का । **समारम्भावेइ**–समारम्भ कराता है । **वा**–अथवा । **अण्णे**–अन्य । **तसकायसत्थं**–त्रसकाय शस्त्र द्वारा । **समारम्भमाणे**–समारम्भ करनेवालों की । **समणुजाणइ**–अनुमोदन करता है । **तं**–वह त्रसकाय का आरम्भ । **से**–उसको । **अहियाए**–अहित के लिए है । **तं**–वह-आरम्भ । **से**–उसको। **अबोहियाए**–अबोधि के लिए है । **से**–वह। **तं**–उस आरम्भ के फल के । **संबुज्झमाणे**–संबोध को प्राप्त होता हुआ । **आयाणीयं**–आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि विषय में । **समुट्ठाय**–सावधान होकर । **सोच्चा**–सुनकर । **भगवओ**–भगवान वा । **अणगाराणं**–अनगारों के । **अंतीए**–समीप । **इहं**–इस संसार में । **एगेसिं**–किसी-किसी जीव को । **णायं**–विदित । **भवति**–होता है । **एस खलु**–निश्चय ही यह आरम्भ । **गंथे**–आठ कर्मों की ग्रन्थी रूप है । **एस खलु**–यह आरंभ । **मोहे**–मोह अज्ञान रूप है । **एस खलु**–यह आरंभ । **मारे**–मृत्यु रूप है । **एस खलु**–यह आरंभ । **णरए**–नरक रूप हैं । **इच्चत्थं**–इस प्रकार अर्थादि में । **गड्ढिए**–मूर्च्छित है । **लोए**–लोक-प्राणि समुदाय । **जमिणं**–जिस कारण से । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के। **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **तसकाय समारम्भेणं**–त्रसकाय के समारंभ के निमित्त । **तसकाय सत्थं**–त्रसकाय शस्त्र का । **समारम्भमाणे**–समारंभ करता हुआ । **अण्णे**–अन्य । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के । **पाणे**–प्राणियों की । **विहिंसति**–विविध प्रकार से हिंसा करता है ।

IV सूत्रार्थ :

लज्जा पानेवाले इन लोगोंको देखो ! हम अणगार हैं ऐसा कहनेवाले विविध प्रकारके

शस्त्रोंसे त्रसकायके समारंभके द्वारा त्रसकायशस्त्रको आरंभ करनेवाले अन्य अनेक प्रकारके प्राणीओंका वध करतें हैं... इस विषयमें निश्चित हि परमात्माने परिज्ञा कही है, इस तुच्छ जीवितव्यके वंदन, मानन एवं पूजनके लिये, जन्म-मरण से छुटनेके लिये और दुःखोंके विनाशके लिये वह स्वयं हि त्रसकायशस्त्रका आरंभ करता है, अन्योंके द्वारा त्रसकायशस्त्रका समारंभ करवाता है, और त्रसकायशस्त्रका समारंभ करनेवाले अन्यका अनुमोदन करता है... किंतु वह समारंभ उनके अहित एवं अबोधिके लिये होता है... इस समारंभको जाननेवाला सम्यग्दर्शनादि चारित्रको लेकर और परमातमा अथवा साधुओंके मुखसे सुनकर यह जाना-समझा है कि- यह समारंभ निश्चित हि ग्रंथ है, मोह है, मार है और नरक है... और इस समारंभमें आसक्त लोग, विविध प्रकारके शस्त्रोंसे त्रसकायके समारंभके द्वारा त्रसकायशस्त्रका समारंभ करनेवाले, अन्य अनेक प्रकारके प्राणीओंका वध करतें हैं ॥ ५३ ॥

V टीका-अनुवाद :

इस सूत्रकी व्याख्या पूर्वकी तरह हि है, अतः वहांसे समझीएगा... अब जो कोइ **मनुष्य** जिस कीसी कारणको लेकर त्रसजीवोंका वध करता है, वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगसे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या, पृथ्वी और अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके हैं । यहां इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत सूत्र में अध्यात्म योग साधना की ओर भी एक संकेत है । साधक को अध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मशक्ति को विकसित करना चाहिए । आध्यात्मिक साधना का अर्थ है-योगों को स्थिर करना या सावद्य कार्यों से हटाकर साधना में स्थिर होना । इसका स्पष्ट अर्थ है-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस आदि समस्त प्राणी जगत के साथ समता एवं मैत्री भाव स्थापित करके, सर्व जीवों की हिंसा से त्रिकरण एवं त्रियोग से निवृत्त होना, इसी को **अध्यात्म योग** कहा है ।

यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि- प्रमादी जीव, आतुरता के वश तथा अपने विषयसुखों को साधनेके लिए या अपने जीवनको सुमखय बनाने के लिए हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । किन्तु यहां इसके अतिरिक्त भी हिंसामें प्रवृत्त होने के और भी कई कारण हैं । अतः इन कारणों का स्वरूप, सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ५४ ॥

से बेमि अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए, पित्ताए, वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए,

दंताए, दाढाए, नहाए, ण्हारुणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए, अट्ठाए, अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति ॥ ५४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि- अप्येके अर्चायै घ्नन्ति, अप्येके अजिनाय घ्नन्ति (व्यापदयन्ति), अप्येके मांसाय घ्नन्ति, अप्येके शोणिताय घ्नन्ति, एवं हृदयाय, पित्ताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय, वालाय, शृङ्गाय, विषाणाय, दन्ताय, दंष्ट्रायै, नखाय, स्नायवे, अस्थ्ने, अस्थिमिज्जाय, अर्थाय, अनर्थाय, अप्येके हिंसितवान् अस्मान् इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिनस्ति अस्मान् इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसिष्यन्ति अस्मान् इति वा घ्नन्ति ॥ ५४ ॥

III शब्दार्थ :

से-मैं वह । **बेमि**-कहता हूं । **अप्पेगे**-कोई एक लोग। **अच्चाए**-अर्चना-देवी देवता की पूजा के लिए । **हणंति**-जीवों की हिंसा करते हैं । **अप्पेगे**-कोई एक । **अजिणाए**-चर्म के लिए । **वहंति**-जीवों का वध करते हैं । **अप्पेगे**-कोई एक । **मंसाए वहंति**-मांस के लिए प्राणियों को मारते हैं । **उप्पेगे**-कोई एक । **सोणियाए वहंति**-खून-शोणित के लिए वध करते हैं । एवं इसी प्रकार, कोई । **हिययाए**-हृदय के लिए । **पित्ताए**-पित्त के लिए । **वसाए**-चर्बी के लिए । **पिच्छाए**-पिच्छ-पंख के लिए । **पुच्छाए**-पूच्छ के लिए । **बालाए**-केशों के लिए । **सिंगाए**-शृंग-सींगो के लिए । **विसाणाए**-विषाण के लिए । **दंताए**-दांतों के लिए । **दाढाए**-दाढों के लिए । **णहाए**-नाखुनों के लिए । **ण्हारूणीए**-स्नायु के लिए । **अट्ठिए**-अस्थिओं के लिए । **अट्ठिमिंज्जाए**-अस्थि और मज्जा के लिए । **अट्ठाए**-किसी प्रयोजन के लिए । **अणट्ठाए**-निष्प्रयोजन ही । **अप्पेगे**-कोई एक । **हिंसिंसु मेत्ति वा**-इसने मेरे स्वजन स्नेहिजनों की हिंसा की है, ऐसा मानकर । **वहंति**-सिंह, सर्प आदि जन्तुओं की हिंसा करते हैं । **अप्पेगे**-कोई एक । **हिंसंति मेत्ति वा वहंति**-ये मुझे मारते हैं, ऐसा सोच कर सिंह-सर्प आदि का वध करते हैं । **अप्पेगे**-कोई एक । **हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति**-यह प्राणी, भविष्य में मुझे मारेगें, ऐसा विचार करके सिंह-सर्प आदि प्राणियों के प्राणों का नाश करते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

मैं कहता हूं कि- कितनेक लोग पूजा (देह-दान) के लिये त्रसकायका वध करतें हैं कितनेक लोग चमडेके लिये वध करतें हैं, कितनेक लोग मांसके लिये वध करतें हैं, कितनेक लोग रुधिरके लिये वध करतें हैं इस प्रकार हृदय, पित्त, चरबी, पिंछे, पुच्छ, वाल, शृंग, विषाण, दांत, दाढा, नख, स्नायु, हड्डी, हड्डीमिंजके लिये वध करतें हैं, कितनेक लोग सकारण और कितनेक लोग अकारण हि वध करतें हैं... कितनेक लोग "हमको मारा" इस कारणसे वध करतें हैं, कितनेक लोग "हमको मारतें हैं" इस कारणसे वध करतें हैं और कितनेक लोग

"हमको मारेंगे" इस कारणसे वध करतें हैं... ॥ ५४ ॥

V टीका-अनुवाद :

वह मैं **सुधर्मास्वामीजी हे जंबू** ! तुम्हें कहता हूं कि- विविध इच्छासे व्याकुल लोग अर्चा याने देहके लिये त्रसजीवका वध करतें हैं... (आहार, अलंकार आदि प्रकारोंसे जिसकी अर्चा=पूजा की जाय वह अर्चा याने देह = शरीर...) वह इस प्रकार... विद्या और मंत्रकी साधना करनेवाले बत्तीस लक्षणवाले अक्षत-अंगवाले एवं सांगोपांग शरीरवाले पुरुषका वध करके विद्या या मंत्रको सिद्ध करतें हैं, अथवा तो दुर्गा आदि देवीओंके आगे बलिदान देतें हैं... अथवा तो जिस किसीने विष (जहर) खाया हो उसके जहरको उतारनेके लिये हाथीको मार कर उसके शरीरमें रखतें हैं, जीससे उसका जहर उतर जाय...

तथा अजिन याने चमडेकी खालके लिये- चित्ता, वाघ आदिको मारतें हैं... इसी प्रकार मांस, रुधिर, हृदय, पित्त, वसा, पिच्छ, पुच्छ, वाल, शृंग, विषाण, दांत, दाढ, नख, स्नायु, अस्थि (हड्डी) और, अस्थिमिंज- आदिके लिये भी त्रसजीवोंका वध करतें हैं... वे इस प्रकार...

१. मांसके लिये- सूअर (भूंड) आदिका वध करतें हैं...
२. त्रिशूलके आलेखनके लिये रुधिर लेतें हैं...
3. साधक लोग हृदय लेकर मंथन करतें हैं...
४. पित्त के लिये मोर आदिका वध करतें हैं...
५. वसा = (मेद-मज्जा) चरबीके लिये वाघ मगर वराह आदि
६. पिच्छे के लिये मोर गीदड आदि...
७. पुच्छ के लिये रोझ आदि...
८. वाल के लिये चमरी आदि...
९. शृंगके लिये रुरु (हरिण) गेंडा आदि उनके शृंग पवित्र है ऐस मानकर यज्ञवाले लेतें हैं...
१०. विषाण के लिये हाथी आदि...
११. दांतके लिये शृगाल (गीदड-लोमडी) आदि... उनके दांत तिमिरको नाश करनेवाले होतें हैं... इसलिये-
१२. दंष्ट्रा के लिये - वराह आदि...
१3. नख के लिये वाघ आदि...
१४. स्नायुके लिये गाय, महिष (भेंस) आदि...

१५. अस्थि (हड्डी) के लिये शंख, शुक्ति आदि...

१६. अस्थिमिंज - महिष (पाडा) वराह आदि...

इस प्रकार कितनेक लोग, कोइ न कोइ प्रयोजनके कारणको लेकर, त्रस जीवोंका वध करतें हैं और कितनेक लोग गिरगिट (काचीडो) गृहकोकिला (गिरोली-छीपकली) आदि त्रस जीवोंको विना कारण हि मारतें हैं...

कितनेक लोग "यह सिंह, साप, दुश्मनने हमारे स्वजनको मारा था" ऐसा शोचकर उन्हे मारतें हैं अथवा तो मुझे पीडा दी थी ऐसा शोचकर उन्हे मारतें हैं...

कितनेक लोग "यह सिंह, साप आदि अभी हमको खा रहा है" ऐसा शोचकर उनहें मारतें हैं... और कितनेक लोग "यह हमको मारेंगे" ऐसा शोचकर साप आदि त्रसजीवोंका वध करतें हैं...

इस प्रकार अनेक प्रयोजनोसे त्रसजीवोंका संभवित **वध** कहकर, अब इस उद्देशकका उपसंहार करने के लिए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

VI सूत्रसार :

मनुष्य जब विकृत दृष्टिवाला होता है; तो वह अपने वैषयिक सुखों को साधने के लिए विभिन्न जीवोंकी अनेक तरह से हिंसा करता है । अपनी मनमानी करने में उसे, दूसरे प्राणियों के प्राणों की कोई चिन्ता एवं परवाह नहीं होती । अपनी प्रसन्नता, वैभवशीलता व्यक्त करने के लिए, मनोरंजन, ऐश्वर्य एवं रसास्वादके लिए **अबुध व्यक्ति** हज़ारों-लाखों प्राणियों का वध करते हुए ज़रा भी नहीं हिचकिचाता । कुछ व्यक्ति धन कमानेके लिए पशुओं का वध करते हैं, तो कुछ व्यक्ति अपने शरीरकी शोभा बढ़ाने के लिए अपने पेटको अनेक पशुओंका कब्रिस्तान ही बना डालते हैं । इस प्रकार अज्ञ लोगोंके, हिंसा करने के अनेक कारणों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है ।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- कुछ लोग अर्चा के लिए प्राणियों का वध करते हैं। **अर्चा** शब्द का पूजा और शरीर ये दो अर्थ होते हैं । विद्या-मन्त्र आदि साधने हेतु या देवी-देवता को प्रसन्न करने के बहाने ३२ लक्षणों युक्त पुरुष या पशु का वध करते हैं । तथा शरीर को शृंगारनेके लिए अनेक जीवोंको मारते हैं । इस प्रकार वे पूजा एवं शरीर शृंगार दोनों के लिए अनेक प्रकारके पशुओं की हिंसा करते हैं ।

इसके अतिरिक्त चमड़े के लिए अनेक प्राणियों का वध किया जाता है । और उस मृग चर्म एवं सिंह के चर्म का कई सन्यासी भी आसन आदि के लिए, उपयोग करते हैं,

इत्यादि... इसी तरह मांस एवं खूनके लिए बकरे, मृग, शूकर आदिका, पित्त एवं पंख आदि के लिए मयूर, तीतर मुर्गा आदि पक्षियों का, चर्बी के लिए व्याघ्र, शूकर, मछली, आदि का, पूंछके लिए चमरी गाय का; शृंगके लिए मृग, बारहसींगा आदि का, विषाण के लिए या सूअर का। दांतके लिए हाथी का, दाढ़ के लिए वराह आदिका, स्नायु के लिए गो-महिषी आदिका अस्थि के लिए शंख, छीप आदिका, अस्थि-मज्जा के लिए सूअर आदिका वध करते हैं । अनेक लोग अपने प्रयोजन से पशु-पक्षियों का वध करते हैं और कुछ एक व्यक्ति निष्प्रयोजन ही अर्थात् केवल कुतूहल के लिए, मनोरंज के लिए अनेक प्राणियों की जान ले लेते हैं । कुछ व्यक्ति सिंह-सर्प आदि को इसलिए मार देते हैं कि- इन्होंने मेरे स्वजन-स्नेहिजनों को मारा था। कुछ लोग उन्हें इसलिए मार देते हैं कि- यह विषाक्त जन्तु मुझे मारते हैं और कुछ व्यक्ति इस संदेह से ही उनका प्राण ले लेते हैं कि- यह जन्तु भविष्य में मुझे मारेंगें । इस प्रकार अनेक संकल्प-विकल्प एवं अज्ञानता के वश व्यक्ति, त्रस जीवों की हिंसामें प्रवृत्त होते हैं । और उससे प्रगाढ़ कर्म बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं । इसलिए विवेकशील पुरुषको इन हिंसा जन्य कार्यों से दूर रहना चाहिए। अतः हिंसा के त्यागी साधुओं का स्वरूप, अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ५५ ॥

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, नेवऽण्णेहिं तसकायसत्थं समारंभावेज्जा, नेवऽण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ५५ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतस्मिन् शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति, एतस्मिन् शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति । तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं त्रसकायशस्त्रं समारभेत, नैवाऽन्यैः त्रसकायशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवाऽन्यान् त्रसकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीत । यस्यैते त्रसकायसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, सः खु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीति ॥ ५६ ॥

III शब्दार्थ :

एत्थ-इस त्रस काय के विषय में । **सत्थं**-शस्त्र का । **समारंभमाणस्स**-समारंभ करने वाले को । **इच्चेते**-यह सभी । **आरंभा**-समारंभ । **अपरिण्णाया भवंति**-अपरिज्ञात होते हैं । **एत्थ**-इस त्रसकाय के विषय में । **सत्थं**-शस्त्र का । **असमारम्भमाणस्स**-समारम्भ नहीं

करनेवाले को । **इच्चेते**-यह सभी । **आरम्भा**-आरम्भ । **परिण्णाया भवन्ति**-परिज्ञात होते हैं। **तं परिण्णाय**-उस आरम्भ को परिज्ञात करके । **मेहावी**-बुद्धिमान । **णेवसयं**-न स्वयं। **तसकाय सत्थं**-त्रसकाय शस्त्र का । **समारम्भेज्जा**-समारम्भ करे तथा । **तसकाय सत्थं**-त्रसकाय शस्त्र का । **समारम्भते**-समारंभ करने वाले । **अण्णे**-अन्य व्यक्ति का । **णेव**-नहीं। **समणुजाणेज्जा**-समर्थन करे । **जस्सेते**-जिसको यह । **तसकाय समारंभा**-त्रसकाय समारम्भ। **परिण्णाया भवंति**-परिज्ञात होते हैं । **से हु मुणी**-वह ही मुनी । **परिण्णाय कम्मे**-परिज्ञात कर्मा हैं । **त्तिबेमि**-ऐसा मैं कहता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

इस त्रसकायमें शस्त्रका समारंभ करनेवालेने इन आरंभोकी परिज्ञा नहि करी है, और इस त्रसकायमें शस्त्रका समारंभ नहि करनेवालेने इन सभी आरंभोकी परिज्ञा की है । त्रसकायके आरंभको जानकर मेधावी (बुद्धिवाला) स्वयं त्रसकायके शस्त्रका आरंभ न करें, अन्योंके द्वारा त्रसकाय-शस्त्रका समारंभ न करवाये... और त्रसकायशस्त्रका आरंभ करनेवाले अन्यकी अनुमोदना न करें... जिस कीसीने भी इन सभी त्रसकायके समारंभको पहचाना है वह हि मुनि परिज्ञातकर्मा है ॥ ५५ ॥

V टीका-अनुवाद :

इस सूत्रका भावानुवाद पूर्वकी तरह समझीयेगा... वह हि **मुनी** त्रसकायके समारंभसे विरत है, कि- जिसने पाप-कर्मकी परिज्ञा करके प्रत्याख्यान (त्याग) कीया है... **यह बात केवलज्ञानसे साक्षात् हुआ है सकल त्रिभुवनका स्वरूप जिन्हें ऐसे त्रिलोकबंधु परमात्माके मुखसे सुनकर मैं सुधर्मास्वामी हे जंबू ! तुम्हे कहता हूं...**

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या, दूसरे-तीसरे आदि उद्देशों के अन्तिम सूत्रवत् ही समझनी चाहिए । **'त्तिबेमि'** की व्याख्या भी पूर्ववत् ही समझें ।

॥ शस्त्रपरिज्ञायां षष्ठः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी**, एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे-तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान**

राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिये **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **"शिवमस्तु सर्वजगतः"**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - १ उद्देशक - ७

卐 वायुकाय 卐

छठा उद्देशक कहा अब सातवें उद्देशकका आरंभ करतें हैं... इस उद्देशकमें वायुकायका अधिकार है... वायुकाय आंखोसे दिखता नहिं है और उपभोग भी अल्प है, इसलिये मंदबुद्धिवाले जीवों को श्रद्धा होनी मुश्केल है, अतः उत्क्रमसे आये हुए वायुकायका स्वरूप, यथाक्रम अग्निकायके बाद कहनेके बजाय त्रसकायके बाद कहतें हैं...

इस संबंधसे आये हुए इस सातवे उद्देशकके उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार कहना चाहिये और वे नामनिष्पन्न निक्षेप तक पूर्ववत् समझीयेगा... नामनिष्पन्न निक्षेपमें वायु-उद्देशक पद है... अब वायुके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये कितनेक द्वारोंके अतिदेश (भलामण) के साथ निर्युक्तिकार कहतें हैं...

नि. १६४

पृथ्वीकायके अधिकारमें कहे गये सभी द्वार वायुकायमें भी समझीयेगा... किंतु- विधान (भेद) परिमाण, उपभोग, शस्त्र और लक्षण द्वारमें जो विशेष बात है वह कहतें हैं...

विधान (भेद) का स्वरूप कहतें हैं...

नि. १६५

वायुकायके जीवोंके मुख्य दो भेद हैं...

१. सूक्ष्म नामकर्मकि उदयसे सूक्ष्म वायुकाय जीव

२. बादर नामकर्मकि उदयसे बादर वायुकाय जीव

सूक्ष्म वायुकाय जीव संपूर्ण लोकमें, सभी खिडकीयां और दरवाजे बंध करनेसे घरमें भरे हुए धूमाडे की तरह रहे हुए है... और बादर वायुकायके पांच भेद हैं जो आगेकी गाथासे कह रहें हैं...

नि. १६६

१. उत्कलिका- थोडी देर रह रह कर जो पवन वाता है वह उत्कलिका-वात

२. मण्डलिका- वातोली = वायुकी आली = मंडल स्वरूप

3. गुंजा- जो पवन भंभाकी तरह गुंजता हुआ चलता है उस वायुको गुंजावात कहतें हैं

४. घनवात- हिम-बरफ के पटल = पडकी तरह रहा हुआ और पृथ्वी आदिके आधार स्वरूप जो अत्यंत घन वायु है वह **घनवात**...

५. शुद्धवात- "थोडा स्थिर" ऐसा शीतकालादिमें जो वायु होता है उसे शुद्धवात कहतें हैं...

तथा **पण्णवणा** सूत्रमें, जो पूर्व आदि दिशाके वायु कहे गये है, उन सभी का इन पांच प्रकारमें यथायोग्य अंतर्भाव होता है...

इस प्रकार बादर वायुकायके पांच भेद कहे, अब लक्षण द्वार कहतें हैं...

नि. १६७

जिस प्रकार देवका दिव्य शरीर आंखोसे नहिं देखे जाते फिर भी वे सचेतन हैं ऐसा हम मानतें हैं... और देव अपनी शक्ति-प्रभावसे ऐसे वैक्रिय रूपको धारण करतें हैं, कि- जो आंखोसे देख नहिं शकतें... और हम ऐसा भी नहिं कह शकतें कि वे नहिं है अथवा अचेतन हैं, बस ! इसी प्रकार वायु भी आंखोसे नहिं देखा जाता, फिर भी वह है और सचेतन है...

अथवा तो मनुष्य अंजनविद्या या मंत्रके प्रभावसे अद्रश्य होता है तब उसका अभाव नहिं होता, और वह अचेतन भी नहिं बनता... यही उपमा वायुमें भी समझ लीजीयेगा... और असत्-शब्द यहां अभाव सूचक नहिं है किंतु वायुमें आंखे देख शके ऐसा रूप नहिं है... इस अर्थको प्रगट करता है... परमाणु की तरह वायुका सूक्ष्म परिणाम होनेसे वायुको आंखें ग्रहण नहि कर शकती... किंतु वायु स्पर्श, रस एवं रूपवाला होता है, जब कि- अन्य मतवाले वायुको मात्र स्पर्शवाला हि मानतें हैं...

१. प्रयोग- वायु चेतनावाला है, क्योंकि- गाय, घोडे आदिकी तरह अन्यकी प्रेरणासे तिरछी एवं अनियमितगतिवाले हैं...

इस प्रयोग से यह निश्चित हुआ कि- घनवात, शुद्धवायु आदि भेदवाला वायु, जब तक शस्त्रसे उपहत न हो, तब तक वायु चेतनावाला **सचित्त** है, ऐसा जानीयेगा...

अब परिमाण द्वार कहतें हैं...

नि. १६८

बादर पर्याप्त वायुकाय - धनीकृत लोकाकाशके प्रतरके असंख्येय भागमें रहे हुए

प्रदेशोंकी राशि = संख्या प्रमाण है... और शेष तीन राशि अलग अलग असंख्य लोकाकाशके प्रदेश प्रमाण होतें हैं... वे इस प्रकार- पर्याप्त बादर अप्कायसे पर्याप्त बादर वायुकाय असंख्यगुण अधिक हैं... और अपर्याप्त बादर अप्कायसे अपर्याप्त बादर वायुकाय असंख्येय गुण अधिक है... तथा अपर्याप्त सूक्ष्म अप्कायसे अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय विशेषाधिक है... एवं पर्याप्त सूक्ष्म अप्कायसे पर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय भी विशेषाधिक हैं...

अब उपभोग द्वार कहतें हैं...

नि. १६९

व्यजन = पंखो, भस्त्रा = धमण, आध्मात = फुंकना, अभिधारण (हवा खाना) उत्सिंजन = फुत्कार (फुंक) और प्राणापान आदि... प्रकारसे मनुष्य वायुकायका उपभोग करता है...

अब शस्त्र द्वार कहतें हैं... और वे शस्त्र द्रव्य-भाव भेदसे दो प्रकारके होतें हैं...

नि. १७०

१. व्यजन पंखो, चामर, सुपडा, पत्ते, वस्त्र, खिडकीमें हवा खाना, गंध-चंदन, उशीर आदिके अग्नि - ज्वाला - ताप तथा प्रतिपक्ष वायु (शीतोष्णादि)... यहां प्रतिपक्षवायु स्वकायशस्त्र है... शेष परकायशस्त्र एवं उभयकायशस्त्र हैं, वे स्वयं विभागसे समझ लीजीयेगा...

भावशस्त्र- दुःष्ट मन-वचन एवं कायाकी चेष्ट स्वरूप असंयम हि भावशस्त्र है...

अब सकल निर्युक्तिका उपसंहार करतें हैं...

नि. १७१

पृथ्वीकायमें जो जो द्वार कहे गये हैं वे सभी द्वार वायुकायमें भी समझीयेगा... इस प्रकार यह वायुकाय उद्देशककी निर्युक्ति पूर्ण हुई... इस प्रकार यहां **नाम निष्पन्न निक्षेप** भी पूर्ण हुआ...

अब **सूत्रानुगम** में अस्खलित रीतसे पदोंका उच्चार करना चाहिये... और वह सूत्र इस प्रकार है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ५६ ॥

पहू एजस्स दुगुंछणाए ॥ ५६ ॥

II संस्कृत-छाया :

प्रभुः एजस्य जुगुप्सायाम् ॥ ५६ ॥

III शब्दार्थ :

एजस्स–वक्ष्यमाण गुणों वाला व्यक्ति वायुकाय के । **दुगुंछणाए**–आरम्भ का त्याग करने में । **पहू**–समर्थ होता है ।

IV सूत्रार्थ :

वायुकी जुगुप्सामें समर्थ है... ॥ ५६ ॥

V टीका-अनुवाद :

यहां छठ्ठे उद्देशकके अंतिम सूत्रमें त्रसकायका परिज्ञान एवं उसके आरंभका वर्जन (त्याग) हि मुनिपनेका कारण कहा गया है, यहां इस उद्देशकमें भी वायुकायका परिज्ञान और उसके आरंभका वर्जन हि मुनिपनेका कारण कहा जायेगा...

एज्-धातुका अर्थ है "कम्पन", कंपनशील होनेसे वायुको "एज" कहतें हैं... इस एज याने वायुकी जुगुप्सा करनेमें याने वायुके आसेवनका त्याग करनेमें यह मुनी समर्थ बनता है... अथवा (पाठांतर से) वायु अधिक होने पर हि केवल एक हि स्पर्शेंद्रियसे पहचाना जा शकता है, अतः संयमी मुनी हि वायुको जुगुप्सा याने श्रद्धान करनेमें समर्थ बनता है, अर्थात् वायुकायको जीव स्वरूप श्रद्धा (मान) करके उसके आरंभका त्याग करता है...

वायुकायके समारंभसे निवृत्त होनेमें जो समर्थ होता है, उस मुनीका स्वरूप अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

वायुकायिक जीवों की हिंसा, कर्म बन्ध का कारण है । अतः कर्म बन्ध से वही व्यक्ति बच सकता हैं कि- जो वायुकायकी हिंसा से निवृत्त होता है । इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वायुकायिक जीवों की हिंसा से कौन निवृत्त होता है ? इस प्रश्न का समाधान आगे के सूत्र में करेंगे । प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने संकेत मात्र किया है कि अगले सूत्रमें जिस व्यक्ति के गुणों का निर्देश किया जाने वाला है, उन गुणों से संपन्न व्यक्ति ही वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में समर्थ हैं ।

'एज' शब्द वायुकाय के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । और इस शब्द का प्रयोग वायुकाय को गति की अपेक्षा से हुआ है । क्योंकि 'एज' शब्द 'एजृ कम्पने' धातुसे बना है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है–"एजतीत्येजी वायुः कम्पनशीलत्वात्" । अर्थात् कम्पनशील होने के कारण वायुको 'एज' कहते हैं । और जुगुप्सा का अर्थ निवृत्ति है । इससे निष्कर्ष यह निकला कि- वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने में वह व्यक्ति समर्थ है, कि- जो साधु, सूत्रकार की

भाषा में आगे के सूत्रसे कहे जाने वाले गुणों से युक्त हो...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ५७ ॥

आयंकदंसी अहियंति नच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमण्णेसिं ॥ ५७ ॥

II संस्कृत-छाया :

आतङ्कदर्शी अहितं इति मत्वा (ज्ञात्वा), यः अध्यात्मं जानाति सः बहिः जानाति, यः बहिः जानाति सः अध्यात्मं जानाति, एतां तुलां अन्वेषयेत् ॥ ५७ ॥

III शब्दार्थ :

अहियंति-वायुकायिक जीवों की रक्षा वही कर सकता है, जो आरंभ को अहितकर । **णच्चा**-जानकर । **आयंकदंसी**-आतंकदर्शी-दुःखों का ज्ञाता है, द्रष्टा है । **जे**-जो । **अज्झत्थं**-आत्म स्थित-अपने सुख-दुःख को । **जाणइ**-जानता है । से-वह । **बहिआ**-अन्य प्राणियों के सुख-दुःख आदि को जानता है । **जे**-जो । **बहिया**-अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को । **जाणइ**-जानता है । **से**-वह । **अज्झत्थं जाणइ**-अपने सुख-दुःख को जानता है । **एवं**-इन दोनों को । **तुलं**-तुल्य । **अन्नेसि**-गवेषण करे अर्थात् जगत के अन्य जीवों को अपने समान जानकर उनकी रक्षा करे ।

IV सूत्रार्थ :

आतंकको देखनेवाला मुनी वायुकाय-समारंभ अहितकर है ऐसा जानकर... जो आत्माके अंदर देखता है वह बहार भी देखता है और जो बहारके पदार्थोको जानता है वह आत्माके अंदरके स्वरूपको भी जानता है, इस तुलनाकी गवेषणा (शोध) कीजीये ॥ ५७ ॥

V टीका-अनुवाद :

आतंक याने कष्टवाला जीवन... वह आतंक दो प्रकारका है...

१. शारीरिक २. मानसिक...

१. शारीरिक-आतंक = कांटे, क्षार, शस्त्र, गंडलूता आदिसे उत्पन्न हुआ शारीरिक आतंक...

२. मानसिक आतंक - प्रियका वियोग, अप्रियका संयोग, इच्छितकी अप्राप्ति, दरिद्रता, और मानसिक विकारोकी पीडा...

यह दोनो आतंक हि है, इस आतंक = पीडाको देखनेवाला मुनी यह जानता है कि- वायुकायके आरंभ की यदि निवृत्ति नहिं करुंगा तो यह आतंक मुझे भी हो शकता है... इस प्रकार वायुकायका समारंभ, आतंकका कारण हैं, इसलिये अहितकर है, ऐसा जानकर मुनी वायुकायके समारंभसे (निवृत्त होनेमें) निवर्त्तनेमें समर्थ होता है...

अथवा तो द्रव्य और भाव भेदसे आतंकके दो प्रकार है... वहां द्रव्य आतंकके विषयमें यह उदाहरण है...

जंबूद्वीप नामके द्वीपके भरत-क्षेत्रमें नगरके सभी गुणोसे समृद्ध राजगृह नामका नगर है... उस नगरमें गर्विष्ठ दुश्मनोंका मर्दन करनेवाला, भुवनमें फैले हुए प्रतापवाला और जीवाजीवादि तत्त्वको जाननेवाला जितशत्रु नामका राजा है... निरंतर संवेग रससे भावित अंतःकरणवाले इस राजाने एक बार धर्मघोष आचार्यके पास एक प्रमादी साधुको देखा... मनाइ करने पर भी बार बार अपराध करनेवाले उस प्रमादी साधु के हितके लिये और अन्य सभी साधुओंकी रक्षाके लिये आचार्यदेवकी अनुज्ञा = रजा लेकर राजाने अपने पुरुषोंके द्वारा, तेजाब आदि तीव्र और उत्कट द्रव्योंसे भरे हुए गड्ढे में क्षार डलवाया... और उसमें एक मनुष्यको डाला (फेंका), अब गोदोह मात्र समय (दो घडी) में मांस एवं रुधिर शीर्ण-विशीर्ण हुआ, मात्र हड्डी रह गइ, तब पूर्व संकेत अनुसार राजाकी आज्ञासे दो पुरुष वहां लाये गये, एक गृहस्थ वेषमें और दूसरा पाखंडी (साधु) वेषमें... पूर्वसे हि सिखाये हुए उन पुरुषोंको राजाने पुछा कि- इनका क्या अपराध है ? सिपाइ पुरुषोने कहा- आज्ञाका उल्लंघन करते हैं... यह पाखंडी कहे गये अपने आचारोंमें नहिं रहते... तब राजाने आदेश दिया कि- ''क्षारमें फेंकीये...'' क्षारमें फेंकनेसे गोदोह मात्र समयमें उन पुरुषोंका अस्थि मात्र हाडपिंजरको देखकर जुठे रोष से लाल आंखवाला राजा, शैक्ष = **नव दीक्षित** प्रमादी साधु को ध्यान (मन) में रखते हुए राजाने आचार्यको कहा कि- आपके यहां कोइ प्रमादी हो तो मैं उन्हे शिक्षा दुं... तब गुरुजी बोले कि- ना, कोइ प्रमादी नहिं है... यदि कोइ होगा तब कहेंगे...हां ! तब आप हमे कहियेगा... ऐसा कह कर जब राजा गये तब शैक्ष-साधुने आचार्यको कहा कि- अब मैं प्रमाद नहिं करुंगा... मैं आपके शरण आया हुं... यदि श्रद्धा-भावसे रहित ऐसा मेरा कोइ प्रमाद हो तब गुणोसे सुविहित हे आचार्यदेव! आप मुझे शिक्षा दीजीयेगा... आतंक भयसे उद्विग्न वह शैक्ष-साधु अब सदैव हि संयममें उद्युक्त हुआ... बुद्धिशाली राजाने कुछ समय बाद,आचार्यजी के साथ बात-विचारणां कर, अपने मनके जो भाव था, वह सभी साधुओके समक्ष आचार्यजी को कहा और क्षमा-याचना की.

इस प्रकार यहां सारांश यह है कि- द्रव्य आतंक (पीडा) को देखनेवाला **मनुष्य** अपने आत्माको पापारंभसे निवृत्त करता है, जिस प्रकार- धर्मघोष आचार्यका शिष्य...

भाव-आतंकदर्शी साधु नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव जन्ममें होनेवाले प्रियका वियोग,

आदि शारीरिक, मानसिक आतंक (पीडा) के भयसे वायुकायके आरंभमें प्रवृत्त नहि होता है... किंतु यह वायुकायका समारंभ अहितकर है ऐसा मानकर आरंभ-समारंभका त्याग करता है... इसीलिये कहा है कि- आतंकदर्शी मुनि विमल-विवेकसे वायुकायके समारंभकी जुगुप्सा (त्याग) में समर्थ होता है... हित की प्राप्ति एवं अहितके परिहारवाले अनुष्ठानकी प्रवृत्तिमें अन्य मुनीकी तरह यह मुनी भी समर्थ होता है...

अब वायुकायके समारंभकी निवृत्तिका कारण कहतें हैं... जो मुनी आत्माके सुख-दुःखोंको जानता है वह मुनी बहारके वायुकाय आदि प्राणीओंको भी जानता है... वह इस प्रकार- यह सुखको चाहनेवाला जीव दुःखसे उद्वेग पाता (उभगता) है, जिस प्रकार- मुझे असाता-कर्मोके उदयसे आया हुआ अशुभ फल स्वरूप दुःख कि- जो स्पष्ट अनुभव सिद्धि है... इस प्रकार जो साता-वेदनीय कर्मोके उदयसे अपने आत्मामें सुख स्वरूप शुभफलको जानता है वह हि अध्यात्मको जानता है, इसी प्रकार जो अध्यात्मको जानता है, वह हि बहार रहे हुए वायुकाय आदि प्राणीओंके विविध प्रकारके कर्मोसे उत्पन्न हुए अपने से या अन्यसे उत्पन्न हुए, शारीरिक एवं मानसिक सुख या दुःखको जानता है... अपनेमें जो प्रत्यक्ष होता है, वह अन्यमें अनुमान से जाना जाता है...

जिस किसीको अपने आत्मामें हि ऐसा विज्ञान नहि है, वह बहार रहे हुए वायुकायादिके सुख-दुःखोंको कैसे जानेगा ? जो बहारको जानता है वह हि यथावत् अध्यात्मको जानता है... क्योंकि- यह सिद्धांत परस्पर एक समान हि सिद्ध है...

अन्यके और आत्माके परिज्ञानसे अब क्या करना चाहिये ? यह बात अब कहतें हैं- इस तुलनाको उपर कहे गये लक्षणोसे ढुंढीयेगा... वह तुलना यह है- जिस प्रकार अपने आपको आप सुखके साथ सुरक्षित रखते है, बस ! इसी प्रकार अन्य जीवोंकी भी रक्षा करो... और जिस प्रकार अन्यको सुरक्षित रखो, उसी प्रकार अपनेको भी सुरक्षित रखो... इस प्रकारकी तुलना याने स्व-पर सुख-दुःखके अनुभवको समझीयेगा...

कहा भी है कि- काष्ठ या कांटे पाउंमें चुभने से जैसी वेदना होती है इसी प्रकार सभी जीवोंको वेदना-पीडा होती है... ऐसा समझो... "मैं मरुंगा" ऐसा सुननेसे पुरुषको जैसा दुःख होता है, वैसा हि **दुःख** अन्य जीवोंको भी होता है... अतः अन्य जीवोंका रक्षण करनेके लिये प्रयत्न कीजीयेगा...

इस कारणसे जिस प्रकार कही गइ तुलनासे जिन्होंने अपने और परायेकी (स्व-परकी) तुलना की है ऐसे मनुष्य हि स्थावर एवं जंगम (स्थावर एवं त्रस) जीवोंके समूहकी रक्षा के लिये प्रवृत्त होतें हैं... यह बात अब, **सूत्रकार महर्षि** आगे के सूत्रसे कहेंगे

VI सूत्रसार :

संसार में दो प्रकार का आतंक होता है– १-द्रव्य-आंतक और २-भाव-आतंक । विष आदि ज़हरीले पदार्थों से मिश्रित भोजन द्रव्य आतंक है और नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में भोगे जाने वाले दुःख भाव आतंक कहलाते हैं । इन उभय आतंकों के स्वरूप को भली-भांति जानने वाला आतंकदर्शी कहलाता है । इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आरम्भ-समारम्भ एवं पाप कार्य से डरने वाला व्यक्ति ही आतंकदर्शी होता है । क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से पापकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म के बन्धन से जीव नरक आदि गतियों में उत्पन्न होता है और वहां विविध दुःखों का संवेदन करता है । अस्तु, उन दुःखों से डरने वाला अर्थात् नरक आदि गति में महावेदना का संवेदन न करना पड़े ऐसी भावना रखने वाला आतंकदर्शी व्यक्ति सदा आरम्भ समारम्भ से बचकर रहता है, वह हिंसा से निवृत्त रहता हैं, प्रतिक्षण विवेक पूर्वक कार्य करता है, फलस्वरूप वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता, अतः उसे नरक-तिर्यञ्च के दुःखों का संवेदन नही करता पडता ।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो आतंकदर्शी है, वही व्यक्ति हिंसा को अहितकर एवं दुःखजन्य समझकर उससे निवृत्त होने में समर्थ है । वस्तुस्थिति भी यही है कि हिंसा को अहितकर समझने वाला ही उसका परित्याग कर सकता है । जो व्यक्ति हिंसा के भयानक परिणाम से अनभिज्ञ है तथा हिंसा को अहितकर एवं बुरा नहीं समझता है, उससे हिंसा से निवृत्त होने की आशा भी कैसे रखी जा सकती है । अतः आतंकदर्शी ही हिंसा से निवृत्त हो सकता है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त **'जे अज्झत्थं जाणइ..................'** आदि पद भी बड़े महत्त्वपूर्ण है । इन पदों के द्वारा सूत्रकार ने आत्म विकास की ओर गतिशील आत्मा का वर्णन किया है । वास्तव में वही व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास कर सकता है, कि- जो अपने सुख-दुःख के समान ही अन्य प्राणियों के सुख-दुःख को देखता है तथा दूसरों के सुख-दुःख के समान ही अपने सुख-दुःख को समझता है, या यों कहिए कि- अपनी आत्मा के तुल्य ही समस्त प्राणियों की आत्मा को देखता है, वही **साधु** विकास गामी है, अर्थात् मोक्ष मार्ग का **पथिक** है ।

जब दृष्टि में समानता आ जाती है, तो फिर व्यक्ति किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने का प्रयत्न नहीं करता, वह अपने भौतिक सुखो के लिए दूसरे के सुख, एवं आत्म हित पर आघात-चोट नहीं करता । दूसरे को दुःख, कष्ट पहुंचाकर भी अपने वैषयिक सुखों को साधने की भावना तब तक बनी रहती है, जब तक दृष्टि में विषमता है, अपने और पराये सुख का भेद है । अतः समानता की भावना जागृत होने के बाद, आत्मा की विचारधारा में विचार के

अनुरूप ही आचार में परिवर्तन आ जाता है । तब वह **मनुष्य** अपनी आत्मा की तुला से प्राणी मात्रके सुख-दुःख को तोलता हुआ, सदा प्राणी मात्र के संरक्षण में रहता है । यह ही उसकी आत्मा का विकास मार्ग है, मोक्ष मार्ग है ।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि- **आतंकदर्शी मुनी** अपनी आत्मतुला से प्राणी जगत के सुख-दुःख को तोलकर हिंसा से निवृत्त होता है । अर्थात् समस्त प्राणियों की रक्षा में प्रवृत्त होता है । यहां यह प्रश्न हो सकता है कि वह आतंकदर्शी साधक स्थावर जीवों की या वायुकायिक जीवों की रक्षा में किस प्रकार प्रवृत्त होता है ? इसी बात का समाधान सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में करेंगे...

I सूत्र ॥ 3 ॥ ॥ ५८ ॥

इह संतिगया दविया नावकंखंति जीविउं ॥ ५८ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह शान्तिगताः द्रविकाः नाऽवकाङ्क्षन्ति जीवितुम् ॥ ५८ ॥

III शब्दार्थ :

इह-इस जिन शासन में । **संतिगया**-शांति को प्राप्त हुए । **दविया**-राग-द्वेष से रहित संयमी मुनि वायुकाय की हिंसा से । **जीविउं**-अपने जीवन को रखना । **णावकंखंति**-नहीं चाहते ।

IV सूत्रार्थ :

इस जिनमतमें उपशम भाववाले साधु सदोष जीवन नहिं चाहतें... ॥ ५८ ॥

V टीका-अनुवाद :

इस दया-रसवाले जिनप्रवचनमें शांतिः शम भावको पाये हुए साधु राग-द्वेषसे मुक्त है... प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य लक्षण सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्रको हि शांति कहतें हैं, और यह शांति हि निराबाध-मोक्षकी प्राप्तिका कारण है... तथा द्रव याने संयम... यह सत्तरह प्रकारका संयम हि कर्मकी कठिनताका विनाश करता है... ऐसे शांत और संयमी साधु, वायुकायके उपमर्दन याने वध करके जीना नहि चाहतें... वायुकायकी तरह पृथ्वीकाय आदि जीवोंका भी वध नहिं करतें... सारांश यह है कि- इस जिनशासनमें सत्तरह प्रकारके संयमकी मर्यादामें रहे हुए, राग-द्वेषसे मुक्त और अन्य जीवोंके वधके द्वारा होनेवाले सुखको नहि चाहनेवाले ही साधु होतें हैं... अन्य मतमें ऐसे साधु नहिं होतें... क्योंकि- उन्हे ऐसी

क्रियानुष्ठानका ज्ञान हि नहिं है...

ऐसी परिस्थिति में क्या होता है वह बात, अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

VI सूत्रसार :

यह हम सदा देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी को, जीवन प्रिय है । और प्रत्येक व्यक्ति जीवन को अधिक से अधिक समय तक बनाए रखने की इच्छा रखता है और इसके लिए वह हर प्रकार का कार्य कर गुज़रता है । आज दुनिया में चलने वाले छल-कपट, झूठ, फरेब, हिंसा, चोरी आदि पाप कार्य इस क्षणिक जीवन के लिए ही तो किए जाते हैं । इसके लिए प्रमादी व्यक्ति, बड़ा पाप एवं जघन्य कार्य करते हुए नहीं हिचकिचाता है ।

एक और जीवन का यह पहलू है, तो दूसरी और जिन साधुओं के जीवन में ज्ञान का प्रकाश जगमगा रहा है, दया का, अहिंसा का शीतल झरना बह रहा है, वहां जीवन का दूसरा चित्र भी है । या यों कहना चाहिए कि एक और जहां अपने जीवन के लिए, अपने वैषयिक सुखों के लिए **दूसरे** प्राणियों की हिंसा की जाती है, वहां दूसरी और साधक **मनुष्य** वायुकायिक आदि जीवों की रक्षा के लिए तत्पर रहता है और यहां तक कि उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देता है, परन्तु अपने जीवन के लिए वायुकाय आदि किसी भी प्राणी कि हिंसा नहीं करता ।

दया, रक्षा एवं अहिंसा की यह पराकाष्ठा जैन शासन में ही है, अन्यत्र नहीं । 'इह' शब्द दया एवं अहिंसा प्रधान जैनधर्म का परिबोधक है । 'संतिगयः' शब्द १-प्रशम, २-संवेग, ३-निर्वेद, ४-अनुकम्पा और ५-आस्तिक्य को अभिव्यक्त करने वाले सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है और सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष रूप पूर्ण आनन्द या शान्ति का मूल कारण है, इसलिए इस आध्यात्मिक त्रिवेणी संगम को शान्ति कहा है । ऐसे शांत या मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक को 'संतिगया-शांतिगताः' कहा है ।

'दविया-द्रविका' का अर्थ है- 'द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ताः' अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त भव्य आत्मा को द्रविक कहते हैं । १७ प्रकार के संयम का नाम द्रव है । क्योंकि, संयम साधना से कर्म की कठोरता को द्रवीभूत कर दिया जाता है, इसलिए संयम को द्रव कहा गया है और उक्त संयम को स्वीकार करने वाले मुमुक्षु पुरुष को **द्रविक** कहते हैं ।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ हुआ- सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना से परम शांति को प्राप्त महापुरुष वायुकायिक जीवों की हिंसा करके अपने जीवन को टिकाए रखने की आकांक्षा नहीं रखते । तात्पर्य यह निकला कि उन्हें अपने जीवन की अपेक्षा दूसरे

के जीवन का अधिक ध्यान रहता है । इसलिए वे अपने सुख के लिए, या अपने जीवन को बनाए रखने की अभिलाषा से दूसरे प्राणियों के सुख, हित, समृद्धि एवं जीवन का विनाश नहीं करते । क्योंकि, अपनी आत्मा के समान ही जगत के अन्य जीवों की आत्मा है । अतः अपने स्वार्थ के लिए वे दूसरों की हिंसा की आकांक्षा नहीं रखते हुए, प्राणी जगत की दया, रक्षा एवं अनुकम्पा करते हैं । अतः अहिंसा का इतना सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ स्वरूप जैन शासन के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म में नहीं मिलता ।

अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि जैन साधु ही त्रस एवं स्थावर जीवों के संरक्षक हो सकते हैं । वे हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं । अतः अन्य मत वालों के संबन्ध में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ५९ ॥

लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति, एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकायसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति । तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थे समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति- एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ॥ ५९ ॥

II संस्कृत-छाया :

लज्जमानाः पृथक् पश्य, अनागाराः वयं इति एके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेण वायुशस्त्रं समारम्भमाणाः अन्यान् अनेकरूपान प्राणिनः विहिंसन्ति । तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । अस्य चैव जीवितव्यस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थं, जातिमरणमोचनार्थं, दुःखप्रतिघातहेतुं, सः स्वयमेव वायुशस्त्रं समारभते, अन्यैः वा वायुशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते । तं तस्य अहिताय, तं तस्य अबोधये, सः तं सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणां अन्तिके, इह एकेषां ज्ञातं भवति- एषः खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एषः खलु मारः, एषः खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्ध लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेण वायुशस्त्रं समारभमाणः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति ॥ ५९ ॥

III शब्दार्थ :

लज्जमाणा–लज्जा पाते हुए । **पुढो**–पृथक्-पृथक् वादियों को । **पास**–हे शिष्य ! तू देख । अणगारामोत्ति–हम अनगार हैं । **एगे**–कई एक सन्यासी। **पवयमाणा**–कहते हुए। **जमिणं**–जिससे वे । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **वाउकम्म-समारंभेणं**–वायु कर्म समारंभ से । **वाउसत्थं**–वायुकाय शस्त्र के द्वारा । **समारम्भमाणे**–समारम्भ करते हुए। **अण्णे**–अन्य । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के । **पाणे**–प्राणियों की । **विहिंसंति**–हिंसा करते हैं। **तत्थ**–उस आरम्भ के विषय में । **खलु**–निश्चय ही । **भगवया**–भगवान ने । **परिण्णा**–परिज्ञा। **पवेइया**–प्रतिपादन किया है । **इमस्स चेव**–इस असार जीवन के लिए । **परिवंदणमाणणपूयणाए**–प्रशंसा, मान और पूजा के लिए । **जाइ-मरण-मोयणाए**–जन्म-मरण से छूटने के लिए । **दुक्खपडिघायहेउं**–अन्य दुःखों के विनाशार्थ । **से**–वह । **सयमेव**–स्वयमेव। वाउसत्थं–वायुकाय शस्त्र का । **समारभति**–समारम्भ करता है । **वा**–अथवा । **अण्णेहिं**–दूसरों से । **वाउसत्थं**–वायु शस्त्र का । **समारम्भावेइ**–समारम्भ कराता है । **अण्णे**–अन्य । **वाउसत्थं**–वायु शस्त्र का। **समारम्भमाणे**–समारंभ करने वालों की । **समणुजाणइ**–अनुमोदन करता है । **तं**–वह-वायुकाय का आरम्भ । **से**–उसको । **अहियाए**–अहित के लिए है । **तं**–वह-आरम्भ। **से**–उसको । **अबोहीए**–अबोधि के लिए है । **से**–वह । **तं**–उस आरम्भ के फल को । **संबुज्झमाणे**–जानता हुआ । **आयाणीयं**–आचरणीय सम्यग् दर्शनादिको । **समुट्ठाय**–ग्रहणकर। **सोच्चा**–सुनकर । **भगवओ**–भगवान या । **अणगाराणं**–अनगारों के । **अंतीए**–समीप । **इह**–इस जिन शासन में। एगेसिं–किसी-किसी प्राणी को । **णायं भवति**–यह ज्ञात होता है कि । **एस खलु**–निश्चय ही यह आरंभ । **गंथे**–आठ कर्मों की ग्रन्थी रूप है । **एस खलु**–यह आरम्भ। मोहे–मोहरूप है । **एस खलु**–निश्चय ही यह आरंभ । **मारे**–मृत्यु रूप है । **एस खलु**–निश्चय ही यह आरम्भ । **णिरए**–नरक का कारण होने से नरक रूप हैं । **इच्चत्थं**–इस प्रकार अर्थ में । **गड्ढिए**–मूर्च्छित। **लोए**–लोक-प्राणि-समुदाय । **जमिणं**–जिससे । **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के । **सत्थेहिं**–शस्त्रों से । **वाउकम्मसमारम्भेणं**–वायु कर्म समारंभ से । **वाउसत्थं**–वायु शस्त्र का । **समारम्भमाणे**–समारंभ करता हुआ । **अण्णे**–अन्य भी । **अणेगरूवे**–अनेक प्रकार के । **पाणे**–प्राणियों की। **विहिंसति**–हिंसा करते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

हे शिष्य ! अपने असंयमसे लज्जा पाते हुए विविध साधुओंको देखो ! वे कहते हैं कि-हम अणगार (साधु) है... और विविध प्रकारके शस्त्रोंके द्वारा वायुकर्मसमारंभसे वायुकायशस्त्र का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकारके जीवोंकी हिंसा करतें हैं... इस विषयमें परमात्माने परिज्ञा कही है, कि- इस तुच्छ जीवितव्य (जीवन) के परिवंदन, मानन एवं पूजनके लिये जन्म, मरणसे छुटनेके लिये और दुःखोके विनाशके लिये वह शाक्य आदि मतवाले साधु स्वयं (खुद)

वायुकाय-शस्त्रका आरंभ करते हैं, अन्योंके द्वारा वायुकायशस्त्रका आरंभ करवातें हैं, तथा अपने आप वायुकायशस्त्रका समारंभ करनेवाले अन्योंकी अनुमोदना करतें हैं किंतु यह उनके अहितके लिये एवं अबोधिके लिये होता है... जो साधु इस समारंभको जानता है वह संयमको स्वीकार करके और परमात्मा या साधुओंके मुखसे यह जानता है कि- यह समारंभ ग्रंथ है, मोह है, मार है एवं नरक है... इसी समारंभमें आसक्त लोक विविध प्रकारके शस्त्रोंसे वायुकर्मसमारंभके द्वारा वायुशस्त्रका समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकारके प्राणीओंकी हिंसा करतें हैं ॥ ५९ ॥

V टीका-अनुवाद :

यह सूत्र सुगम होने से यहां संस्कृत टीका नहिं है...

VI सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में उसी बात को दोहराया गया है, जिसका वर्णन पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के प्रकरण में कर चुके हैं । अन्तर इतना ही है कि वहां पृथ्वी आदि का उल्लेख किया गया है, तो यहां वायुकाय का प्रकरण होने से वायुकाय का नामोल्लेख किया गया है।

योग, प्राणायाम पद्धति से प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते हैं, तो यह सूत्र साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । वायु से आरोग्य लाभ के साथ-साथ आत्मा में अनेक शक्तियों एवं लब्धियों या सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है । क्योंकि, मन एवं प्राण वायु का समान ही स्थान है । एक का निरोध करने पर दूसरे का सहज ही निरोध हो जाता है । इस अपेक्षा से वायु को व्यवस्थित करने से मन में एकाग्रता आती है । जिससे चिन्तन में गहराई एवं सूक्ष्मता आती है और फल स्वरूप ज्ञान का विकास होता है । और आत्मा धीरे-धीरे विकास की सीढ़ियों को पार करते-करते एक दिन शरीर, वचन और मन योग के निरोध के साथ-साथ प्राण वायु का भी सर्वथा निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है । चौदहवें गुणस्थान में पहुंच कर आत्मा त्रियोग के साथ 'आणपाण निरोहित्ता' अर्थात् श्वासोच्छ्वास का भी सर्वथा निरोध कर लेता है । श्वासोच्छ्वास का संबन्ध योग के साथ है, क्योंकि शरीर में ही सांस का आवागमन होता है। और वाणी एवं मन का भी शरीर के साथ ही संबन्ध है । त्रियोग में शरीर सब से स्थूल है, वाणी उससे सूक्ष्म है, और मन सबसे सूक्ष्म है । इसी कारण चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करते ही आत्मा सर्व प्रथम मन का निरोध करता है, उसके बाद वाणी का और फिर शरीर का निरोध करके समस्त कर्म बन्धनों एवं कर्म जन्य साधनों से मुक्त होकर शुद्ध आत्म स्वरूप को प्रकट करता है । अस्तु चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करके सिद्धत्व को पाना ही साधना का एक मात्र उद्देश्य है और इसके लिए वायुका व्यवस्थित रूप से निरोध करना, लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक होता है । इसकी साधना से साधक को अनेक लब्धिएं प्राप्त होती हैं । स्वरोदय शास्त्र का आविष्कार इसी वायु तत्त्व के आधार पर हुआ है । परन्तु, इन

सब शक्तियों का उपयोग आध्यात्मिक साधना को विकसित करने के लिए करना चाहिए, न कि ऐहिक सुखों के लिए । क्योंकि, भौतिक सुख क्षणिक हैं और उनके पीछे दुःखों का अनन्त सागर ठाठें मार रहा है । अतः साधक को भौतिक सुखों की मृगतृष्णा को त्याग कर अपनी शक्ति को आत्मा को कर्मों से सर्वथा निवारण करने में ही लगाना चाहिए । प्रस्तुत सूत्र का यही तात्पर्य है ।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि जो व्यक्ति त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा में आसक्त रहता है, उसे उसका कटु फल भोगना पड़ता है । अतः मुनि को हिंसा से सर्वथा दूर रहना चाहिए । इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ६० ॥

से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति । एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा, नेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा नेवऽण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ६० ॥

II **संस्कृत-छाया :**

सोऽहं ब्रवीमि सन्ति सम्पातिमाः प्राणिनः आहत्य सम्पतन्ति च स्पर्शं च खलु स्पृष्टाः एके सङ्घातं आपद्यन्ते, ये तत्र सङ्घातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र उपद्रान्ति, एतस्मिन् शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति, एतस्मिन् शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति । तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वायुशस्त्रं समारभेत, नैवाऽन्यैः वायुशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवाऽन्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्, यस्य एते वायुशस्त्र-समारम्भाः परिण्णाताः भवन्ति, स खु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि ॥ ६० ॥

III **शब्दार्थ :**

से-वह । **बेमि**-मैं कहता हूं । **संपाइमा**-संपातिम-उड़ने वाले । **पाणा**-प्राणी जो । **संति**-हैं वे । **आहच्च**-कदाचित् । **संपयंति**-वायुकाय के चक्र में आ पड़ते हैं । **य**-फिर वे । **फरिसं**-वायुकाय के स्पर्श को । **पुट्ठा**-स्पर्शित होते हैं । **च, खलु**-दोनों समुच्चयार्थक हैं । **एगे**-कोई एक जीव । **संघायमावज्जंति**-शरीर संकोच को प्राप्त होते हैं। **जे**-जो । **तत्थ**-वहां पर । **संघायमावज्जंति**-शरीर संकोच को प्राप्त होते हैं । **ते**-वे जीव । **तत्थ**-वहां पर ।

परियावज्जंति–मूर्च्छा को प्राप्त हो जाते हैं । **जे**–जो जीव । **तत्थ**–वहां पर। **परियावज्जंति**–मूर्च्छा को प्राप्त करते हैं । **ते**–वे जीव । **तत्थ**–वहां पर । **उद्दायंति**–मृत्यु को प्राप्त करते हैं–मर जाते हैं । **एत्थ**–इस वायुकाय में । **सत्थं**–शस्त्र का । **समारंभमाणस्स**–समारंभ करने वाले को । **इच्चेते**–यह सभी । **आरंभा**–आरंभ । **अपरिण्णाया**–भवंति–अपरिज्ञात, ज्ञात और प्रत्याख्यात नहीं होते हैं । **एत्थ**–इस वायुकाय में । **सत्थं**–शस्त्र का । **असमारंभमाणस्स**–समारम्भ न करने वाले के । **इच्चेते**–यह सभी । **आरंभा**–आरंभ । परिण्णाया **भवंति**–परिज्ञात–ज्ञात और प्रत्याख्यात होते हैं । **तं**–उस आरंभ के । **परिण्णाय**–द्विविध परिज्ञा से जानकर। **मेहावी**–बुद्धिमान । **णेव सयं**–न तो स्वयं । **वायुसत्थं**–वायु शस्त्र द्वारा । **समारंभेज्जा**–समारंभ करे और । **णेवण्णे**–न दूसरों से । **वाउसत्थं**–वायु शस्त्र द्वारा । **समारंभावेज्जा**–समारंभ करावे और । **णेवण्णे**–न दूसरों की जो । **वाउसत्थं समारंभंते**–वायु शस्त्र द्वारा समारंभ कर रहे हैं, उनकी । **समणुजाणेज्जा**–अनुमोदना-प्रशंसा करे । **जस्सेते**–जिसको यह । **वाउसत्थ समारंभा**–वायु शस्त्र समारंभ । **परिण्णाया भवंति**–परिज्ञात–ज्ञात और प्रत्याख्यात होते है । **से हु मुणी**–वही निश्चय से मुनि । **परिन्णायायकम्मे**–परिज्ञात कर्मा कहलाता है । **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

वह मैं सुधर्मस्वामी कहता हूं कि- जो संपातिम जीव हैं उनका आघातसे संपात होता है, और स्पर्शको पातें हैं, स्पर्शको पाये हुए कितनेक जीव संघातको पातें हैं... जो वहां संघातको पातें हैं, वे वहां परिताप पातें हैं और जो वहां परिताप पातें हैं वे वहां मरतें हैं... वायुकायमें शस्त्रका समारंभ करनेवालेने यह सभी आरंभोकी परिज्ञा नहिं की है... और इस वायुकायमें शस्त्रको समारंभ नहिं करनेवालेने यह सभी आरंभोकी परिज्ञा की है... उन आरंभोकी परिज्ञा करके मेधावी-साधु स्वयं वायुशस्त्रका आरंभ न करे, अन्योंके द्वारा वायुशस्त्रका आरंभ न करावें, और वायुशस्त्रका आरंभ करनेवाले अन्योंकी अनुमोदना न करे... जिन्होंको यह वायुशस्त्रका समारंभ परिज्ञात हुआ है, वह हि मुनी परिज्ञातकर्मा है... ऐसा मैं सुधर्मस्वामी हे जम्बू ! तुम्हें कहता हूं ॥ ६० ॥

V टीका-अनुवाद :

यह सूत्र भी सरल होनेसे संस्कृत टीका नहिं है, अतः इस सूत्रका भावार्थ पूर्व कहे गये इसी प्रकारके सूत्रसे स्वयं जानीयेगा...

अब छह (६) जीवनिकायका वध करनेवालोंको अपाय (दुःख) दिखानेके साथ जो वध नहिं करतें हैं उनमें संपूर्ण मुनिपना है यह बात दिखानेके लिये सूत्र क्रमांक ६१ और ६२ कह कर इस प्रथम अध्ययनका समापन करतें हैं...

VI सूत्रसार :

वायु के प्रवाह में बहुत से छोटे-मोटे जीव मूर्च्छित होकर अपने प्राण खो देते हैं । और यह भी स्पष्ट है कि- वायु के साथ अन्य अनेक त्रस जीव रहे हुए है । अतः वायु का आरम्भ करने से उनकी भी हिंसा हो जाती है । जैसे पंखा चलाने से वायु के साथ अन्य त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है । इसी प्रकार ढोल, मृदंग एवं वाजिंत्र का उपयोग करने से वायु के साथ अनेक प्राणियों की हिंसा होती है । इसलिए मुमुक्षु पुरुष को वायु के समारम्भ से सर्वथा दूर रहना चाहिए ।

जो व्यक्ति वायुकाय का समारम्भ करता है, वह उसके स्वरूप को भली-भांति नहीं जानता है । इसी कारण वह उसकी हिंसा में प्रवृत्त होता है । परन्तु जिस व्यक्ति को वायु के आरम्भ का स्वरूप परिज्ञात है, वह उसके आरम्भ में प्रवृत्त नहीं होता । इसलिए वही मुनि परिज्ञात कर्मा कहा गया है । यह प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य है । 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए ।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देशों में सामान्य रूप से आत्मा और कर्म के संबन्ध का तथा २ से ७ पर्यंत के उद्देशों में पृथक्-पृथक् रूप से ६ काय का वर्णन करके अब उपसंहार के रूप में सूत्रकार छः काय के स्वरूप का एवं उसकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ६१ ॥

एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे न रमंति, आरंभमाणा विनयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववण्णा, आरंभसत्ता पकरंति संगं ॥ ६१ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतस्मिन्नपि जाने उपादीयमानान्, ये आचारे न रमन्ते, आरम्भमाणाः विनयं वदन्ति, छन्दोपनीताः (छन्दसा उपनीताः) अध्युपपन्नाः आरम्भसक्ताः प्रकुर्वन्ति सङ्गम् ॥ ६१ ॥

III शब्दार्थ :

एत्थंपि–वायुकाय एवं अन्य पृथ्वी आदि ६ काय का जो आरंभ करते हैं, वे । **उवादीयमाणा**–कर्मों से आबद्ध होते हैं । **जाणे**–हे शिष्य तू ! इस बात को देख कि आरंभ कौन करते हैं ? । **जे आयारे ण रमंति**–जो आचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार में रमण नहीं करते, और । **आरंभमाणा**–आरंभ करते हुए । **विणयं**–हम संयम में स्थित हैं, इस प्रकार । **वयंति**–बोलते हैं । **छंदोवणीया**–वे अपने विचारानुसार स्वेच्छा से विचरण करने

वाले । **अज्झोववण्णा**-विषयों में आसक्त हो रहे हैं, तथा । **आरंभसत्ता**-आरंभ में आसक्त हैं, ऐसे प्राणी । **पकरंति संगं**-आत्मा के साथ अष्ट कर्मों का संग करते हैं अर्थात् अष्ट कर्मों से आबद्ध होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

IV सूत्रार्थ :

इस वायुकायमें भी आरंभको करनेवालोंको जानो... जो आचारमें नहिं रहतें, वे शाक्य आदि, आरंभ को हि विनय कहतें हैं... इच्छाके परवश और विषय भोग सुखकी कामनावाले आरंभ-समारंभमें आसक्त होकर कर्मबंध स्वरूप संग करतें हैं ॥ ६१ ॥

V टीका-अनुवाद :

प्रस्तुत वायुकायका और अपि शब्दसे पृथ्वीकाय आदिका भी जो आरंभ करतें हैं वे कर्मोका उपादन (ग्रहण) करतें हैं अर्थात् कर्मबंध करतें हैं...

प्रश्न- एक जीव-निकायके वधमें शेष जीवनिकायके वधसे होनेवाला कर्मबंध कैसे हो ?

उत्तर- एक जीव-निकायका आरंभ भी शेष जीवनिकायके उपमर्दन (वध) के बिना हो हि नहिं शकता... यह बात तुम सत्य समझो... सारांश यह है कि- पृथ्वीकायका आरंभ करनेवाले शेषकायोंके आरंभके कर्मबंधको करतें हैं...

प्रश्न- ऐसे कौन है ? कि- जो पृथ्वीकाय आदिके आरंभ करनेवाले शेषकायोंके आरंभके कर्मोंको ग्रहण करतें हैं ?

उत्तर- शाक्य आदि मतवाले तथा दिगम्बर एवं पार्श्वस्था आदि जो कोइ भी साधु परमार्थको नहिं जाननेके कारणसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप एवं वीर्याचार स्वरूप पांच प्रकारके आचारमें धृति (स्थिरता) को नहिं करतें, अतः वे पृथ्वीकाय आदिके आरंभ से होनेवाले कर्मोसे गृहित होतें हैं यह बात समझीयेगा...

प्रश्न- ऐसा क्यों ?

उत्तर- क्योंकि- वे शाक्य आदि साधु पृथ्वीकाय आदि जीवोके आरंभको हि विनय (संयम) कहतें हैं... क्योंकि- वे लोग पृथ्वी आदि में पृथ्वीकाय आदि जीवोंका स्वीकार नहिं करतें, अथवा तो पृथ्वीकाय आदि जीवोंको स्वीकार करने पर भी ज्ञानाचारादि पंचाचारके अभावमें उनके (पृथ्वीकायादिके) आरंभमें प्रवृत्त होनेसे नष्टशील हि है... अर्थात् वे शाक्य आदि साधु वास्तव में **साधुगुण संपन्न, साधु नहीं हैं...**

प्रश्न- ऐसा तो कौन कारण है कि- दुष्टशीलवाले भी अपने आपको "हम विनय (संयम) में रहे हुए हैं" ऐसा कहतें हैं ?

उत्तर- छंदोपनीता = पूर्वापरका बिचार कीये बिना हि अपने आप मनः कल्पित बिचारवाले अथवा तो विषयाभिलाषवाले अविनीत ऐसे यह **शाक्य** आदि साधु, आरंभ-समारंभको हि विनय (संयम) कहतें हैं... और अध्युपपन्ना याने विषयोपभोगकी अतिशय आसक्तिवाले अर्थात् विषयाधीन चित्तवाले वे शाक्य आदि साधु सावद्य = पापवाले अनुष्ठानमें आसक्त होकर आठ प्रकारके कर्मोका संग करतें हैं, कर्मोके संगसे संसारमें परिभ्रमणा होती है... इस प्रकार छ (६) जीवनिकायका वध करनेवाले संसारमें परिभ्रमणा स्वरूप अपाय = दुःखको प्राप्त करतें हैं...

अब जो साधु, आरंभसे निवृत्त होता है, उसका स्वरूप आगे के सूत्रसे कहेंगे...

VI सूत्रसार :

पीछे के उद्देशक में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा कर्म बन्ध का कारण है । इस सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि एक काय की हिंसा करने वाला छः काय के जीवों की हिंसा करता है । जैसे जो व्यक्ति पृथ्वी की हिंसा करता है, उसमें पृथ्वीकायिक जीवों के आश्रय में रहे हुए अन्य अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है । इसी प्रकार अन्य जीवों की हिंसा के संबन्ध में भी जानना चाहिए। इस प्रकार छः काय का आरम्भ समारम्भ करने में कर्मों का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख परम्परा का प्रवाह बढ़ता है ।

कुछ व्यक्ति अपने आप को साधु कहते हुए भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । इसका कारण यह है कि वे शब्दों से अपने आप को साधु कहते हैं, परन्तु आचार की दृष्टि से वे अभी साधुत्व से बहुत दूर हैं । क्योंकि वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में रमण नहीं करते हैं और जब तक आचार को सम्यक् चारित्र को क्रियात्मक रूप से स्वीकार नहीं करते, तब तक उनकी प्रवृत्ति साधुत्व में नहीं होती । इसी कारण वे आचार रहित व्यक्ति, विषय वासना में आसक्त होकर विभिन्न प्रकार से अनेक जीवों की हिंसा करते हैं । इसलिए उनका सावद्य अनुष्ठान कर्म बन्ध का कारण है और परिणाम स्वरूप वे संसार में परिभ्रमण करते हैं ।

इसलिए मुमुक्षु को षट्कायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होना चाहिए । कौन व्यक्ति जीवों की हिंसा से निवृत्त हो सकता है । इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि अब आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ६२ ॥

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेण अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं नो अण्णेसिं,

तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभेज्जा, नेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभावेज्जा, नेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा । जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि ॥ ६२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापं कर्म न अन्वेषयत्, तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रं समारभेत, नैवाऽन्यैः षड्जीवनिकायशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवाऽन्यान् षड्जीवनिकायशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्, यस्य एते षड्जीवनिकायशस्त्र-समारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, सः खु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि ॥ ६२ ॥

III शब्दार्थ :

से–वह ६ काय के आरंभ से निवृत्त हुआ मुनि । **वसुमं**–चारित्र रूप धन-ऐश्वर्य संपन्न । **सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं**–सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान युक्त । **अप्पाणेणं**–अपनी आत्मा से । **अकरणिज्जं**–अकरणीय-अनाचरणीय है, जो । **पाव कम्मं**–१८ पाप कर्म, उनके । **णो अण्णेसिं**–उपार्जन का प्रयत्न न करे । **तं**–उस पाप कर्म को । **परिण्णाय**–जानकर । **मेहावी**–बुद्धिमान साधु । **णेव सयं**–न स्वयं । **छज्जीवनिकायसत्थं**–६ काय के शस्त्र का । **समारंभेज्जा**–समारंभ करे । **णेवण्णेहिं**–न अन्य से । **छज्जीवनिकाय सत्थं**–६ काय के शस्त्र का । **समारंभावेज्जा**–समारंभ करावे; तथा । **छज्जीवनिकायसत्थं**–६ काय के शस्त्र का । **समारंभते**–समारंभ करने वाले । **अण्णे**–अन्य व्यक्ति को । **णेव समणुजाणेज्जा**–न अच्छा समझे या उसका समर्थन भी न करे । **जस्सेते**–जिसको यह । **छज्जीवनिकाय सत्थं समारंभा**–६ काय के शस्त्र का समारंभ । **परिण्णाय भवंति**–परिज्ञात हैं । **से हु मुणी**–वही मुनि । **परिण्णाय कम्मे**–परिज्ञात कर्मा है । **त्ति बेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूं ।

IV सूत्रार्थ :

वह मुनी वसुमान् है, कि- जो सर्वसमन्वागत प्रज्ञानवाला आत्मा अकरणीय पाप कर्म न करे... उस पाप कर्मको जानकर मेधावी-साधु स्वयं छजीव निकायशस्त्रका समारंभ न करे, अन्योंके द्वारा छजीव निकायशस्त्रका समारंभ न करावे, छजीवनिकाय शस्त्रका समारंभ करनेवाले अन्योंका अनुमोदन न करें... जिसने यह सभी छजीवनिकायशस्त्र समारंभ परिज्ञात कीये है, वह हि मुनी परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं कहता हुं ॥ ६२ ॥

V टीका-अनुवाद :

पृथ्वीकाय आदि उद्देशकमें कहे गये निवृत्ति गुणवाले अर्थात् छ जीवनिकायके वध से

निवृत्त होनेवाले हि वसुमान् मुनी है... द्रव्य और भाव भेदसे वसुके दो प्रकार है... उनमें द्रव्यवसु है मरकतमणी, इंद्रनीलमणी वज्ररत्न आदि, और भाव वसु है सम्यग् दर्शन, ज्ञान चारित्र आदि... यह भाव वसु जिसके पास है वह वसुमान् साधु है... यहां भाव-वसुवालेका अधिकार है... सर्व प्रकारके ज्ञान विशेषसे, सभी द्रव्य एवं पर्यायोंको जाननेवाला, सामान्य एवं विशेष लक्षणवाले सभी पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानवाला आत्मा हि सर्वसमन्वागतप्रज्ञान कहलाता है, अथवा शुभ एवं अशुभ फलके परिज्ञानसे नरक तिर्यंच मनुष्य देव एवं मोक्षसुखके स्वरूपके परिज्ञानसे अनित्य आदि गुणवाले संसारके सुखमें विरक्त (नाराज), एवं केवल मोक्ष-पदके अनुष्ठानको करनेवाली आत्मा हि सर्वसमन्वागत प्रज्ञान कही जाती है... इसलिये ऐसी आत्मा इहलोक एवं परलोकके विरुद्ध आचरणको न करे...

अधःपतनके कारण ऐसे अठारह (१८) पापकर्म-

१.	प्राणातिपात	-	जीवहिंसा
२.	मृषावाद	-	जुठ बोलना
३.	अदत्तादान	-	चोरी करना
४.	मैथुन	-	अब्रह्म (कामक्रीडा) का आसेवन
५.	परिग्रह	-	धन-धान्यादि नव प्रकारका परिग्रह
६.	क्रोध	-	गुस्सा करना
७.	मान	-	अभिमान करना
८.	माया	-	कपट करना
९.	लोभ	-	पुद्गल पदार्थोंकी इच्छा करना
१०.	राग (प्रेम)	-	राग करना - प्रीति करना
११.	द्वेष	-	द्वेष - अप्रीति व्यक्त करना
१२.	कलह	-	झगडा करना
१३.	अभ्याख्यान	-	जुठे आल चढाना
१४.	पैशुन्य	-	चाडी चुगली खाना
१५.	परपरिवाद	-	निंदा करना
१६.	रति-अरति	-	राजीपा-नाराजी व्यक्त करना
१७.	माया मृषावाद	-	कपटके साथ झुठ बोलना
१८.	मिथ्यात्वशल्य	-	पौद्गलिक पदार्थोंका गुप्त राग याने अभिलाषा...

यह अट्ठारह पापस्थानकको स्वयं न आचरें, अन्योंके द्वारा ये पाप न करावें, और इन पापोंको करनेवाले अन्यलोगोंकी अनुमोदना न करें... इस प्रकार इन अट्ठारह पापस्थानकोंकी परिज्ञा याने पुरी (संपूर्ण) जानकारीके साथ वह साधु स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र एवं उभय कायशस्त्र स्वरूप त्रिविध शस्त्रसे पृथ्वीकायादि छह (६) जीवनिकायका स्वयं आरंभ न करें, अन्यके द्वारा आरंभ न करावे, और आरंभ करनेवाले अन्यकी अनुमोदना न करे...

इस प्रकार जिस **परीक्षक साधु** ने यह छह (६) जीव निकायके शस्त्र-समारंभ स्वरूप पापकर्मका ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञासे त्याग कीया है, वह हि साधु, अन्य साधुकी तरह प्रत्याख्यात पापकर्मा है... यहां "इति" शब्द अध्ययनकी समाप्ति सूचक है, और "ब्रवीमि" पद पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी कहतें है कि- यह सब कुछ मैं मेरी मनीषा = बुद्धिसे नहिं कहता हुं, किंतु घनघातिकर्मोके क्षयसे प्रगट हुए केवलज्ञानवाले श्री वर्धमानस्वामीजी के उपदेशसे हि जानकर कहता हुं... उन चोवीशवे तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामीजीको सभी देव-देवेंद्रोने नमस्कार कीया है और वे परमात्मा चौतीस (३४) अतिशयवाले है... यहां सूत्रानुगम पूर्ण हुआ है तथा निक्षेपनिर्युक्ति और सूत्रस्पर्शिनिर्युक्ति भी पूर्ण हुइ है...

अध्ययन-१ उद्देशक-७ समाप्त...

अब नैगम आदि सात नय कहतें हैं... इन सात नयोंका स्वरूप अन्य शास्त्रमें विस्तारसे कहा गया है, संक्षेपसे सभी नयोंको दो विभागमें बांट दीया है...

१. ज्ञाननय... २. चरणनय...

१. ज्ञाननय कहता है कि- मोक्षका मुख्य साधन ज्ञान हि है, क्योंकि- ज्ञान हि हितकी प्राप्ति एवं अहितके परिहार (त्याग) में समर्थ है... और ज्ञान हि सकल दुःखोका नाश करता है... क्रिया नहि...

२. चरणनय कहता है कि- मोक्षका मुख्य साधन क्रिया = चारित्र हि है... क्योंकि- सभी पदार्थोका अन्वय एवं व्यतिरेकसे विवेक = आचरण हि आत्माको परम निर्वाण स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करवाता है... इस प्रकार- सकल पदार्थोंको स्पष्ट करनेवाला ज्ञान भी चरण (चारित्र) के अभावमें संसारके कारणभूत कर्मोका विच्छेद नहिं कर शकता... और कर्मोके छेदके बिना मोक्ष हो नहिं शकता...

इसलिये मोक्षका मुख्यकारण ज्ञान नहिं है, किंतु चारित्र हि है... और मूल एवं उत्तर गुण स्वरूप चारित्र होने पर हि घातिकर्मोका छेद होता है, और घातिकर्मोके विच्छेदसे हि अव्याबाध सुख स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसीलिये हि कहतें हैं कि- मोक्षकी प्राप्तिमें प्रधान कारण चारित्र ही है...

यहां सूत्रकार कहतें हैं कि- यह दोनों ज्ञाननय एवं चरणनय परस्पर निरपेक्ष हो तब मिथ्यात्व माना गया है... कहा भी है कि- क्रियाके अभावमें ज्ञान निरर्थक है, और ज्ञानके अभावमें क्रिया निरर्थक है जैसे कि- जलते हुए घरमें आंखवाला **पंगु-लंगडा आदमी जल मरा,** और दौडता (भागता) हुआ **अंधा भी आगमें जलकर मर गया...**

इस प्रकार सभी नय परस्पर निरपेक्ष रहने पर मिथ्यात्व स्वरूप हि है, अतः सच्चा पदार्थ ज्ञान प्राप्त नहिं होता है, और समुदित सातों नय, कीसी भी पदार्थको जैसा है वैसा प्रतिपादन करतें हैं, अतः वह सम्यक्त्व कहा गया है...

कहा भी है कि- सभी नय परस्पर निरपेक्ष रहकर अपनी बात कहतें हैं तब मिथ्यात्व एवं अन्योन्य = परस्पर सापेक्ष रहकर बात करतें हैं तब सम्यक्त्व कहा गया है.. इसीलिये यह दोनो ज्ञाननय एवं चरणनय जब परस्पर सापेक्ष रहकर बात करतें हैं तब हि आत्माका मोक्ष हो शकता है... किंतु अकेला ज्ञान या अकेली क्रियासे मोक्ष प्राप्त नहिं होता... यह बात निर्दोष है, अतः यह सापेक्षवाद (स्याद्वाद) पक्ष सत्य है...

अब दोनों नयकी प्रधानता दिखलातें हैं... कि-

चारित्र एवं ज्ञान-गुणमें रहा हुआ जो साधु सभी नयोंकी अनेक प्रकारकी अपनी अपनी बातें सुनकर सापक्ष भावसे ज्ञाननय एवं चरणनयका आश्रय लेतें हैं... यहां "गुण" शब्दसे ज्ञानगुणका ग्रहण करना है, क्योंकि- गुणी-आत्मासे ज्ञान-गुण कभी भी अलग नहिं हो शकता... इसीलीये यह ज्ञान-गुण आत्माके साथ सदैव साथ हि रहनेवाला सहभावी गुण है...

इसीलिये नयमार्गकी बहुत प्रकारकी बातें सुनकर संक्षेपसे ज्ञान एवं चारित्रमें रहना चाहिये... यह विद्वानोंका निश्चय है... क्योंकि- ज्ञानके अभावमें अकेले चारित्रसे अपने घरको जा रहे अंधे मनुष्यकी तरह अभिलषित मोक्षपदकी प्राप्ति नहिं हो शकती.,. और क्रियाके अभावमें केवल ज्ञान मात्रसे भी जलते हुए नगरके बीचमें रहे हुए आंखोवाले पंगु (लंगडे) पुरुषकी तरह इच्छित मोक्ष पदकी प्राप्ति नहि हो शकती... इसीलिये ज्ञान एवं क्रिया दोनों की हि मोक्षमार्गमें यथोचित मुख्यता रही हुइ है... **जैसे कि- जलते हुए नगरमें रहे हुए अंध एवं पंगु मनुष्य दोनो मिलकर हि नगरकी आगसे बचकर नगरसे बहार निकल गये...**

इस प्रकार आचारांग सूत्रके सार स्वरूप छ जीवनिकायके स्वरूप एवं रक्षणके उपायको कहनेवाला तथा आदि मध्य एवं अंतमें एकांत हितकारक दया-रसवाला पहला यह अध्ययन, साधु जब सूत्रसे एवं अर्थसे हृदयमें धारण करता है और श्रद्धा तथा संवेग के साथ यथावत् आत्मसात् होता है, तब उस साधुको, निशीथ आदि छेद ग्रंथो में कहे गये क्रमसे सचित्त पृथ्वीकायके बीचमें गमन करने आदिसे, पृथ्वीकाय आदि जीवोंकी श्रद्धाकी परीक्षा करके

यथाविधि महाव्रतोंके आरोपण स्वरूप उपस्थापना (वडी-दीक्षा) करनी चाहिये...

अब उपस्थापनाकी विधि कहतें हैं... शुभ तिथि करण नक्षत्र मुहूर्त तथा शुभ द्रव्य क्षेत्र एवं भाव में परमात्माकी प्रतिमा को प्रवर्धमान-स्तुतिओंसे वंदना करके शिष्यके साथ सूरीजी म. प्रभु चरणोंमें प्रणाम करके महाव्रतका आरोपण करने के लिये काउस्सग्ग करके, एक एक करके सभी महाव्रतों का प्रतिज्ञा सूत्र शिष्य को तीन तीन बार उच्चरावे... यावत् रात्रिभोजनविरमण व्रत पर्यंत सभी आलापक तीन तीन बार उच्चार करें...

अंतमें इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं... इत्यादि तीन बार उच्चार करावें, बादमें वांदणा देकर शिष्य, खडा होकर नम्र होकर कहता है कि- संदिसह किं भणामि ? हे गुरुदेव ! आप आदेश करें कि- मैं क्या कहूं ? सूरिजी कहतें हैं कि- वंदन करके निवेदन करो... ऐसा कहने पर शिष्य वंदन करके नम्रताके साथ खडा होकर कहता है कि- आपने मुझे महाव्रत दीये अब मैं हितशिक्षा चाहता हूं... तब सूरिजी म. कहतें हैं कि- जिनप्रवचनके पारगामी हो तथा भावाचार्यके गुणोंसे वृद्धिको पाओ ! इतना बोलनेके बाद तुरंत हि आचार्य शिष्यके मस्तकके उपर सुगंधि वासचूर्णकी मुट्ठी बिखेरतें याने वास-क्षेप करतें हैं बादमें शिष्य वंदन देकर नवकार मंत्रका पाठ करते करते आचार्यको प्रदक्षिणा करतें हैं... फिर से भी वंदन करके सभी क्रिया पूर्ववत् करतें हैं इस प्रकार तीन प्रदक्षिणा देकर जब शिष्य खडा रहता है तब बाकीके सभी साधु नवदीक्षित साधुके मस्तकके उपर एक साथ सुगंधि वास-क्षेप करतें हैं, अथवा साधुओंको सुलभ केशराएं बिखेरतें हैं, उसके बाद आचार्य म. शिष्यके साथ काउस्सग्ग करतें हैं, बादमें कहतें हैं कि-

आपका गण... कौटिक है...

आपकी शाखा... वयरी है... एवं आपका कुल... चान्द्र कुल... है...

आपके... अमुक नामके आचार्य म. हैं...

आपके... अमुक नामके उपाध्याय म. है...

आपके... अमुक नामके प्रवर्तिनी साध्वीजी म. है...

बादमें आयंबिल, नीवी या अपने गच्छकी परंपरासे कीये जानेवाले तपश्चया - प्रत्याख्यान करें...

इस प्रकार यह अध्ययन, आदि मध्य और अंतमें कल्याणके समूहको देनेवाला, भव्य-जीवोंके मनका समाधान करनेवाला, प्रिय-वियोगादि दुःखोंके आवर्त्त (भ्रमरी) तथा अनेक कषाय स्वरूप जलचर (मगरमच्छ) आदिके समूहसे व्याप्त होनेसे विषम इस संसार - नदी

(समुद्र) को तारनेमें समर्थ और निर्मल दया-रसवाला यह अध्ययन बार बार मुमुक्षु जीवोंको पढना चाहिये ॥ इति ॥ छः ॥

VI सूत्रसार :

जीवन में धन-ऐश्वर्य का भी महत्त्व है । ऐश्वर्य एकान्ततः त्याज्य नहीं है । किन्तु धन-ऐश्वर्य भी दो प्रकार का है–**१-द्रव्य धन और २-भाव धन** । स्वर्ण, चांदि; रत्न, सिक्का, धान्य आदि भौतिक पदार्थ द्रव्य धन हैं । इससे जीवन में आसक्ति बढ़ती है, इस कारण इसे त्याज्य माना है । क्योंकि यह राग-द्वेष जन्य है तथा राग-द्वेष को बढ़ाने वाला है ।

सम्यग् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र ही **भाव धन**-ऐश्वर्य है । और यह आत्मा की स्वाभाविक निधि है । इस ऐश्वर्य का जितना विकास होता है; उतना ही राग-द्वेष का ह्रास होता है । अस्तु उक्त ऐश्वर्य से संपन्न मुनि को धनवान कहा गया है । इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से युक्त मुनि अनाचरणीय पाप कर्म का सेवन नहीं करता । वह १८ प्रकार के सभी पापों से दूर रहता है । इन पापों के आसेवन से आत्मा का अधःपतन होता है, इस लिए इन्हें पाप कर्म कहा गया है ।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि छः काय की हिंसा से पाप कर्म का बन्ध होता है और उससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है । अतः इस बात को भली-भांति जानने एवं हिंसा का त्याग करने वाला साधु, स्वयं ६ काय की हिंसा न करे, न दूसरे को हिंसा करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसक के हिंसा कार्य का समर्थन करे ।

'अप्पाणेण' पद से आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को सिद्ध किया गया है अर्थात् यह बताया गया है कि आत्मा स्वयं कर्म का कर्त्ता है और वही आत्मा, स्वकृत कर्म के फल का भोक्ता भी है । और 'परिण्णाय कम्मे' शब्द से संयम संपन्न मुनि के लिए बताया गया है कि- **ज्ञ परिज्ञा** से हिंसा के स्वरूप को जानकर एवं **प्रत्याख्यान परिज्ञा** से उसका परित्याग करे। अर्थात् उक्त परिज्ञा शब्द से ज्ञान और क्रिया युक्त मार्ग को स्वीकार किया गया है । प्रस्तुत विषय पर हम पिछले उद्देशकों में विस्तार से बिचार कर चुके हैं । इस लिए वहां से जानिएगा। **'त्तिबेमि'** अर्थ भी पूर्ववत् है ।

॥ शस्त्रपरिज्ञायां सप्तमः उद्देशकः समाप्तः ॥

<u>प्रथमं अध्ययनं समाप्तम्</u>

卐 卐 卐

राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी-टीकायाः लेखन-कर्ता ज्योतिषाचार्य
श्री जयप्रभविजयजित् "श्रमण"

: प्रशस्ति :

सुधर्मस्वामिनः पट्टे भोः ! षट्षष्टितमे शुभे । सुधर्मस्वामी
श्रीमद् विजयराजेन्द्र - सूरीश्वरः समभवत् ॥ १ ॥ राजेन्द्रसूरि

विद्वद्वर्योऽस्ति तच्छिष्यः **श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरः** । "श्रमण"
"**श्रमण**" इत्युपनाम्नाऽस्ति तच्छिष्यश्च **जयप्रभः** ॥ २ ॥ जयप्रभः

"**दादावाडी**"ति सुस्थाने **जावरा-नगरे**ऽन्यदा । दादावाडी
स्फुरितं चेतसि श्रेयस्करं आगमचिन्तनम् ॥ 3 ॥ जावरा. म.प्र.

"**हिन्दी**"ति राष्ट्रभाषायां सटीकश्चेत् जिनागमः । राष्ट्रभाषा
लभ्यते क्रियते वा चेत् तदा स्यादुपकारकः ॥ ४ ॥ "हिन्दी"

साम्प्रतकालीनाः जीवाः दुःषमारानुभावतः ।
मन्दमेधाविनः सन्ति तथाऽपि मुक्तिकाङ्क्षिणः ॥ ५ ॥

अतस्तदुपकाराय देवगुरुप्रसादतः । मोहनखेडा-तीर्थ
मोहनखेटके तीर्थे **विजया-दशमी**-दिने ॥ ६ ॥ आसो सुद-१०

श्रि **रस-बाण-शून्य-नेत्रतमे**ऽब्दके । वि.सं. २०५६
प्रारब्धोऽयमनुवादः स्वपरहितकाम्यया ॥ ७ ॥ युग्मम्

अविघ्नेन च तत्रैव **गुरुसप्तमी**-पर्वणि । पोष सुद-७
सप्तविंशतिमासाऽन्ते परिपूर्णोऽभवत् शुभः ॥ ८ ॥ वि.सं. २०५८

आहोर-ग्राम-वास्तव्यैः श्राद्धैः श्रद्धालुभिः जनैः ।
सम्मील्य दत्तद्रव्येण ग्रन्थः प्रकाश्यते महान् ॥ ९ ॥

तेन "**आहोरी**"ति सञ्ज्ञा टीकायाः दीयते मुदा । "आहोरी"
श्रूयतां पठ्यतां भव्यैः गम्यतां **मुक्ति-धाम** च ॥ १० ॥

सम्पादितश्च ग्रन्थोऽयं "**हरिया**" गोत्रजन्मना । "हरिया"
विदुष्या साधनादेव्या प्रदत्तसहयोगतः ॥ ११ ॥ रमेशचंद्र

सात्मजेन निमेषेण ऋषभेणाऽभयेन च ।
विज्ञ-**रमेशचन्द्रेण** लीलाधरात्मजेन भोः ! ॥ १२ ॥ युग्मम्

ग्रन्थप्रकाशने चाऽत्र वक्तावरमलात्मजः । "मुथा"
आहोर-ग्राम-वास्तव्यः **"मुथा" श्री शान्तिलालजित्** ॥ १३ ॥ शांतिलालजी

मन्त्री च योऽस्ति **भूपेन्द्र-सूरि साहित्य-मण्डले** ।
आर्थिकव्यवस्था तेन कृता सद्गुरुसेविना ॥ १४ ॥ युग्मम्

ग्रन्थमुद्रणकार्यं च **"दीप-ओफ्सेट"** स्वामिना ।
नीलेश-सहयोगेन **हितेशेन** कृतं मुदा ॥ १५ ॥ पाटण

अक्षराणां विनिवेशः देवनागरी-लिपिषु । उ. गुजरात
"मून-कम्प्यूटर" स्वामि-**मनोजेन** कृतः हृदा ॥ १६ ॥ युग्मम्

आचाराङ्गाऽभिधे ग्रन्थे भावानुवादकर्मणि । आचारांगसूत्र
चेत् क्षतिः स्यात् तदा भोः ! भोः ! शुद्धीकुर्वन्तु **सज्जनाः** ॥ १७ ॥

"आहोरी" नाम-टीकायाः लेखनकार्यकुर्वता ।
अर्जितं चेत् मया पुण्यं **सुखीस्युः तेन जन्तवः** ॥ १८ ॥

ग्रन्थेऽत्र यैः सहयोगः प्रदत्तोऽस्ति सुसज्जनैः ।
तान् तान् कृतज्ञभावेन स्मराम्यहं **जयप्रभः** ॥ १९ ॥

: अन्तिम-मङ्गल :

जयतु **वर्धमानाद्याः** अर्हन्तः परमेश्वराः ।
जयन्तु **गुरु-राजेन्द्र-सूरीश्वराः** गुरुवराः ॥ २० ॥

जयन्तु गुरुदेवाः हे ! **श्रीयतीन्द्रसूरीश्वराः** ! ।
जयन्तु साधवः ! साध्व्यः ! श्रावकाः ! श्राविकाश्च भोः ! ॥ २१ ॥

यतः -
सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत् ॥ २२ ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य **शत्रुंजयावतार** श्री **मोहनखेडा** तीर्थमंडन **श्री ऋषभदेव जिनेश्वर** के सांनिध्यमें एवं **श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी,** एवं **श्री विद्याचंद्रसूरिजी** के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा **श्री वर्धमान स्वामीजी की** पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक **अभिधान**

राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य **श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक **श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.** के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, **श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन** के लिये **राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका** के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य **श्री जयप्रभविजयजी म.** "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य **लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया** के द्वारा संपादित **सटीक आचारांग सूत्र** के भावानुवाद स्वरूप **श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ** के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके **परमपदकी पात्रता** को प्राप्त करें... यही **मंगल भावना** के साथ... **"शिवमस्तु सर्वजगतः"**

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.

卐 卐 卐

आचाराङ्गसूत्रस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनसम्बन्धिनी निर्युक्तिः गाथाङ्क - तः १७१ पर्यन्त...

नि. १

वंदित्तु सव्वसिद्धे जिणे अ अनुओगदायए सव्वे ।
आयारस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥ १ ॥

नि. २

आयार अंग सुयखंध बंभ चरणे तहेव सत्थे य ।
परिण्णाए सण्णाए निक्खेवो तह दिसाणं च ॥ २ ॥

नि. ३

चरणदिसावज्जाणं निक्खेवो चउक्कओ य नायव्वो ।
चरणंमि छव्विहो खलु सत्तविहो होइ उ दिसाणं ॥ ३ ॥

नि. ४

जत्थ य जं जाणिज्जा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थवि य न जाणिज्जा चउक्कयं निक्खिवदे तत्थ ॥ ४ ॥

नि. ५

आयारे अंगंमि य पुव्वुद्दिट्ठो चउक्क निक्खेवो ।
नवरं पुण नाणत्तं भावायरंमि तं वोच्छं ॥ ५ ॥

नि. ६

तस्सेगट्ठ पवत्तण पढमंग गणी तहेव परिमाणे ।
समोयारे सारो य सत्तहि दारेहि नाणत्तं ॥ ६ ॥

नि. ७

आयारो आचालो आगालो आगरो य आसासो ।
आयरिसो अंगंति य आइण्णाऽऽजाइ आमोक्खा ॥ ७ ॥

नि. ८

सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए ।
सेसाइं अंगाइं एक्कारस्स आणुपुव्वीए ॥ ८ ॥

नि. ९

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि ।
इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स ॥ ९ ॥

नि. १०

आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥ १० ॥

नि. ११

नवभंचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं ॥ ११ ॥

नि. १२

आयारग्गाणत्थो बंभच्चेरेसु सो समोयरइ ।
सोऽवि य सत्थपरिण्णाए पिंडिअत्थो समोयरइ ॥ १२ ॥

नि. १३

सत्थपरिण्णाअत्थो छस्सुवि काएसु सो समोयरइ ।
छज्जीवणियाअत्थो पंचसुवि वएसु ओयरइ ॥ १३ ॥

नि. १४

पंच य महव्वयाइं समोयरंते च सव्वदव्वेसुं ।
सव्वेसिं पज्जवाणं अणंतभागम्मि ओयरइ ॥ १४ ॥

नि. १५

छज्जीवणिया पढमे बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं ।
सेसा महव्वया खलु तदेक्क देसेण दव्वाणं ॥ १५ ॥

नि. १६

अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ? ।
अणुओगत्थो सारो तस्सवि य परूवणा सारो ॥ १६ ॥

नि. १७

सारो परूवणाए चरण तस्सवि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणा बिंति ॥ १७ ॥

नि. १८

बंभम्मी य चउक्कं ठवणाए होइ बंभणुप्पत्ती ।
सत्तण्हं वण्णाणं नवण्हं वण्णंतराणं च ॥ १८ ॥

नि. १९

एक्का मणुस्सजाई रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे ।
तिण्णेव सिप्पवणिए सावगधम्मम्मि चत्तारि ॥ १९ ॥

नि. २०

संजोगे सोलसगं सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो ।
एए दोवि विगप्पा ठवणा बंभस्स नायव्वा ॥ २० ॥

नि. २१

पगई चलक्कगानंतरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ ।
अनंतरेसु चरमो वण्णो खलु होइ नायव्वो ॥ २१ ॥

नि. २२

अंबट्ठुग्गनिसाया य अजोगवं मागहा य सूया य ।
खत्ता य विदेहा विय चंडाला नवमगा हुंति ॥ २२ ॥

नि. २३

एगंतरिए इणमो अंबट्ठो चेव होइ उग्गो य ।
बिइयंतरिअ निसाओ परासरं तं च पुण वेगे ॥ २३ ॥

नि. २४

पडिलोमे सुद्दाई अजोगवं मागहो य सूओ अ ।
एगंतरिए खत्ता वेदेहा चेव नायव्वा ॥ २४ ॥

नि. २५

बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होइ नायव्वो ।
अनुलोमे पडिलोमे एवं एए भवे भेया ॥ २५ ॥

नि. २६

उग्गेणं खत्ताए सोवाओ वेणवो विदेहेणं ।
अंबट्ठीए सुद्दीय बुक्कसो जो निसाएणं ॥ २६ ॥

नि. २७

सूएण निसाईए कुक्करओ सोवि होइ नायव्वो ।
एसो बीओ भेओ चउव्विहो होइ नायव्वो ॥ २७ ॥

नि. २८

दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव ।
भावे उ वत्थिसंजम नायव्वो संजमो चेव ॥ २८ ॥

नि. २९

चरणंमि होइ छक्कं गइमाहारो गुणो व चरणं च ।
खित्तंमि जंमि खित्ते काले कालो जहिं जाओ ॥ २९ ॥

नि. ३०

भावे गइमाहारो गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था ।
गुणचरणे पसत्थेण बंभचेरा नव य हवंति ॥ ३० ॥

नि. ३१

सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्मत्तं ।
तह लोगसारनामं धुयं तह महापरिण्णा य ॥ ३१ ॥

नि. ३२

अट्ठमए य विमोक्खो उवहाणसुयं च नवमगं भणियं ।
इच्चेसो आयारो आयारग्गाणि सेसाणि ॥ ३२ ॥

नि. ३३

जिअसंजमो अ लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्वं ।
सुहदुक्खतितिक्खावि य सम्मत्तं लोगसारो य ॥ ३३ ॥

नि. ३४

निस्संगया य छट्ठे मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा ।
निज्जाणं अट्ठमए नवमे य जिणेण एवं ति ॥ ३४ ॥

नि. ३५

जीवो छक्कायपरूवणा य तेसिं वहे य बंधोत्ति ।
विरईए अहिगारो सत्थपरिन्नाए नायव्वो ॥ ३५ ॥

नि. ३६

दव्वं सत्थग्गिविसन्नेहंबिलखारलोणमाईयं ।
भावो य दुप्पउत्तो वाया काओ अविरईया ॥ ३६ ॥

नि. ३७

दव्वं जाणण पच्चक्खाणे दविए सरीर उवगरणे ।
भावपरिण्णा जाणण पच्चक्खाणं च भावेणं ॥ ३७ ॥

नि. ३८

दव्वे सच्चित्ताई भावेऽनुभवणजाणणा सण्णा ।
मति होइ जाणणा पुण अनुभवणा कम्मसंजुत्ता ॥ ३८ ॥

नि. ३९

आहार भय परिग्गह मेहुण सुख दुक्ख मोह वितिगिच्छा ।
कोह मान माय लोहे सोगे लोगे य धम्मोहे ॥ ३९ ॥

नि. ४०

नामं ठवणा दविए खित्ते तावे य पण्णवग भावे ।
एस दिसानिक्खेवो सत्तविहो होइ नायव्वो ॥ ४० ॥

नि. ४१

तेरसपएसियं खलु तावइएसुं भवे पएसेसुं ।
जं दव्वं ओगाढं जहण्णयं तं दसदिसागं ॥ ४१ ॥

नि. ४२

अट्ठ पएसो रुयगो तिरियं लोयस्स मज्झयारंमि ।
एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ ४२ ॥

नि. ४३

इंदग्गेई जम्मा य नेरुति वारुणी य वायव्वा ।
सोमा ईसाणावि य विमला य तमा य बोद्धव्वा ॥ ४३ ॥

नि. ४४

दुपएसाइ दुरुत्तर एगपएसा अनुत्तरा चेव ।
चउरो चउरो य दिसा चउराइ अनुत्तरा दुण्णि ॥ ४४ ॥

नि. ४५

अंतो साईआओ बाहिर पासे अपज्जवसिआओ ।
सव्वानंतपएसा सव्वा य भवंति कडजुम्मा ॥ ४५ ॥

नि. ४६

सगडुद्धीसंठिआओ महादिसाओ हवंति चत्तारि ।
मुत्तावली य चउरी दो चेव हवंति रुयगनिभा ॥ ४६ ॥

नि. ४७

जस्स जओ आइच्चो उदेइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा ।
जत्तो अ अत्थमेइ अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥ ४७ ॥

नि. ४८

दाहिणपासंमि य दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एया चत्तारि दिसा तावखित्ते उ अक्खाया ॥ ४८ ॥

नि. ४९

जे मंदरस्स पुव्वेण मणुस्सा दाहिणेण अवरेण ।
जे आवि उत्तरेणं सव्वेसिं उत्तरो मेरू ॥ ४९ ॥

नि. ५०

सव्वेसिं उत्तरेणं मेरू लवणो य होइ दाहिणओ ।
पुव्वेणं उट्ठेई अवरेणं अत्थमइ सूरो ॥ ५० ॥

नि. ५१

जत्थ य जो पण्णवओ कस्सवि साहइ दिसासु य निमित्तं ।
जत्तोमुहो य ठाई सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥ ५१ ॥

नि. ५२

दाहिणपासंमि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।
एयासिमन्तरेणं अण्णा चत्तारि विदिसाओ ॥ ५२ ॥

नि. ५३

एयासिं चेव अट्ठण्हमंतरा अट्ठ हुंति अण्णाओ ।
सोलस सरीरउस्सयबाहल्ला सव्वतिरियदिसा ॥ ५३ ॥

नि. ५४

हेट्ठा पायतलाणं अहोदिसा सीसउवरिमा उड्ढा ।
एया अट्ठारसवि पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥ ५४ ॥

नि. ५५

एवं पकप्पिआणं दसण्ह अट्ठण्ह चेव य दिसाणं ।
नामाइं वुच्छामि जहक्कमं आनुपुव्वीए ॥ ५५ ॥

नि. ५६

पुव्वा य पुव्वदक्खिण दक्खिण तह दक्खिणावरा चेव ।
अवरा य अवरउत्तर उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥ ५६ ॥

नि. ५७

सामुत्थाणी कविला खेलिज्जा खलु तहेव अहिधम्मा ।
परियाधम्मा य तहा सावित्ती पण्णवित्ती य ॥ ५७ ॥

नि. ५८

हेट्ठा नेरइयाणं अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।
एयाइं नामाइं पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥ ५८ ॥

नि. ५९

सोलस तिरियदिसाओ सगडुद्धीसंठिया मुणेयव्वा ।
दो मल्लगमूलाओ उड्ढे अ अहेवि य दिसाओ ॥ ५९ ॥

नि. ६०

मणुया तिरिया काया तहऽग्गबीया चउक्कगा चउरो ।
देवा नेरइया वा अट्ठारस होंति भावदिसा ॥ ६० ॥

नि. ६१

पन्नवगदिसट्ठारस भावदिसाओऽवि तत्तिया चेव ।
इक्किक्कं विंधेज्जा हवंति अट्ठारसऽट्ठारा ॥ ६१ ॥

नि. ६२

पण्णवगदिसाए पुण अहिगारो एत्थ होइ नायव्वो ।
जीवाण पुग्गलाण य एयासु गयागई अत्थि ॥ ६२ ॥

नि. ६३

केसिंचि नाणसण्णा अत्थि केसिंचि नत्थि जीवाणं ।
कोऽहं परंमि लोए आसी कयरा दिसाओ वा ? ॥ ६३ ॥

नि. ६४

जाणइ सयं मईए अन्नेसिं वावि अन्तिए सोच्चा ।
जाणगजणपण्णविओ जीवं तह जीवकाए वा ॥ ६४ ॥

नि. ६५

इत्थ य सह संमइअत्ति जं एअं तत्थ जाणणा होई ।
ओहीमणपज्जवनाणकेवले जाइसरणे य ॥ ६५ ॥

नि. ६६

परवइ वागरणं पुण जिणवागरणं जिणा परं नत्थि ।
अण्णेसिं सोच्चंतिय जिणेहि सव्वो परो अण्णो ॥ ६६ ॥

नि. ६७

तत्थ अकारि करिस्संति बंधचिंता कया पुणो होइ ।
सहसम्मइया जाणइ कोइ पुण हेतुजुत्तीए ॥ ६७ ॥

नि. ६८

पुढवीए निक्खेवो परूवणालक्खणं परीमाणं ।
उवभोगो सत्थं वेयणा य वहणा निवत्ती य ॥ ६८ ॥

नि. ६९

नामंठवणापुढवी दव्वपुढवी य भावपुढवी य ।
एसो खलु पढवीए निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ ६९ ॥

नि. ७०

दव्वं सरीरभविओ भावेण य होइ पुढविजीवो उ ।
जो पुढविनामगोयं कम्मं वेएइ सो जीवो ॥ ७० ॥

नि. ७१

दुविहा य पुढविजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणा ॥ ७१ ॥

नि. ७२

दुविहा बायरपुढवी समासओ सण्हपुढवि खरपुढवी ।
सण्हा य पंचवण्णा अवरा छत्तीसइविहाणा ॥ ७२ ॥

नि. ७३

पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे ।
अय तंब तउअ सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥ ७३ ॥

नि. ७४

हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले ।
अब्भपडलब्भवालुअ बायरकाए मणिविहाणा ॥ ७४ ॥

नि. ७५

गोमेज्जाए य रुयगे अंको फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदनीले य ॥ ७५ ॥

नि. ७६

चंदप्पह वेरुलिए जलकंते चेव सूरकन्ते य ।
एए खरपुढवीए नामं छत्तीसयं होइ ॥ ७६ ॥

नि. ७७

वण्णरसगंधफासे जोणिप्पमुहा भवंति संखेज्जा ।
णेगाइ सहस्साइं हुंति विहाणंमि इक्किक्के ॥ ७७ ॥

नि. ७८

वण्णंमि य इक्किके गंधंमि रसंमि तह य फासंमि ।
नाणत्ती कायव्वा विहाणए होइ इक्किक्कं ॥ ७८ ॥

नि. ७९

जे बायरे विहाणा पज्जत्ता तत्तिआ अपज्जत्ता ।
सुहमावि हुंति दुविहा पज्जत्ता चेव अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥

नि. ८०

रुक्खाणं गुच्छाणं गुम्माण लयाण वल्लिवलयाणं ।
जह दीसइ नाणत्तं पुढवीकाए तहा जाण ॥ ८० ॥

नि. ८१

ओसहि तण सेवाले पणगविहाणे य कंद मूले य ।
जह दीसइ नाणत्तं पुढवीकाए तहा जाण ॥ ८१ ॥

नि. ८२

इक्कस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं पुढविजियाणं असंखाणं ॥ ८२ ॥

नि. ८३

एएहि सरीरेहिं पच्चक्खं ते परूविया हुंति ।
सेसा आणागिज्झा चक्खुफासं न जं इंति ॥ ८३ ॥

नि. ८४

उवओगजोग अज्झवसाणे मइसुय अचक्खुदंसे य ।
अट्ठविहोदयलेसा सण्णुस्सासे कसाया य ॥ ८४ ॥

नि. ८५

अट्ठी जहा सरीरंमि अणुगयं चेयणं खरं दिट्ठं ।
एवं जीवाणुगयं पुढविसरीरं खरं होइ ॥ ८५ ॥

नि. ८६

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोया असंखिज्जा ॥ ८६ ॥

नि. ८७

पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणिज्ज सव्वधन्नाइं ।
एवं मविज्जमाणा हवंति लोया असंखिज्जा ॥ ८७ ॥

नि. ८८

लोगागासपएसे इक्किके निक्खिवे पुढविजीवं ।
एवं मविज्जमाणा हवंति लोआ असंखिज्जा ॥ ८८ ॥

नि. ८९

निउणो उ होइ कालो तत्तो निउणयरयं हवइ खित्तं ।
अंगुलसेढीमित्ते ओसप्पिणीओ असंखिज्जा ॥ ८९ ॥

नि. ९०

अणुसमयं च पवेसो निक्खमणं चेव पुढविजीवाणं ।
काए कायट्ठिइया चउरो लोया असंखिज्जा ॥ ९० ॥

नि. ९१

बायरपुढविक्काइयपज्जत्तो अन्नमन्नमोगाढो ।
सेसा ओगाहंते सुहुमा पुण सव्वलोगंमि ॥ ९१ ॥

नि. ९२

चंकमणे य ठ्ठाणे निसीयण तुयट्टणे य कयकरणे ।
उच्चारे पासवणे उवगरणाणं च निक्खिवणे ॥ ९२ ॥

नि. ९३

आलेवण पहरण भूसणे य कयविक्कए किसीए य ।
भंडाणंपि य करणे उवभोगविही मणुस्साणं ॥ ९३ ॥

नि. ९४

एएहिं कारणेहिं हिंसंति पुढविकाइए जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ॥ ९४ ॥

नि. ९५

हलकुलियाविसकुद्दालालित्तयमिगसिंगकट्ठमग्गी य ।
उच्चारे पासवणे एयं तु समासओ सत्थं ॥ ९५ ॥

नि. ९६

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थं भावे अ असंजमो सत्थं ॥ ९६ ॥

नि. ९७

पायच्छेयण भेयण जंघोरु तहेव अंगुवंगेसु ।
जह हुंति नरा दुहिया पुढविक्काए तहा जाण ॥ ९७ ॥

नि. ९८

नत्थि य सि अंगुवंगा तयाणरूवा य वेयणा तेसिं ।
केसिंचि उदीरंति केसिंचऽतिवायए पाणे ॥ ९८ ॥

नि. ९९

पवयंति य अणगारा न य तेहि गुणेहि जेहि अणगारा ।
पुढविं विहिंसमाणा न हु ते वायाहि अणगारा ॥ ९९ ॥

नि. १००

अणगारवाइणो पुढविहिंसगा निग्गुणा अगारिसमा ।
निद्दोसत्ति य मइला विरइदुगंछाइ मइलतरा ॥ १०० ॥

नि. १०१

केई सयं वहंति केई अण्णेहिं उ वहाविंति ।
केई अणुमण्णंति पुढवीकायं वहेमाणा ॥ १०१ ॥

नि. १०२

जो पुढवि समारंभइ अन्नेऽवि य सो समारभइ काए ।
अनियाए अ नियाए दिस्से य तहा अदिस्से य ॥ १०२ ॥

नि. १०३

पुढविं समारभतां हणंति तन्निस्सिए य बहुजीवे ।
सुहुमे य बायरे य पजत्ते य अपज्जत्ते य ॥ १०३ ॥

नि. १०४

एयं वियाणिऊणं पुढवीए निक्खिवंति जे दंडं ।
तिविहेण सव्वकालं मणेण वायाए काएणं ॥ १०४ ॥

नि. १०५

गुत्ता गुत्तीहि सव्वाहिं समिया समिईहिं संजया ।
जयमाणगा सुविहिया एरिसया हुंति अणगारा ॥ १०५ ॥

नि. १०६

आउस्सवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १०६ ॥

नि. १०७

दुविहा उ आउजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ॥ १०७ ॥

नि. १०८

सुद्धोदए य उस्सा हिमे य महिया य हरतणू चेव ।
बायर आउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥ १०८ ॥

नि. १०९

जे बायरपजत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोगा असंखिजा ॥ १०९ ॥

नि. ११०

जह हत्थिस्स शरीरं कललावत्थस्स अहुणोववन्नस्स ।
होइ उदगंडगस्स य एसुवमा सव्वजीवाणं ॥ ११० ॥

नि. १११

न्हाणे पिअणे तह धोअणे य भत्तकरणे य सेए अ ।
आउस्स उ परिभोगो गमणागमणे य जीवाणं ॥ १११ ॥

नि. ११२

एएहिं कारणेहिं हिंसंति आउकाईए जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ॥ ११२ ॥

नि. ११३

उस्सिंचणगालणधोवणे य उवगरणमत्तभंडे य ।
बायरआउक्काए एयं तु समासओ सत्थं ॥ ११३ ॥

नि. ११४

किंची सकाय सत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं तु दव्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ॥ ११४ ॥

नि. ११५

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं आउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ ११५ ॥

नि. ११६

तेउस्सवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ ११६ ॥

नि. ११७

दुविहा य तेउजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ॥ ११७ ॥

नि. ११८

इंगाल अगणि अच्ची जाला तह मुम्मुरे य बोद्धव्वे ।
बायरतेउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥ ११८ ॥

नि. ११९

जह देहप्परिणामो रत्तिं खज्जोयगस्स सा उवमा ।
जरियस्स य जह उम्हा तओवमा तेउजीवाणं ॥ ११९ ॥

नि. १२०

जे बायरपज्जत्ता पलिअस्स असंखभागमित्ता उ ।
सेसा तिण्णिवि रासी वीसुं लोगा असंखिज्जा ॥ १२० ॥

नि. १२१

दहणे पयावण पगासणे य चेव तह य भत्तकरणे य ।
बायरतेउक्काए उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥ १२१ ॥

नि. १२२

एएहिं कारणेहिं हिंसंति तेउकाईए जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ॥ १२२ ॥

नि. १२३

पुढवी आउक्काए उल्ला य वणस्सई तसा पाणा ।
बायरतेउक्काए एयं तु समासओ सत्थं ॥ १२३ ॥

नि. १२४

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंची ।
एयं तु दव्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ॥ १२४ ॥

नि. १२५

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तेउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ १२५ ॥

नि. १२६

पुढवीए जे दारा वणस्सइकाएऽवि हुंति ते चेव ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १२६ ॥

नि. १२७

दुविह वणस्सइजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणा ॥ १२७ ॥

नि. १२८

पत्तेया साहारण बायरजीवा समासओ दुविहा ।
बारसविहऽणेगविहा समासओ छव्विहा हुंति ॥ १२८ ॥

नि. १२९

रुक्खा गुच्छा गुम्मा लया य वल्ली य पव्वगा चेव ।
तणवलयहरियओसहिजलरुहकुहणा य बोद्धव्वा ॥ १२९ ॥

नि. १३०

अग्गबीया मूलबीया खंधबीया चेव पोरबीया य ।
बीयरुहा समुच्छिमा समासओ वणस्सई जीवा ॥ १३० ॥

नि. १३१

जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वत्तिया वट्टी ।
पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीरसंघाया ॥ १३१ ॥

नि. १३२

जह वा तिलसक्कुलिया बहुएहिं तिलेहिं मेलिया संती ।
पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीरसंघाया ॥ १३२ ॥

नि. १३३

नाणाविहसंठाणा दीसंती एगजीविया पत्ता ।
खंधावि एगजीवा तालसरलनालिएरीणं ॥ १३३ ॥

नि. १३४

पत्तेया पज्जत्ता सेढीए असंखभागमित्ता ते ।
लोगासंखप्पज्जत्तगाण साहारणाणंता ॥ १३४ ॥

नि. १३५

एएहिं सरीरेहिं पच्चक्खं ते परूविया जीवा ।
सेसा आणागिज्झा चक्खुणा जे न दीसंति ॥ १३५ ॥

नि. १३६

साहारणमाहारो साहारणं आणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं ॥ १३६ ॥

नि. १३७

एगस्स उ जं गहणं बहूणं साहारणाणि ते चेव ।
जं बहुयाणं गहणं समासओ तंपि एगस्स ॥ १३७ ॥

नि. १३८

जोणिब्भूए बीए जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा ।
जोऽवि य मूले जीवो सो च्चिय पत्ते पढमयाए ॥ १३८ ॥

नि. १३९

चक्कागं भज्जमाणस्स गंठी चुण्णघणो भवे ।
पुढविसरिसभेएणं अनंतजीवं वियाणेहि ॥ १३९ ॥

नि. १४०

गुढसिरागं पत्तं सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।
जं पुण पणट्ठसंधिय अनंतजीवं वियाणाहि ॥ १४० ॥

नि. १४१

सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किंनए य हढे ।
एए अनंतजीवा भणिया अन्ने अनेगविहा ॥ १४१ ॥

नि. १४२

एगस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व तहा असंखाणं ।
पत्तेयसरीराणं दीसंति सरीरसंघाया ॥ १४२ ॥

नि. १४३

इक्कस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।
दीसंति सरीराइं निओयजीवाणऽनंताणं ॥ १४३ ॥

नि. १४४

पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणिज्ज सव्वधन्नाइं ।
एवं मविज्जमाणा हवंति लोया अनंता उ ॥ १४४ ॥

नि. १४५

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा असंखलोया तिन्निवि साहारणाणंता ॥ १४५ ॥

नि. १४६

आहारे उवगरणे सयणासण जाण जुग्गकरणे य ।
आवरण पहरणेसु अ सत्थविहाणेसु अ बहुसुं ॥ १४६ ॥

नि. १४७

आउज्ज कट्ठकम्मे गंधंगे वत्थ मल्ल जोए य ।
झावणवियावणेसु अ तिल्लविहाणे अ उज्जोए ॥ १४७ ॥

नि. १४८

एएहिं कारणेहिं हिंसंति वणस्सई बहू जीवे ।
सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ॥ १४८ ॥

नि. १४९

कप्पणिकुहाणिअसियगदत्तियकुद्दालवासिपरसू अ ।
सत्थं वणस्सईए हत्था पाया मुहं अग्गी ॥ १४९ ॥

नि. १५०

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।
एयं दव्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ॥ १५० ॥

नि. १५१

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं वणस्सईए निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ १५१ ॥

नि. १५२

तसकाए दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥ १५२ ॥

नि. १५३

दुविहा खलु तसजीवा लद्धितसा चेव गइतसा चेव ।
लद्धीय तेउवाऊ तेणऽहिगारो इहं नत्थि ॥ १५३ ॥

नि. १५४

नेरइयतिरियमणुया सुरा य गइओ चउव्विहा चेव ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता नेरइयाई अ नायव्वा ॥ १५४ ॥

नि. १५५

तिविहा तिविहा जोणी अंडयपोययजराउआ चेव ।
बेइंदिय तेइन्दिय चउरो पंचिंदिया चेव ॥ दारं ॥ ॥ १५५ ॥

नि. १५६

दंसणनाणचरित्ते चरियाचरिए अ दानलाभे अ ।
उवभोगभोगवीरिय इंदियाविसए य लब्धी य ॥ १५६ ॥

नि. १५७

उवओगजोगअज्झवसाणे वीसुं च लद्धि ओदइया (णं उदया) ।
अट्ठविहोदय लेसा सण्णुसासे कसाए अ ॥ १५७ ॥

नि. १५८

लक्खणमेवं चेव उ पयरस्स असंखभागमित्ता उ ।
निक्खमणे य पवेसे एगाईयावि एमेव ॥ १५८ ॥

नि. १५९

निक्खमपवेसकालो समयाई इत्थ आवलीभागो ।
अंतोमुहुत्तऽविरहो उदहिसहस्साहिए दोन्नि ॥ दारं ॥ ॥ १५९ ॥

नि. १६०

मंसाईपरिभोगो सत्थं सत्थाइयं अणेगविहं ।
सारीरमाणसा वेयणा य दुविहा बहुविहा य ॥ दारं ॥ ॥ १६० ॥

नि. १६१

मंसस्स केइ अट्ठा केइ चम्मस्स केइ रोमाणं ।
पिच्छाणं पुच्छाणं दंताणऽट्ठा वहिज्जंति ॥ १६१ ॥

नि. १६२

केई वहंति अट्ठा केइ अणट्ठा पसंगदोसेणं ।
कम्मपसंगपसत्ता बंधंति वहंति मारंति ॥ १६२ ॥

नि. १६३

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं तसकायंमि निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ १६३ ॥

नि. १६४

वाउस्सऽवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थेय ॥ १६४ ॥

नि. १६५

दुविहा उ वाउजीवा सुहुमा तह बायरा उ लोगंमि ।
सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ॥ १६५ ॥

नि. १६६

उक्कलिया मंडलिया गुंजा घणवाय सुद्धवाया य ।
बायरवाउविहाणं पंचविहा वण्णिया एए ॥ १६६ ॥

नि. १६७

जह देवस्स सरीरं अंतद्धाणं व अंजणाईसुं ।
एओवम आएसो वाएऽसंतेऽवि रूवंमि ॥ १६७ ॥

नि. १६८

जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।
सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोगा असंखिज्जा ॥ १६८ ॥ (दारं)

नि. १६९

वियणधमणाभिधारण उस्सिंचणफुसणआणुपाणू अ ।
बायरवाउक्काए उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥ १६९ ॥

नि. १७०

विअणे अ तालवंटे सुप्पसियपत्त चेलकण्णे य ।
अभिधारणा य बाहिं गंधग्गी वाउसत्थाइं ॥ १७० ॥

नि. १७१

सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए ।
एवं वाउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥ १७१ ॥

इति आचाराङ्गसूत्रस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययन-सम्बन्धिनी निर्युक्तिः समाप्ता ॥ गाथा १ तः १७१...

श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

श्री राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका

द्वितीय वाचना :- उडीसा, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात्

तृतीय वाचना :- मथुरा, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात्

प्रथम वाचना :- पाटलीपुत्र, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात्

चतुर्थ वाचना :- वल्लभीपुर में तृतीय वाचना के समकालीन

पंचम वाचना :- वल्लभीपुर में भगवान् महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद

-: प्रकाशक :-

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका, श्रीभूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति

मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा

मु. पो. आहोर, वाया जवाईबाँध, जालोर (राज.)